शिवपथ का रथ

(आचार्य श्री अमितगति स्वामी विरचित परमात्म द्वात्रिंशतिका पर आधारित
प्रवचनों का संग्रह)

प्रवचनकार
अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी
आचार्य श्री १०८ वसुनंदी जी मुनिराज

प्रकाशक
(सर्वाधिकार सुरक्षित)
निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला समिति

कृति : शिवपथ का रथ

मूलग्रंथ : परमात्म द्वात्रिंशतिका (सामायिक पाठ)

ग्रंथकार : आचार्य श्री अमितगति स्वामी

मंगलाशीष : परम पूज्य सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज

प्रवचनकार : परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108 वसुनंदी जी मुनिराज

संपादन : आर्यिका श्री 105 वर्धस्वनंदनी

प्राप्ति स्थान : निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला समिति
ई-16, सेक्टर 51, (गौतमबुद्ध) नोएडा: 201301
मो. 9971548899, 9867557666

संस्करण : प्रथम सन् 2017
द्वितीय सन् 2022

प्रतियाँ : 1000

मूल्य : सदुपयोग

ISBN: 978-93-94199-27-9

मुद्रक : एन.एस. एन्टरप्राईजिज
2578, गली पीपल वाली,
धर्मपुरा, दिल्ली-110006
दूरभाष : मोबाईल : **9811725356, 9810035356**
e-mail : swaneeraj@rediffmail.com

''णाणं पयासओ''

सूर्योदय होने से केवल तमोपुंज का ही अंत नहीं होता अपितु दिव्य प्रकाश का भी उदय होता है। प्रकाश जीवंतता का प्रतीक है, दिवाकर का प्रकाश दिव्यता का द्योतक भी है, उसके माध्यम से प्राणी दिव्यता को प्राप्त करने में समर्थ होता है। प्रकाश को केवल ज्ञान का ही प्रतीक नहीं माना अपितु सुख का कारण भी स्वीकार किया गया है। इसीलिए न्याय ग्रन्थों में दीपक को स्वपर प्रकाशी निरूपित करते हुये ज्ञान की महिमा को प्रदर्शित किया है। जिस प्रकार प्रकाश के बिना अंधकार में जीया गया जीवन अनेक दु:ख, क्लेश, अशांति, वैमनस्यता, ईर्ष्या, विद्वेष, चिन्ता आदि विकारों को जन्म देने वाला होता है एवं दुष्कृत्यों का निमित्त कारण बन जाता है, उसी प्रकार चेतना में विद्यमान अंधकार मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम और दु:ख रूप प्रवृत्ति कराने वाला होता है।

बहिर्जगत् में विद्यमान तमसावृत्त निशा का निराकरण करने के लिये आदित्य समर्थ होता है। अनेक चंद्रादि ज्योतिर्ग्रह निशा में उदित होकर अपने अस्तित्व का बोध कराते हुये शीतल प्रकाश भी प्रदान करते हैं। चेतना के प्रदेशों पर विद्यमान मिथ्यात्वादि के अंधकार को दूर करने में सूर्यादि अनेक ग्रह भी समर्थ नहीं होते, आत्मप्रदेशों में विद्यमान अंधकार को सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के तीन रत्न ही तिरोहित करने में समर्थ होते हैं। इन तीन रत्नों की प्राप्ति सर्वज्ञ, वीतरागी, प्राणी मात्र के लिए हितोपदेशी जिनेन्द्र देव के माध्यम से ही संभव है किन्तु वर्तमान में दु:खमा नाम का पंचमकाल उदयावस्था को प्राप्त है अत: भरत, ऐरावत क्षेत्र में केवली भगवान् का यहाँ सद्भाव संभव नहीं है, उनके अभाव में जिनवाणी भव्य प्राणियों के मिथ्यात्वादि अंधकार को दूर करने में समर्थ है।

आ. पद्मनन्दी स्वामी जी ने पद्मनंदीपंचविंशतिका में लिखा है-

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल किलौ त्रैलोक्यचूड़ामणि-
स्तद्वाच: परमासतेऽत्र भरत क्षेत्रे जगद्द्योतिका।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमत: साक्षाज्जिन: पूजित:॥६८॥

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली प्रभु इस भरत क्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली प्रभु की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधारस्तंभ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं इसीलिए उन मुनि का पूजन तो सरस्वती का पूजन है तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली का पूजन है।

जिनवाणी का संवर्धन, संरक्षण एवं संस्थिति वर्तमान में निर्ग्रंथ साधु आदि चतुर्विध संघ से है। निर्ग्रंथ संत आदि आत्मसाधक जिनवाणी की दिव्य देशना के माध्यम से स्वपर का कल्याण करने में संलग्न हैं। जिनवाणी का प्रचार-प्रसार ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम को ही वृद्धिंगत नहीं करता है अपितु मोहनीय कर्म के क्षयोपशम को वृद्धिंगत करने में भी कारण है तथा अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र, असाता वेदनीय एवं अंतराय कर्म के बंधन से बचाने वाला है, आत्मकल्याण के मार्ग में आने वाले विघ्नों को विलुप्त करने वाला है। जिनवाणी के सम्यक् प्रचार-प्रसार से असातावेदनीय को सातावेदनीय में, अशुभ नामकर्म को शुभ नामकर्म में, नीचगोत्र को उच्चगोत्र में संक्रमित भी किया जा सकता है। जिनवाणी के अध्ययन-अध्यापन से शुभास्रव, सातिशय पुण्य का बंध, अशुभ का संवर एवं पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है।

वर्ष 2016-2017 हम परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव के स्वर्ण जयन्ती वर्ष के रूप में अनेक धार्मिक अनुष्ठानों के साथ आयोजित कर रहे हैं। इसी श्रृंखला में आचार्य प्रणीत वर्तमान में अनुपलब्ध बहुपयोगी 50 शास्त्रों का प्रकाशन करने का संकल्प निर्ग्रंथ ग्रंथमाला समिति आदि संस्थाओं ने लिया है। उसी क्रम में प्रस्तुत ग्रंथ **''शिवपथ का रथ''** आपके श्री करकमलों में स्वपर हित की मंगल भावना से समर्पित है।

हमें आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि आप प्रस्तुत ग्रंथ के माध्यम से स्व-पर कल्याण की भावना को वृद्धिगंत करते हुए जिनशासन की प्रभावना में भी निमित्त बनेंगे। सुधी पाठकों से सविनय अनुरोध है वे प्रस्तुत ग्रंथ से स्वकीय पात्रता के अनुसार आत्मा को पवित्र करने वाली सतत प्रवाही श्रुत गंगा से श्रुतामृत को ग्रहण कर उसका सदुपयोग ही करें। हंसवत् क्षीरग्राही दृष्टि बनाकर गुणों को ही ग्रहण करें, दोषों का परिमार्जन करने में तत्पर हों। प्रमादवश, अज्ञानतावश हुयी त्रुटियों को या चूक को भूल या चूक समझकर ही विसर्जित कर दें। आप जैसे सुधी पाठक इस ग्रंथ रूपी दधिका में उतरकर नवनीत को ही ग्रहण करें क्योंकि कोई भी ग्वाल या गोपी छाछ ग्रहण करने के उद्देश्य से दधि मंथन नहीं करती। अतः आप भी तदैव प्रवृत्ति करें।

मैं अंतस् की समग्र निष्ठा, भक्ति, समर्पण के साथ सर्वज्ञ देव, श्रुत सिंधु एवं निर्ग्रंथ गुरुओं के चरणों में अनंतशः प्रणाम निवेदित करता हूँ तथा परम पूज्य आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव के पद कमलों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमन करता हुआ उनके स्वस्थ संयमी जीवन की एवं आत्मध्यान के संवर्द्धन की भावना करता हूँ।

जिन श्रुताम्बुज चंचरीक

-मुनि प्रज्ञानंद

पुरोवाक्

सामायिक, साधना का मुख्य अंग है। सम् उपसर्ग का अर्थ एक रूप होना है। सामायिक में मूल शब्द 'समय' है, जिसका अर्थ है-एक साथ जानने वाला व गमन करने वाला अर्थात् आत्मा। वह समय ही सामायिक है। आय् का अर्थ है-अनर्थ अर्थात् प्राणियों की हिंसा के हेतुभूत परिणाम। इस आय् अर्थात् अनर्थ का सम्यक् प्रकार से नष्ट हो जाना ही समय है। इस प्रकार समय ही जिसका प्रयोजन हो, वह सामायिक है। मन-वचन-काय की क्रियाओं को अपने-अपने विषयों से हटाकर आत्मा के साथ तल्लीन हो जाना समय है। मन, वचन, काय की क्रियाओं को अपने-अपने विषयों से हटाकर आत्मा के साथ तल्लीन होने से द्रव्य तथा अर्थ दोनों से आत्मा के साथ एक रूप होना ही समय का अभिप्राय है। (सम) राग द्वेष रहित मध्यस्थ आत्मा में (आय्) उपयोग की प्रवृत्ति होना समय है। इसका प्रयोजन ही सामायिक है।

सर्वसावद्ययोग प्रत्याख्यानं सामायिकं समस्त पाप रूप मन, वचन, काय सम्बन्धी योगों का त्याग करना ही सामायिक है। पद्मनंदी पंचविंशतिका में आचार्य भगवन् सामायिक को परिभाषित करते हुए कहते हैं-

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना।
आर्तरौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥८॥

सब प्राणियों के विषय में समता भाव धारण करना, समय के विषय में शुभ विचार रखना तथा आर्त एवं रौद्र ध्यानों का परित्याग करना सामायिक व्रत माना जाता है।

''समदा सामायियं णाम'' समता सामायिक है। समता का अर्थ है-शत्रु-मित्र, मणि-पाषाण और सुवर्ण-मृत्तिका में रागद्वेष का अभाव। जीवन-मरण, संयोग-वियोग, प्रिय-अप्रिय, सुख-दु:ख आदि में एक समान दृष्टि रखना समता है।

सामायिक छः प्रकार की होती है-नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, क्षेत्र, काल

१. **नाम सामायिक**-किसी भी शुभ या अशुभ नाम में रति या अरति नहीं करनी चाहिए क्योंकि नाम (शब्द) मेरा स्वरूप या लक्षण नहीं है अथवा इष्ट व अनिष्ट नामों में राग-द्वेष की निवृत्ति होना नाम सामायिक है।

२. **स्थापना सामायिक**-मनोज्ञ व अमनोज्ञ स्त्री-पुरुष आदि के आकारों में अथवा उनकी काष्ठ, लेप्य, चित्र आदि प्रतिमाओं में रागद्वेष की निवृत्ति स्थापना सामायिक है।

३. द्रव्य सामायिक-सामायिक शास्त्र का ज्ञाता अनुपयुक्त आत्मा और उसका शरीर तथा इनसे विपक्ष जैसे कुछ भी शुभ या अशुभ है, रहें, मुझे इनसे क्या; क्योंकि ये परद्रव्य हैं। इनमें मुझे स्वद्रव्य की तरह अभिनिवेश कैसे हो सकता है? ऐसा चिंतन करना अथवा सचित्त व अचित्त द्रव्यों में राग-द्वेष का निरोध करना द्रव्य सामायिक है।

४. भाव सामायिक-औदयिकादि तथा जीवन-मरण आदि ये सब वैभाविक भाव मेरे नहीं हैं क्योंकि मुझसे अन्य हैं। अतएव एकमात्र स्वरूप वाला मैं इनमें रागद्वेषादि को कैसे प्राप्त कर सकता हूँ ? जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दु:ख इन सबमें मैं साम्यभाव धारण करता हूँ सम्पूर्ण प्राणियों में मेरा मैत्री भाव हो, किसी से भी मुझे वैर न हो, मैं सम्पूर्ण सावद्य से निवृत्त हूँ, इस प्रकार के भावों को धारण कर सामायिक करना भाव सामायिक है।

५. क्षेत्र सामायिक-यह राजधानी है इसलिए मुझे इसमें प्रेम हो और यह अरण्य है इसलिए मुझे इसमें द्वेष हो, ऐसा भाव उपयुक्त नहीं है क्योंकि मेरा रमणीय स्थान ''आत्मस्वरूप'' है। मेरे लिए कोई भी स्थान मनोज्ञ या अमनोज्ञ नहीं हो सकता। इस प्रकार का चिन्तवन करना अथवा ग्रामादि में राग व द्वेष का निरोध करना या अपने निवास स्थान में कषाय का निरोध करना क्षेत्र सामायिक है।

६. काल सामायिक-काल द्रव्य तो अमूर्त है इसलिए हेमन्त आदि ऋतु ये काल नहीं हो सकते। बल्कि पुद्गल की उन-उन पर्यायों में काल का उपचार किया जाता है। मैं कभी भी उनका स्पर्श नहीं कर सकता क्योंकि मैं अमूर्त व चित्स्वरूप हूँ अथवा किसी भी ऋतु में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि न करना-यह काल सामायिक है।

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज ने जयपुर चातुर्मास-2015 में आचार्य अमितगति स्वामी विरचित आत्मानुभूति कराने वाले अनुपम ग्रंथ ''परमात्म द्वात्रिंशतिका'' अपर नाम सामायिक पाठ की हृदय स्पर्शी वाचना की।

आत्मा का विषय जो लोगों के द्वारा नीरस कहा जाता है उसे भी पूज्य गुरुदेव ने अत्यंत रोचात्मक एवं रुचिकर रूप से कहा। जो भव्य जनों के हृदय कमल को प्रफुल्लित करने वाला रहा।

प्रस्तुत कृति 'शिवपथ का रथ' परमात्म द्वात्रिंशतिका ग्रंथ की पूज्य गुरुदेव द्वारा की गई वाचना का संकलन है। भव्यजनों के कल्याणार्थ इस ग्रंथ का संकलन किया गया है। मोक्षमार्ग पर गमन करने हेतु यह सामायिक पाठ रथ के समान है जिस पर आरूढ़ होकर शीघ्र ही मंजिल (सिद्धालय) तक पहुँचा जा सकता है।

प्रस्तुत कृति 'शिवपथ का रथ' के संपादन में कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञजन संशोधित कर पढ़ें, हंसवत् गुणग्राही दृष्टि से इसका अध्ययन करें। इस पुस्तक की पांडुलिपि आदि तैयार करने में संघस्थ त्यागीव्रती तथा मुद्रण-प्रकाशन में सहयोगी सभी धर्मस्नेही बंधुओं को पूज्य गुरुदेव का धर्मवृद्धि शुभाशीष। गुरुवर श्री का संयम पथ सदैव आलोकित रहे, शताधिक वर्षों तक यह वसुंधरा गुरुवर श्री के तप, ज्ञान, साधना से आलोकित रहे। पूज्य गुरुदेव के श्री चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित

नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु.....

ॐ ह्रीं नमः

आर्यिका वर्धस्व नन्दनी

तव नियम संजम रहो, पंचनमुक्कार सारहि निउत्तो।
जाण तुरंगम जुत्तो, नेइ पुरं परम णिव्वाणं॥

अर्थ:-तप, नियम, संयम रूपी रथ पंच नमस्कार रूपी सारथी तथा ज्ञानरूपी घोड़ों से युक्त हुआ स्पष्ट ही परम निर्वाणपुर में ले जाता है।

-पंचपरमेष्ठी नमस्कार स्तोत्र

अनुक्रमणिका

विषय	पृ.स.
एक परिचय	1
मंगलमय मंगलाचरण	10
वसुधैव कुटुम्बकम्	16
भेद विज्ञान	27
समता ही सामायिक	35
चरण से आचरण	44
आत्मधर्म-क्षमा	53
सर्वश्रेष्ठ निधि-सद्चारित्र	64
आत्मशुद्धि का उपाय-आलोचना	71
दोषों का परिमार्जक-प्रतिक्रमण	83
पाप के कोष-चार दोष	88
क्षमा करें माँ सरस्वती	95
बोधि से सिद्धि	102
परमात्मा का स्वरूप	111
तेरा प्रभु तुझ में बसा	117
आत्म दृष्टा बने सृष्टा	125
मेरे मन मंदिर में आन	130
भोगी ही रोगी	135
प्रत्येक दिन अंतिम दिन	142
तत्त्वज्ञानी सदा सुखी	147
दीया तत्त्व ज्ञान का बारो	152
आत्मा का स्वरूप	157
मैं भी तुम जैसा बनूँ	162
साधु बनें तो ऐसे	167
आत्मा ही उत्तम संस्तर	172
वेदना का मूल-ममकार	177
सोऽहं-सोऽहं	183
आत्म परिचय	187
मृत्यु महोत्सव	192
दु:ख का कारण-संयोग	196
शरीर और आत्मा	202
जिसकी करनी उसे ही भरनी	207
भक्ति, मुक्ति का अंकुर	217
सामायिक पाठ (पद्यानुवाद) -मुनि प्रज्ञानंद	226

एक परिचय

जिनशासन की एक अक्षुण्ण परम्परा रही है, जिस अक्षुण्ण परम्परा में एक से बढ़कर एक मनीषी, तार्किक, वाग्मीक, नैयायिक, तपस्वी आचार्यों ने समय-समय पर जिन शासन की ध्वजा को बहुत ऊँचाईयों तक पहुँचाया है। उन आचार्य महोदय ने अपनी साधना के समय में से कुछ समय निकालकर के भव्यजीवों के हितार्थ श्रुत का संवर्धन किया। श्रुत सिंधु में अवगाहन करके, जो उनके विशुद्ध भाव बने, उन भावों को शब्दों की पोशाक पहनाकर के ताड़पत्रों पर उकेर दिया। वही श्रुत ज्ञानमय शब्द आज हमारे सामने शब्दों के रूप में प्रस्तुत हैं। जब तक शब्द का अर्थ, भावार्थ, अन्वयार्थ, परमार्थ नहीं समझ में आता है तब तक शब्द उपकार करने में असमर्थ होता है। किसी व्यक्ति के पास बहुत अच्छी गाड़ी है किन्तु गाड़ी चलाना नहीं जानता तो वह गाड़ी उसके लिये परेशानी का कारण है, वह सोच रहा है इसे कहाँ छोड़ूँ इसकी रखवाली और करनी पड़ती है।

एक व्यक्ति जो साइकिल चलाना नहीं जानता है वह साइकिल को कंधे पर रखकर ढो रहा है, एक व्यक्ति जो विद्युत उपकरण का उपयोग करना नहीं जानता है वह ए.सी. रूम में रहकर भी पसीने से तरबतर हो रहा है क्योंकि वह नहीं जानता कि ये कहाँ से चालू किया जायेगा। जिस व्यक्ति के पास माचिस और दीपक दोनों हैं, घी बत्ती सब कुछ है किन्तु जलाना नहीं जानता है तो उसे अंधकार में ही रात्रि बितानी पड़ेगी। जो व्यक्ति अपना छाता खोलना नहीं जानता छाता भले ही सुंदर नया व एडवांस है तो भी वह बारिश में भीग ही जायेगा और धूप का ताप उसे सहन करना ही पड़ेगा। आवश्यकता ये है कि हम शब्दों को खोलना सीखें, हमारे पास ऐसी चाबी होना चाहिये कि हम शब्दों का ताला खोलकर देख सकें कि इस शब्द के महल में क्या रखा है। यदि किसी व्यक्ति के पास अपने महल की चाबी नहीं है, तो वह महल के बाहर चक्कर ही लगाता रहेगा वह भिखारी बनकर भीख तो माँग सकता है किन्तु महल में रखी वस्तु का सदुपयोग नहीं कर सकता।

एक बार एक व्यक्ति बाहर यात्रा के लिये जा रहा था, वह पैदल यात्रा करने जा रहा था। पहले व्यक्ति अपने साथ कलेवा (तोसा) लेकर जाते थे जहाँ पर अनुकूलता बनी वहीं खोलकर खा लिया, किन्तु वह व्यक्ति कुछ एडवांस समय का था उसने अपना भोजन तो रख लिया किन्तु उसे पोटली में नहीं बांधा, किसी स्टील के डिब्बे में रख लिया, संयोग की बात उसकी पूड़ी या पराठें का एक छोर थोड़ा सा बाहर निकल रहा था और जब ढक्कन बंद किया तो इतना टाइट हो गया कि अब वह खुल ही नहीं रहा। वह बेचारा भूखा बैठा रहा, कितना ही अच्छा भोजन बना रहे क्या फर्क पड़ता है? डिब्बे चाहे पाँच हों, दस हों, सौ हों कितने ही क्यों न हो जब वे खुले

ही नहीं तो उन डिब्बों से क्या लाभ? ऐसे ही हमारे पास आचार्यों के लिपिबद्ध एक, दो, चार, दस, सौ, हजार कितने ही शास्त्र हों और हम एक शास्त्र की, एक कारिका के, एक शब्द का अर्थ समझने में भी असमर्थ हैं तो हजारों शास्त्र ढोने का क्या अर्थ है? ऐसा लगता है वह तो बस भार स्वरूप है, उसको रखने से जीवन सार्थक नहीं होगा, वह रखना भी व्यर्थ ही हो जायेगा। महानुभाव ! तो यहाँ पर हम एक लघुकाय ग्रंथ को देखेंगे।

'लघुकाय' अर्थात् छोटी अवगाहना वाला, छोटी आकृति का, जिसमें अल्प अक्षर हैं, अल्प शब्द हैं किन्तु अल्प अक्षर और अल्प शब्द भी बहुत महत्वपूर्ण होते हैं, कैसे? ये बताओ एटम बम कितना बड़ा होता है, छोटा सा किन्तु बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र से बढ़कर काम करता है, ऐसे ही 'ध्यान' ढाई अक्षर का शब्द है किन्तु वह सैकड़ों हजारों लाखों वर्षों की साधना से बढ़कर है। वह ढाई अक्षर का ध्यान अन्तर्मुहूर्त के लिये हो जाये तो केवलज्ञान ही प्राप्त हो जाये। 'क्षमा'-दो अक्षर का शब्द है किन्तु तीन लोक पर भारी है। 'धर्म'-ढाई अक्षर का धर्म तीन लोक का सार है, ऐसे ही 'प्रेम'-ढाई अक्षर का प्रेम समस्त पण्डिताई का सार है। ढाई अक्षर के प्रेम के सामने समस्त विद्वत्ता, चतुराई, पण्डिताई, चाहे काव्य, व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त आदि का ज्ञान भी हो पर जीवन में ढाई अक्षर का 'प्रेम' नहीं हो तो घर में भी कलह रहेगी, उसे बाहर जाकर भले ही सम्मान मिल जाये किन्तु घर में आनंद नहीं आ सकेगा, तो महानुभाव! ऐसे ही यह लघुकाय ग्रंथ है किन्तु इसमें विशालकाय अर्थ भरा हुआ है। कैसे भरा है अर्थ? आपने सतसईये के दोहे के बारे में सुना होगा-क्या लिखा है उनके दोहे के बारे में कि-

सतसईये के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गंभीर॥

किन्तु हम कहते हैं-

आचार्य महोदय की कारिका, ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटी लगे, भाव भरे गंभीर॥

उन आचार्यों की एक-एक कारिका में कितना अगाध भाव भरा पड़ा है। लोग कहते हैं जैसे गागर में सागर भर दिया हो, ये उपमा तो हमारे आचार्यों के शब्दों के लिये छोटी पड़ रही है एक गागर में एक सागर भर दिया तो कोई बड़ी बात नहीं, यहाँ तो ऐसा लगता है कि राई का दाना इससे भी छोटा जिसे शायद आप रामदाना कहते हैं उससे भी छोटा जिसमें बहुत बारीक सुई से छेद करके मध्य लोक में विद्यमान समस्त समुद्रों का जल भर दिया हो ऐसी हमारे आचार्य महोदय की वाणी है। राई के दाने में छेद कर मानो क्षीर सागर का जल भर दिया हो। गागर में सागर भरा तो क्या? यदि एक-एक शब्द सुनेंगे तो लगेगा सब कुछ इसी में आ गया।

जैसा कि ''द्वात्रिंशतिका'' नाम से ही स्पष्ट है, बत्तीस काव्यों का यह ग्रंथ है, इसका वर्तमान में नाम 'सामायिक पाठ' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके हिन्दी अनुवाद भी कई आचार्यों ने किये हैं, क्योंकि जब मूल पकड़ में नहीं आता तो व्यक्ति फूल को पकड़ता है, वृक्ष का मूल पकड़ में आये या न आये, तना पकड़ में आये या न आये, पत्ते भी किस काम आयेंगे कह नहीं सकते तो कम से कम जाकर वृक्ष की छाया तो ले आओ। यदि वृक्ष के नीचे बैठकर आपने छाया का अनुभव किया है, तो कोई भी व्यक्ति आपके उस छाया के अनुभव को छीन नहीं सकता, उस वृक्ष के नीचे बैठकर आपने जो पुष्पों की गंध ली है उस गंध के साथ जो आनंद आया है, उस आनंद को तुमसे कोई छीन नहीं सकता। या किसी फलदार वृक्ष को देखकर आपके लोचन तृप्त हो गये, नासिका तृप्त हो गयी, आपका हृदय प्रफुल्लित हो गया, मन मयूर नाच उठा उस समय जो आनंद की अनुभूति हो रही है, उसे कोई छीन नहीं सकता। ऐसे ही आचार्य महोदय के ग्रंथ को सामने रखकर पढ़ेंगे, तो जो आनंद आयेगा उस आनंद को कोई छीन नहीं सकता। यदि किसी व्यक्ति का आनंद किसी वस्तु पर आधारित है तो उस वस्तु को छीन लिया जाये तो आनंद छिन जायेगा, किन्तु जिसने अपने आनंद को अपनी आत्मा से निःसृत किया है, उस व्यक्ति के आनंद को छीनने में कौन समर्थ हो सकता है? वस्तु तो छीनी जा सकती है किन्तु अंदर के आनंद को नहीं छीना जा सकता।

मैं आपको यहाँ शब्दों का कोष नहीं देना चाहता, आपके मंदिर में, घर की अल्मारियों में पचासों ग्रंथ हो सकते हैं और सैकड़ों ग्रंथ आप खरीद कर ला सकते हैं, शब्दों का कोष, विश्व कोष या अन्य प्रकार के पचासों कोष आपके पास हैं, मैं वह कोष आपको नहीं देना चाहता इस वाचना का आशय केवल आपको जीवन का होश देना है। आपका जीवन होश में आ जाये, आप पर पदार्थों की मूर्च्छा से बेहोश हो गये हैं, होश में आकर के आप अपनी खोज स्वयं कर लेंगे।

कोई राहगीर मार्ग में बेहोश पड़ा है, उसे मंजिल उठा कर दी नहीं जा सकती, यदि वह होश में आ जाये तो साइनबोर्ड को देखकर के, माईल स्टोन को देखकर के अपनी मंजिल तक स्वतः पहुँच जायेगा। बेहोशी में यदि मंजिल तक पहुँचा दिया जाये तो मंजिल का लाभ नहीं ले पायेगा। तो वाचना का प्रयोजन होश में लाना है। क्योंकि होश में आने पर हमारा जोश सफल और सार्थक हो जायेगा। हम होश में आ जायेंगे तो हमारा रोष संतोष भाव को प्राप्त हो जायेगा, जैसे अंधकार के परमाणु सूर्योदय होते ही प्रकाश में परिवर्तित हो जाते हैं ऐसे ही आपके रोष के, आक्रोश के परमाणु तोष और संतोष में परिवर्तित हो जायेंगे।

दूसरा प्रयोजन यह है–अभी तक अनादिकाल से लेकर आज तक हमने झोली फैलाकर, हाथ फैलाकर, कटोरा फैलाकर के या अपनी आँखों के पलकों को बिछाकर, जैसे भी जिस किसी के

सामने याचना ही याचना की, भगवान् के सामने तो याचना, गुरु के सामने तो याचना, माता-पिता से तो याचना, कोई भी आया उससे भी याचना, कहाँ-कहाँ याचना नहीं करता याचना करना इसका स्वभाव हो गया है इस वाचना का दूसरा प्रयोजन यही है कि 'याचकवृत्ति' छूटे। अरे ! तुम तो तीन लोक के नाथ हो, याचक हो ही नहीं, तो तुम ये समझ जाओ कि तुम वास्तव में याचक नहीं तुम तो शास्त्र वाचक हो। तुम याचना करने वाले नहीं तुम प्रार्थी हो सकते हो प्रार्थना कर सकते हो, तुम तो दाता हो देने वाले, मांगने वाले मत बनो, भिक्षु मत बनो देने वाले बनो।

जैन दर्शन कभी भिखारियों को पैदा नहीं करता है, जैन दर्शन दाताओं को पैदा करता है। जैन दर्शन का वह साधु आहार के लिये भी जाता है तो कटोरा लेकर नहीं वह तो सिंहवृत्ति से जाता है, बिजली की चमक की तरह जाता है, स्वाभिमान से जाता है जहाँ विधि पूर्वक पड़गाहन होता है वहाँ लेता है जहाँ पड़गाहन नहीं होता वह वहाँ आहार नहीं लेता। वह एक नहीं नौ भक्ति करवाता है नवधा भक्ति में से एक भी कम हो जाये तो आहार नहीं लेता। दिगम्बर साधु ही एक ऐसे साधु हैं जिसके तीन चक्कर रोटी लगाती है, चौराहे पर दाता जब पड़गाहन करेगा तब तीन चक्कर लगायेगा तब साधु उसके घर जायेगा।

तो जैन दर्शन याचना करना नहीं सिखाता, वह तो वाचना करना सिखाता है, प्रार्थना करना सिखाता है देना सिखाता है। आप कहेंगे दिगम्बर साधु तो आहार लेते हैं-मैं समझता हूँ शायद मुट्ठी भर लेकर दरियाभर लौटा देते हैं। यदि किसी व्यक्ति ने किसी कम्पनी से एक लॉटरी का टिकट खरीदा और उस कम्पनी वाले ने तुमसे एक रु. लेकर तुम्हारे यहाँ एक लाख की लॉटरी खोल दी तो मैं समझता हूँ कम्पनी ने तुमसे कुछ लिया नहीं एक रु. के बदले में एक लाख का इनाम दिया है तो वास्वत में दिया ही दिया है। दिगम्बर साधु को तुमने एक मुट्ठी भी आहार दिया, एक ग्रास भी आहार दिया है तो आप नोट कर लेना अपने जीवन की डायरी में कि ऐसा व्यक्ति नियम से भव्य है, जो दिगम्बर साधु को आहार देता है चाहे दिगम्बर बना हुआ व्यक्ति भव्य हो या नहीं हो इसकी मैं गारण्टी नहीं लेता किन्तु दिगम्बर मुनि को आहार देने वाला, शिखरजी की वंदना करने वाला, समवशरण का ध्यान लगाने वाला ये नियम से भव्य होते हैं, इन्हें कोई मोक्ष जाने से रोक नहीं सकता। आचार्य अमितगति स्वामी ने लिखा है-वह सात या आठ भव में नियम से मोक्ष जाता है। लोहाचार्य ने लिखा है-शिखर जी की वंदना करने वाला व्यक्ति, वहाँ का एकेन्द्रिय जीव भी 48 भव में मोक्ष को प्राप्त करता है। समवशरण का ध्यान वही व्यक्ति लगा सकता है, भव्यस्तूप के आगे तो भव्य जाता ही है किन्तु समवशरण का ध्यान भी वही कर सकता है, गंधकुटी का, साक्षात् अरिहंत परमेष्ठी का, बारह सभाओं का ध्यान वही कर सकता है जिसकी भवितव्यता निकट है, निकट भविष्य में जिसे मोक्ष जाना है।

तो महानुभाव ! वाचना का प्रयोजन पहला होश में आने के लिये और दूसरा याचक वृत्ति को छोड़कर हम साधक वृत्ति में या श्रावकवृत्ति में आयें इसलिये वाचना बहुत जरूरी है और दूसरी बात जो वृक्ष की छाया के पास आकर आंनद लिया, पुष्पों की गंध से तृप्ति हुयी उस आनंद को कोई छीन नहीं सकता कैसे? एक छोटा सा रूपक-

दो बालक एक की उम्र 5 वर्ष, दूसरे की 7 वर्ष, दोनों छोटे-छोटे बालक। माँ ने लड्डू बनाये, दोनों की निगाह वहीं टिकी है, बाहर खेल भी रहे हैं किन्तु ध्यान लड्डू पर। चक्कर लगा रहे हैं माँ के आस-पास। माँ ने लड्डू बनाकर चुपचाप रख दिये। माँ ने कह दिया शाम को मिलेगा। जो बड़ा बालक था वह बहुत चालाक था, छोटा थोड़ा सीधा-साधा, जब दोनों के हाथ में लड्डू आया तो बड़े भाई ने छोटे भाई के हाथ से लड्डू छीन लिया, अपना लड्डू तो उसके पास था ही, उसे तो पीछे छिपा लिया और छोटे भाई का लड्डू छीनकर के सीधे मुँह में रख लिया, अब छोटा भाई भी था तो उसी का भाई दोनों एक ही माँ-बाप की संतान थे, वह भी कम नहीं, इतना तो सहन कर लिया कि लड्डू छिन गया, अब उसने बड़े भाई का गला पकड़ लिया, निकाल मेरा लड्डू मैं तुझे खाने नहीं दूँगा, जब तेरे पास है तो फिर मेरा क्यों खाता है। गला जब पकड़ लिया तो बड़े भाई को लड्डू निकालना पड़ा। छोटे भाई ने वह लड्डू खा लिया, (भाईयों में कोई ऐसा भेद नहीं होता कि झूठा है या सच्चा है) और बड़े भाई से कहा-बहुत होशियार बनता है न, मेरे हिस्से का लड्डू खाना चाहता था देख मैंने निकलवा लिया। बड़ा भाई कहता है-तूने लड्डू ले लिया तो क्या हुआ अरे जो तेरे लड्डू की मिठास मेरे मुँह में पहुँच गयी उसे तू छीन कर बता तो मैं जानूँ।

ऐसे ही महानुभाव ! यहाँ पर आप जो शब्द पढ़ो, वे शब्द आपको याद रहें या न रहें कोई बात नहीं किन्तु यहाँ बैठकर जो लड्डू जैसी मिठास तुम्हें आ रही है उसे दुनिया की कोई शक्ति तुमसे छीन नहीं सकती। किसी सघन वृक्ष के पास जाते ही छाया तो अपने आप मिलती ही है, पुष्पों की गंध भी मिलती है और फलों से लदे वृक्ष को देखकर अंदर से जो आनंद आता है, वह अंतरंग के परिणामों को निर्मल बनाने में कारण बन जाता है। तो महानुभाव ! यहाँ पर हम वाचना के रूप में 'द्वात्रिंशतिका' नामक ग्रंथ जिसके रचयिता आचार्य अमितगति स्वामी हैं स्थापित कर रहे हैं। किसी भी ग्रंथ को प्रारंभ करने के पूर्व छः बातों का ध्यान रखना चाहिये।

मंगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं।
वागरिय छप्पि पच्छा, वक्खाणउ सत्थमाइरियो॥ धवला पु.1/पृ.7

मंगल-किसी भी कार्य को प्रारंभ करने से पहले मंगल किया जाता है। मंगल अर्थात् मंगलाचरण। आर्य पुरुषों की यह परम्परा रही है कि बिना मंगल (मंगलाचरण) किये, वे किसी भी कार्य को प्रारंभ नहीं करते, तो सबसे पहले हमें मंगल रूप मंगलाचरण करना चाहिये। इस ग्रंथ

में मंगल क्या है? स्तुतिपरक ग्रंथों में मंगल की अलग से आवश्यकता नहीं होती, उसका प्रत्येक काव्य ही अपने आप में मंगल होता है। तो यहाँ पर मंगल क्या है? पूरे बत्तीस काव्य ही मंगलाचरण हैं।

निमित्त-इस ग्रंथ की रचना किसके निमित्त की? भव्य जीवों के निमित्त और अपनी आत्मा के निमित्त, अपनी आत्मा के परिणामों को निर्मल बनाने के लिये, उन्होंने सोचा कि मैं कोई आध्यात्मिक, भक्तिपरक स्तुति परक काव्य लिखूँ। आत्मा के परिणामों की निर्मलता हेतु यह रचना की।

हेतु-इसका हेतु क्या है ? यह ग्रंथ सातिशय पुण्यबंध का कारण है, शुभ आश्रव का कारण है, संवर का कारण है परम्परा से निर्जरा व मोक्ष का कारण है, यह इसका हेतु है। आचार्य श्री के लिये उन्होंने स्वयं माना है कि-सकल कर्म क्षयार्थं, विषय कषाय वंचनार्थं, अशुभनिवृत्ति अर्थं, इसीलिये दूसरों को भी विषय कषायों से बचाने के लिये, शुभ कार्यों में लगाने के लिये, सातिशय पुण्य कमाने के लिये, अशुभ आश्रव से बचकर शुभ आश्रव के लिये यह इसका हेतु हो गया।

परिमाण-ग्रंथ का परिमाण कितना है? शब्दों की अपेक्षा से कहें तो यह बत्तीस काव्य प्रमाण है तेतीसवाँ काव्य उपसंहार है।

नाम-इस ग्रंथ का नाम क्या है? ग्रंथ का नाम -''परमात्म द्वात्रिंशतिका'' (सामायिक पाठ)

कर्ता-इस ग्रंथ के कर्ता कौन हैं? इसके मूलकर्ता सर्वज्ञ देव हैं, अपर कर्ता गणधर परमेष्ठी जिन्होंने सर्वज्ञ (तीर्थंकर) की वाणी को संग्रहीत किया, उसके उपरांत परम्परागतवर्ती आचार्य और इसके साक्षात् शब्दों का लेखन करने वाले आचार्य अमित गति स्वामी।

आप पढ़ते भी हैं-

''मूलग्रंथ कर्त्तार: श्री सर्वज्ञ देवा: तदुत्तरग्रंथ कर्त्तार: श्री गणधर देवा:, प्रतिगणधरदेवा: तेषां वचनानुसारमासाद्य श्री अमितगतिस्वामी विरचितं श्रोतार: सावधानतया श्रृणवन्तु वक्तार: सावधानतया पठन्तु''।

तो इस प्रकार यह छ: बातें हैं-मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम, कर्ता। अब हमें कर्ता के बारे में जानना है कि आ. अमितगति स्वामी कौन थे, कब हुये, कैसे हुये? संक्षेप में देख लें-

ग्रंथकर्ता आचार्य श्री अमितगति स्वामी जी का परिचय

ये माथुर संघ की परम्परा में हुये। माथुरसंघ की जो गुरावली है उसके अनुसार इनको देवसेन के शिष्य और नेमिचंद्र के गुरु माना है। किन्तु ये अमितगति 'प्रथम' होना चाहिये, उनका जो काल

था ईसवी सन् की अपेक्षा 923 से 963 तक 40 साल का था। दूसरा जो दिया गया है अमितगति 'द्वितीय' के बारे में तो वह भी माथुरसंघ की जो गुरावली है उसके अनुसार-आचार्य अमितगति प्रथम के शिष्य थे माधवसेन, माधवसेन के शिष्य हैं अमितगति द्वितीय और ये मुञ्जराजा के काल में हुये थे। राजा भोज मुञ्ज का ही भतीजा था, तो इस अपेक्षा से इनका काल आता है विक्रम की शताब्दी के अनुसार 1040 से लेकर 1080 तक। 40 साल तक इनका कार्यकाल रहा। यानि दिगम्बर अवस्था में रहे फिर समाधि हो गयी और ईसवी सन् की अपेक्षा से देखते हैं तो 983 से लेकर के 1023 तक। अभी 2015 चल रहा है। 2023 में उनकी हजारवीं पुण्यतिथि आयेगी।

तो 1032 साल हो गये उन्हें (अमितगति द्वितीय) दीक्षा लिये हुये, जिनके द्वारा रचित ग्रंथ की हम यहाँ पर वाचना करेंगे, उन्होंने और भी बहुत से ग्रंथ लिखे जैसे प्राकृत में-पंचसंग्रह जिसमें जीवकाण्ड के अनुसार विषय लिया है। मरणकण्डिका भी उन्होंने लिखी जो संस्कृत में आ. शिवकोटि जी की भगवती आराधना की छाया जैसी ही है, तत्त्वार्थ सार लिखा, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति लिखी, धर्म परीक्षा ग्रंथ भी लिखा, चन्द्रप्रज्ञप्ति लिखी, सुभाषित रत्नसंदोह इत्यादि ग्रंथों की उन्होंने रचना की और इसके साथ-साथ श्रावकों के लिये उन्होंने एक 'अमितगति श्रावकाचार' नाम का ग्रंथ भी लिखा, ऐसे 10-12 ग्रंथों की रचना उन्होंने की जो आज उपलब्ध होते हैं।

ग्रंथ का परिचय

आ. अमितगति स्वामी की एक अमर कृति, उनका नाम भी बहुत प्यारा है जो मिट गति को देने वाले नहीं, अमित गति अर्थात् जिस गति का कोई अन्त नहीं, सीमा नहीं अर्थात् संसार की ये चार गतियाँ तो मिट हैं चाहे देव गति है, चाहे मनुष्यगति, तिर्यंच गति है या नरक गति प्रत्येक गति की एक सीमा है किन्तु महाराज अमितगति उस पंचम गति के लिये उपदेश दे रहे हैं, जिस पंचमगति की कोई सीमा नहीं है। एक बार जब पंचमगति की प्राप्ति हो जाती है तो पुनः कभी उसका अंत नहीं होता, उस गति को प्राप्त करने के लिये उनकी ही कृति उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से निर्झरित, जैसे किसी ज्ञान के पर्वत से कोई झरना फूट पड़े ऐसे ही आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी के श्री मुखारविंद से ये शब्दों का एक समूह जिसमें कि भाव सर्वज्ञ देव के हैं। भगवान् की दिव्यध्वनि अनक्षरी खिरने के बाद मागध जाति के देवों ने उसे 18 महाभाषा और 700 लघु भाषा में रूपान्तरित किया। ''दश अष्टमहाभाषा समेत लघुभाषा सात शतक सुचेत''। वही दिव्यध्वनि गणधर परमेष्ठियों द्वारा संग्रहीत हुयी, उसके उपरांत परम्परागतवर्ती आचार्यों ने उसी दिव्यध्वनि को सार रूप में शब्दों की पोशाक पहनाकर हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

भाव, बिना शब्दों के हर किसी की पकड़ में नहीं आते। विवेकी पुरुषों को शब्दों की आवश्यकता नहीं होती, उनके लिये भाव ही पर्याप्त होते हैं अथवा शब्दज्ञान से रहित व्यक्ति के

लिये शब्दों की आवश्यकता नहीं है भाव पर्याप्त हैं। जंगल में कोई यथाजात दिगम्बर वीतरागी मुनिराज या विरागी मुनिराज विराजित हैं, एक शब्द भी मुख से नहीं बोला, किन्तु फिर भी उनके भाव, दिव्यध्वनि, ज्ञानामृत अंहिसा का अभय रूप नाद पूरे जंगल में ऐसे फैल गया जैसे सूर्य का प्रकाश, पुष्पों की गंध या शीतल समीर फैल जाता है। उनका वह वीतराग मय परिणाम, वैराग्यमय वर्गणायें एक इन्द्रिय जीवों को भी हर्षित, पुलकित, आनंदित करने वाली होती हैं, इतना ही नहीं शास्त्रों में लिखा है जहाँ पर वीतरागी मुद्रा का आगमन हो जाता है वहाँ कूप, सरोवर, जलाशय, सरिता आदि में भी लबालब पानी आ जाता है, जो वृक्ष फल पुष्प से रहित होते हैं वे सभी पुष्प और फलों से सहित हो जाते हैं।

प्रकृति इतनी प्रमुदित व आनंदित होती है कि अपने आनंद को शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकती इसलिये अपने सारभूत फलों को अर्पण कर देती है। जब व्यक्ति आनंदित होता है तब उसका बुढ़ापा 10 साल आगे खिसक जाता है, जो व्यक्ति हँसते, मुस्कुराते, आनंद में रहते हैं उन्हें बुढ़ापा 60 साल में तो क्या कहें 70-80 साल तक नहीं आता। राजस्थान की कहावत है-**'साठा सो पाठा'** साठ साल के होने पर तो कहता है अभी मैं पूर्ण जवान हुआ हूँ जबकि उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश के व्यक्ति कहने लगते हैं अब तो हम साठ साल के हो गये किसी काम के नहीं रहे, वे उदास होकर हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाते हैं, किन्तु राजस्थान का 60 साल का युवा कहता है कि मैं यौवन अवस्था को प्रारंभ कर रहा हूँ 70 साल की उम्र में कहता है अभी तो मेरी उम्र 27 साल की है और विहार करने में कोई मुझसे आगे चलकर बताये तो मैं जानूँ। महानुभाव! कहने का आशय यह है कि वृद्धावस्था लोगों की दृष्टि में कभी 48 के बाद या कभी 54 के बाद आती है कभी 60, 66 के बाद और कहीं-कहीं तो वृद्धावस्था का प्रारंभ 36 साल के बाद भी हो जाता है। 36 साल के व्यक्ति के गाल पिचक गये, दाँत उखड़ने लगे, बाल सफेद होकर उड़ने लगे और चलते समय चक्कर खाकर गिरने लगा तो बुढ़ापा उसका 36 में भी आ जाता है। कई बार 80 साल की उम्र वालों को भी हमने अपनी आँखों से 20-20 कि.मी. चलते देखा है।

महानुभाव ! बात हम कह रहे थे अमितगति आचार्य की जिनकी गति मिट नहीं अमिट है और गति शब्द 'गम्' धातु से जाने के अर्थ में बना है और 'गम्' धातु ज्ञान के अर्थ में भी आती है। तो जिनकी गति अमित है अर्थात् जो अमित ज्ञान के भण्डार हैं, जिनके पास ज्ञान का कोष है, जिनके पास ज्ञान का समुद्र है, जो स्वयं ज्ञानार्णव रूप हैं, ऐसे माथुर संघीय आचार्य अमितगति स्वामी महाराज तथा अमितगति के शिष्य ये द्वितीय आ. अमितगति स्वामी महाराज जो 1040 से 1080 तक, ई. सन् की अपेक्षा 983 से 1023 तक, महामुनिराज जिन्होंने कई शास्त्रों का प्रणयन

किया, यह सामायिक पाठ की रचना करके लगता है उन्होंने विराम ले लिया होगा, उन्हें लगा होगा कि अब अन्य कोई ग्रंथ रचने की आवश्यकता नहीं है, इसमें सम्पूर्ण भावनाओं को उढेल दिया। यह पूरे जैन वाङ्मय में एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें सब कुछ है क्योंकि इस ग्रंथ में भक्ति भी है इस ग्रंथ में स्तुति भी है, चरणानुयोग भी है, इसमें व्रतों का कथन व अतिचार-अनाचार का कथन है, इस ग्रंथ में कर्मसिद्धान्त भी है, इस ग्रंथ में उत्कृष्ट अध्यात्म है, उच्चकोटि का इसमें द्रव्यानुयोग भरा हुआ है।

महानुभाव ! इस ग्रंथ को केवल कंठस्थ नहीं करना है लोग कहते हैं कण्ठस्थ करो। अपितु मैं तो आपसे कहूँगा इसको हृदयस्थ करना है, आत्मस्थ करना है। मस्तक में रहेगा तो बार-बार खुजली करेगा हो सकता है वह तुम्हें चैन से बैठने नहीं दे किन्तु हृदयस्थ हो गया तो हृदय की विशुद्धि बढ़ायेगा, हृदय के अंधकार को दूर करेगा। यह ग्रंथ स्वयं शब्दरूपी ज्ञान सूर्य बनकर न सही, दीपक बनकर के अन्तर्मल को हरने में समर्थ बनेगा, यह मिथ्यात्व के तम को दूर करने में समर्थ है, अज्ञान के तम को दूर करने में समर्थ है इतना ही नहीं असंयम के तम को भी दूर करने में समर्थ है। यह ग्रंथ चेतना के प्रदेशों में ध्यान की ज्योति जलाने वाला है, ज्ञान की ज्योति जलाने वाला है। ज्ञान और ध्यान की ज्योति में समस्त कर्मों की आहूति दे दी जाती है सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं ऐसा ये ग्रंथ 'सामायिक पाठ'। इसमें समय का कथन है, 'समय' कहिये तो 'काल'। 'समय'-अर्थात् 'शास्त्र', समय-एक दर्शन। स्वसमय-परसमय होता है, समय कहिये तो आत्मा। महानुभाव ! हमें समय के रहते हुये, समय की छत्र छाया में, समय का आलम्बन लेकर स्वसमय के माध्यम से अपने समय का कल्याण करना है। अपने समय को शुद्ध समय बनाना है, स्वसमय बनाना है, अभी हमारे समय में पर समय घुस गया है, अभी हमारी आत्मा में पर पदार्थ प्रविष्ट हो चुके हैं इसीलिये हम स्व समय को शुद्ध बनाना चाहते हैं, पर समय को निकाल दें, स्व समय में आ जायें, बस और कुछ न चाहिये।

''सर्वेषा मंगलं भवतु''

मंगलमय मंगलाचरण

महानुभाव ! विगत दिन हमने चर्चा की थी ग्रंथ की प्रारंभिक भूमिका के संबंध में-और बताया था कि कोई भी आचार्य ग्रंथ रचना के पूर्व छः बातों का (मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम व कर्ता) ध्यान रखते हैं। सबसे पहले चर्चा करते हैं मंगलाचरण की। मंगलाचरण किसे कहते हैं-

''मम पापं गालयति इति मंगलं''-मम कहिये तो पाप, जो पापों को गलाये उसे मंगल कहते हैं।

मंग + ल = मंगल

मंग अर्थात् उत्कृष्ट आनंद, ल अर्थात् लाने वाला।

जो जीवन में उत्कृष्ट आनंद को लाने वाला है उसे मंगल कहते हैं। दोनों परिभाषाओं को मिला दें तो-

''जो पापों को गलाने वाला और जीवन में उत्कृष्ट आनंद को देने वाला होता है उसे मंगल कहते हैं।'' अब इसमें लगा दिया 'आचरण'-ऐसा आचरण जिसके माध्यम से पाप तो गल जायें और सातिशय पुण्य की प्राप्ति हो, आनंद की प्राप्ति हो, उत्कृष्ट आनंद अर्थात् इन्द्रियातीत अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति हो। बिना खाये पीये ही जो आनंद आ रहा है वह वास्तव में आनंद है।

पदार्थों का सेवन करने पर आनंद नहीं आता उन्हें सेवन करने में तो मजा आता है। इन्द्रियों के सेवन करने पर जो आता है वह रूढिअर्थ 'मजा' शब्द का प्रयोग किया जाता है और जो अन्तरंग आत्मा से निसृत होता है वह होता है आह्लाद, आनंद।

देखो जो अपने तन को सजाता है मजा लेने के लिये तो मानो वह अपने तन को सजा देता है। यदि तन को सजाओगे तो सजा ही सजा पाओगे, जिसका तन यहाँ सजा है उसको यहाँ और वहाँ सजा ही सजा है, किन्तु जिसका मन मंजा है उसके लिये यहाँ और वहाँ मजा ही मजा है। तो तन को सजाना नहीं मन को मांजना है। आँखों को आंजना होता है मन को मांजना होता है। आज तक तुमने बर्तनों को मांजा। कुशल गृहिणी तो वह है जो बर्तनों को केवल बाहर से मांजकर नहीं चमकाती अंदर से भी मांजकर साफ करती है। तो आप भी केवल शरीर के मांजने में ही न लगे रहो, कभी-कभी मन को चमकाने की भी बात कर लिया करो। मन का प्रक्षालन होगा-ज्ञानामृत से। कपड़े की सफाई आप सर्फ-सोडा-साबुन से करते हैं तो मन के लिये सर्फ-सोड़ा-साबुन है-इन्द्रिय दमन, उपवास, संयम, ब्रह्मचर्य आदि जिससे मन को मांजा जाता है

और जैसे जूना से बर्तन रगड़ते हैं तो मन को रगड़ने के लिये संयम, सामायिक, तपस्या, तत्त्वचिंतन से मन मंजता है। कपड़े में मैल ज्यादा हो जाये तो गर्म पानी में डुबोते हैं, सर्फ सोड़ा भी डालते हैं और कुशल धोबी लकड़ी की मुगरिया से पीटता भी है तब मैल निकलता है, तो हमारे मन में जब ज्यादा ही चिकनाहट आ गयी हो मन काला ही पड़ गया हो कृष्ण लेश्या वाला हो गया हो तो गर्म-गर्म पानी में डालना जरूरी है। उसके उपरांत क्षारीय पदार्थ व्रत संयम भी जरूरी है। उसके उपरांत बीच-बीच में अपने मन को नियंत्रण करने के लिये उपवास अर्थात् जिस दिन ज्यादा कुछ विशेष खाने की इच्छा हुयी तो उपवास रूपी मुगरिया उस मन पर मार दी। जब मन वश में हो जायेगा तब जो मिले उसी में मानने लगेगा और जब तक वश में नहीं हुआ तब तक फिर मन को संभालना पड़ेगा।

मन तो बेलगाम घोड़ा है, वह तुम्हें कहीं पटक देगा इसलिये लगाम ले लो। आत्मविश्वास रूपी घोड़े पर सवार होकर जो कोई भी साधक मोक्षमार्ग में गमन करता है यदि वह अपने हाथ में ज्ञान की, तत्त्वज्ञान की लगाम को लेकर और संयम का चाबुक लेकर तैयार रहे तो वह आत्मविश्वास का अश्व मोक्ष रूपी महल में पहुँचा कर ही रहता है, वह उसे कहीं गिराता नहीं है। वह अश्व अपने सवार को न किसी की नजरों में और न किसी के कदमों में कभी भी गिराता नहीं है। तो महानुभाव ! जो मन शत्रु जैसा बना हुआ है जो बगावत करता है उसे प्यार से समझाकर मित्र बनाना है। जिसने अपने मन को मित्र नहीं बना पाया वह संसार में कभी किसी को मित्र बना नहीं सकता, जिसको वह मित्र बनाकर चल रहा है उन सबसे स्वार्थसिद्ध कर रहा है कोई उसका मित्र है ही नहीं और जो अपने मन और पेट को, मित्र न बना सका सही व्यवहार नहीं दे सका, अपने पेट के साथ सही न्याय नहीं कर सका ऐसा व्यक्ति दुनिया में किसी के साथ न्याय नहीं कर सकता।

तो महानुभाव ! मन को संभालना है, साधना है मारना नहीं है, घोड़े को चाबुक नहीं मारना है, पहले उसे सिखाना है, बाद में घोड़े इतने पक्के हो जाते हैं उसकी लगाम भी छोड़ दो, चाबुक भी नहीं, वह घोड़ा स्वयं चला आता है अपने मालिक के पास और गन्तव्य तक ले जाता है। वह सवार घोड़े पर सो भी लेता है घोड़ा कहाँ से बचकर चला जायेगा आपको पता भी नहीं चलेगा। पहली बात देखी 'मंगल'-किसे कहते हैं? जो पापों को गलाये व उत्कृष्ट सुख को दिलाये। किसी शिविर में पढ़ा रहे थे-हमने पूछ लिया कि मंगल किसे कहते हैं-तो एक बालक उठा-बोला सोमवार के बाद और बुध से पहले जो आता है, उसे मंगल कहते हैं। हमने कहा बेटा उसे मंगलवार कहते हैं मंगल नहीं। तो मंगल किसे कहते हैं इसके आचार्य यतिवृषभ स्वामी जी ने पर्यायवाची नाम भी दिये हैं-

पुण्णं पूद-पवित्ता, पसत्थ-सिव भद्द-खेम-कल्लाणा।
सुह-सोक्खादी सव्वे, णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया॥८॥ ति.प.

ये मंगल की पर्यायें हैं। मंगल, पुण्य, पूत, पवित्र (पूतात्मा, पवित्रात्मा) जहाँ पर शुद्धता का निर्मल जल पूर्ण तरह से आत्म प्रदेशों में विद्यमान है अथवा प्रशस्त, जो प्रकृष्ट रूप से शास्त्रों की आज्ञा को मानने वाली आत्मा है और शास्ता के मार्ग को प्रकृष्ट रूप से स्वीकार करना और जो उस मार्ग पर चलता है वह प्रशस्त है तो मंगल का पर्यायवाची नाम प्रशस्त भी है अथवा शिव अर्थात् शुद्ध, सिद्ध। भद्र शब्द भी मंगल का पर्यायवाची है भद्र कहलाता है जिसने कषायों का शमन कर दिया है। क्षेम शब्द भी मंगल का पर्यायवाची है क्षमा आदि भावों से युक्त आत्मा। मंगल ही क्षेम है, क्षेम ही मंगल है। क्षेमंकरा-क्षेम माने क्रोध मान माया लोभ इन चार कषायों का उपशमन करने से जो क्षांति को प्राप्त हुये इन क्षांतिरूपी परिणामों से ही क्षेम होता है। कल्याण-यह भी पर्यायवाची नाम है कल्याण शब्द मंगल का ही प्रतीक है और पंचपरमेष्ठी, नवदेवता या देव, शास्त्र गुरु सभी मंगल करने वाले हैं-'मंगल भवन अमंगलहारी' मंगल के सदन हैं, भवन हैं और अमंगल को हरने वाले हैं। संसार में कोई भी अमंगल नहीं चाहता, सब मंगल ही मंगल चाहते हैं क्योंकि जहाँ पर मंगल है वहीं सब कुछ है और जहाँ मंगल नहीं वहाँ तीन लोक की सम्पत्ति हो वह भी कुछ नहीं। मंगल जहाँ होता है वहाँ पापों का क्षय व सातिशय पुण्य की प्राप्ति होती है।

गालयदि विणासयदे, घादेदि दहेदि हंति सोधयदे।
विद्धंसेदि मलाइं, जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं॥९॥ ति.प.

आचार्य यतिवृषभ स्वामी कहते हैं-जम्हा-जिससे कि, गालयदि-गलता है अथवा विणासदि-विनाश होता है, घादयदि-घात होता है अथवा दहेदि-नष्ट होता है, जल जाता है अथवा सोधेदि-शोधन हो जाता है। किसका? मलाइं-मल का, कर्ममल, पापमल का विध्वंसेदि-विध्वंस होता है तम्हा-इसलिये मंगलं भणिदं-उसे मंगल कहा है।

मंगल के बारे में आचार्यों ने कहा है-

अहवामंगं सोक्खं, लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा।
एदेण कज्ज-सिद्धिं, मंगइ गच्छेदि गंथ कत्तारो॥१५॥ ति.प.

ग्रंथ के कर्ता इसीलिये मंगल की कामना से कहते हैं, मंगल सुख को लाने वाला होता है गेण्हदि मंगलं-इसलिये मंगल को ग्रहण किया जाता है, ''एदेणं कज्ज सिद्धिं''-मंगल के करने से कार्यों की सिद्धि होती है इसलिये आचार्य महोदय पहले मंगल करते हैं। यदि मंगल नहीं करें तो कार्य की सिद्धि नहीं होती। मंगइ गच्छेदि कत्तारो-ग्रंथ के कर्ता इसलिये मंगल करते हैं। अथवा

मंगल के लिये चार कारण बताये-

नास्तिकत्व परिहारः शिष्टाचार-प्रपालनम्।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नः, शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः।द्र.सं./टी./1/6/5

मंगलाचरण चार कारणों से किया जाता है-

१. नास्तिकता का परिहार-जो मिथ्यादृष्टि है जिसके जीवन में किसी आराध्य के प्रति आस्था ही नहीं है वह मंगलाचरण करता ही नहीं है। मंगलाचरण तो आस्थावान् करता है।

२. शिष्टाचार का परिपालन-जब सभा में दो शब्द भी बोले जाते हैं तो सबसे पहले मंगलाचरण करके प्रारंभ किये जाते हैं। अथवा जयकार या नमोस्तु बोलकर, बोलना प्रारंभ करता है। निबद्ध मंगल भी होता है और अनिबद्ध मंगल भी होता है। वह बोलकर भी किया जा सकता है, लिखकर के भी किया जा सकता है, भावनाओं के माध्यम से भी किया जाता है और नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इत्यादि रूप से भी किया जाता है। महानुभाव ! यहाँ पर यह पूरा ग्रंथ ही मंगलमय है स्तोत्रादि पूरे ही मंगलमय होते हैं। फिर भी आचार्य महोदय मंगल की कामना करते हैं।

कार्य की निर्विघ्न समाप्ति-मंगल करने से कार्य निर्विघ्न समाप्त होता है। तीर्थ यात्रा के लिये भी जाते हैं तो सबसे पहले मंगल करते हैं और कुछ न कर पायेंगे तो भगवान् की जय बोलकर जायेंगे या नौ बार णमोकार मंत्र पढ़कर के गाड़ी या बस में बैठते हैं। वह णमोकार मंत्र पढ़ना आपका इंश्योरेंस हो गया। चाहे भले ही बीमा कम्पनी आपको हर्जाना दे या न दे किन्तु णमोकार मंत्र पढ़कर बैठे हैं तो संभव ये है कि रास्ते में कोई ऐसी घटना न होगी जिससे आपका शरीर छूटे या धर्मध्यान छूटे। तो ये णमोकार मंत्र पढ़ना भी मंगल हो गया। निर्विघ्न कार्य सम्पन्न हो इसलिये यह मंगल किया जाता है।

पुण्य की प्राप्ति-मंगलाचरण करने से पुण्य की प्राप्ति होती है और आत्म कल्याण के लिये पुण्य की नितान्त आवश्यकता है क्योंकि यदि पाप से लड़ने की सामर्थ्य है तो वह पुण्य में है, वरना पाप इतना बली शत्रु है जो आत्मा को बांधकर के ले जाता है ऐसे कारागार में डाल देता है जिस कारागार में बाहर की हवा भी न लग पाये जिसे कहते हैं निगोद और कब तक के लिये डाल देगा कारागार में, कह नहीं सकते। ऐसी सजा देता है ये पाप जहाँ कोई सहायता करने भी न पहुँच पाये, जहाँ किसी का दिव्यध्यान व देशना भी न पहुँच पाये, जहाँ किसी का सहयोग भी न पहुँच पाये, वहाँ ले जाता है ये पाप कर्म। किन्तु उस कर्म को ललकारने वाला, उस पाप कर्म को फटकारने वाला, उस पाप कर्म को दबाने वाला, घात करने वाला, उस पाप कर्म को भी बन्धन में डालने वाला है-पुण्य। इसलिये कहा-पुण्य वाप्तिश्च। मंगलाचरण से पुण्य की प्राप्ति होती है इसलिये मंगलाचरण करना परम आवश्यक है।

शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः-आचार्य उपाध्याय साधु गुरुजन इसीलिये शास्त्र की आदि में मंगलाचरण करते हैं।

आ. विद्यानंदि जी स्वामी ने एक कारण और अलग से बताया-

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रासादात् परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः।। आप्त.प./मू./2

जो मुनिपुंगव हैं वे शास्त्र के आदि में मंगलाचरण करते हैं। परमेष्ठी की कृपादृष्टि के बिना श्रेयमार्ग या कल्याण मार्ग की प्राप्ति नहीं होती। जिसने भी मोक्षमार्ग या मोक्ष को प्राप्त किया है, उसने नियम से परमेष्ठी की कृपा दृष्टि प्राप्त की है। बिना परमेष्ठी का आधार लिये कोई भी आत्मा न तो मोक्ष प्राप्त कर सकती है और न मोक्षमार्ग प्राप्त कर सकती है। आचार्य वट्टकेर स्वामी जी ने मूलाचार में लिखा कि-आचार्यों के प्रसाद से ही विद्या मंत्रों आदि की सिद्धि होती है। कौन सी विद्या-'भवतरणी'। संसार की लौकिक विद्यायें एक बार प्राप्त भी हो जायें किन्तु संसार सागर से पार करने वाली विद्या आचार्य की कृपा से ही प्राप्त होती है।

भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरिय पसाएणं विज्जा मंता य सिज्झंति।।68/7।।मूला.

जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति करने से पूर्व में संचित किये हुये सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं आचार्यों के गुरुजनों के प्रसाद से विद्या और मंत्रों की सिद्धि होती है। विद्या-भवतरणी विद्या, मंत्र-वो मंत्र जिससे मन को वश में किया जाता है, इन्द्रियों का दमन किया जाता है अथवा जो मंत्र कर्म रूपी सर्पों के विष को दूर करने में समर्थ हैं, जो कषायों का शमन करने में समर्थ हैं उन मंत्रों की सिद्धि और प्राप्ति भी आचार्य परमेष्ठी के प्रसाद से होती है।

महानुभाव ! कोई भी व्यक्ति जब कोई कार्य प्रारंभ करता है तो मंगलाचरण अवश्य करता है। वैसे मंगलाचरण की परम्परा तीन बार की है-ग्रंथ के प्रारंभ में, ग्रंथ के मध्य में और ग्रंथ के अंत में। इन तीनों के फल भी आचार्यों ने अलग-अलग बताये। क्योंकि जो व्यक्ति ग्रंथ के प्रारंभ में मंगलाचरण करते हैं तो वह प्रारम्भिक मंगलाचरण उस ग्रंथ की पूर्ति में निमित्त होता है, मध्य का मंगलाचरण ग्रंथ के फल को देने वाला होता है और अंत का मंगलाचरण समाधि आदि की सिद्धि कराने वाला होता है अथवा प्रारंभ का मंगलाचरण आरोग्य देने वाला होता है, मध्य का मंगलाचरण शिष्यों को निष्णात बनाता है और अंत का मंगलाचरण समाधि की प्राप्ति कराने में समर्थ होता है। आचार्यों ने लिखा है-

आदौमध्येऽवसाने च मंगलं भाषितं बुधैः।
तज्जिनेन्द्र गुणस्तोत्रं तदविघ्न प्रसिद्धये।।पं. का./ता.वृ./1/5/10

विघ्नों की शांति के लिये, अविघ्न अवस्था को प्राप्त करने के लिये जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की स्तुति करना आवश्यक होता है इसलिये आचार्य महोदय-आदि, मध्य व अंत में मंगलाचरण अवश्य करते हैं।

''सर्वेषा मंगलं भवतु''

सिद्धा य अरिहा साहू, धम्मो हिंसा-विवज्जिदो।
मंगलं परमट्ठेणं, धम्म-सत्थं जिणालयं॥६॥

अर्थ:-अरिहंत, साधु, हिंसा से विवर्जित धर्म, धर्म शास्त्र और जिनालय परमार्थ से मंगल हैं।

-अज्ज-सक्किदी

(आचार्य श्री वसुनंदी मुनि)

वसुधैव कुटुम्बकम्

महानुभाव ! यहाँ पर प्रथम काव्य को मंगलाचरण के रूप में देख सकते हैं-वैसे तो सभी काव्य मंगलाचरण के रूप में हैं। प्रथम काव्य में ऐसी भावना व्यक्त की है आचार्य महोदय ने कि जिस भावना के भाते हुये प्राणी संसार में भ्रमित नहीं हो सकता, संसार में पतित नहीं हो सकता। चार भावनाओं में ऐसा मानो कि चारों अनुयोगों का सार माँग लिया। पहला काव्य यहाँ पढ़ते हैं-

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा-परत्वम्।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥१॥

नित देव मेरी आत्मा धारण करे इस नेम को,
मैत्री करे सब प्राणियों से गुणीजनों से प्रेम को।
उन पर दया करती रहे जो दुःख ग्राह ग्रसीत हैं,
समभाव उन सबमें रखे जो धर्म से विपरीत हैं।।1।।

अन्वयार्थ-(**देव**) हे जिनेन्द्रदेव ! (**मम**) मेरी (**आत्मा**) चैतन्य आत्मा (**सदा**) हमेशा (**सत्त्वेषु**) समस्त प्राणियों में (**मैत्रीम्**) मित्रता के भावों को (**विदधातु**) धारण करें/प्राप्त हो, (**गुणिषु**) गुणी जीवों में (**प्रमोदं**) हर्षित भावों को प्राप्त हो, (**क्लिष्टेषु**) कष्ट को प्राप्त (**जीवेषु**) जीवों में (**कृपापरत्वम्**) करुणा के भाव होवें, (**विपरीतवृत्तौ**) विपरीत आचरण करने वालों में (**माध्यस्थभावम्**) मध्यस्थता (**विदधातु**) धारण करे।

सत्त्वेषु-वैसे तो सत्त्व शब्द का अर्थ जीव, प्राणी, आत्मा होता है किन्तु यहाँ पर हम दूसरा अर्थ निकालना चाह रहे हैं। त्व-का अर्थ होता है 'पन'-वह क्या है 'स्वभाव' जीवत्व स्वभाव की बात कर रहे हैं। जीवत्व स्वभाव से सहित जितने भी संसार में हैं 'सत्त्वेषु' सप्तमी का बहुवचन उन सभी में। **जीवेषु**-जीवों में। तो त्व-अर्थात् 'पना' ममत्व-ममतापन, अपनत्व-अपनापन, परत्व-परायापन यानि उसका गुण। तत्त्व किसे कहते हैं ''तद्भावास्तत्त्वं'' तद् माने वह, त्व-माने भाव। जिसका जो भाव है उसका वह तत्त्व कहलाता है। यहाँ कह रहे हैं सत्त्व जो सत् का त्व-समीचीनता का समीचीनपना। सत् का सत्त्वपना जो है वह जीवों में विद्यमान रहता है। वह सतपना जितने भी जीवों में पाया जाता है उन सभी में मैत्री को धारण करता हूँ।

एक जिज्ञासा मन में पैदा हो गयी। 'सत्त्वेषुमैत्रीं' पहले क्यों कहा? गुणिषु प्रमोदं पहले क्यों नहीं कह दिया कि गुणी जनों को देखकर मेरे मन में प्रमोद भाव आ जाये। ऐसा क्यों नहीं कह दिया कि जो दुःखी जीव हैं उन्हें देखकर मेरे मन में करुणा का भाव आ जाये? ऐसे पहले क्यों नहीं कहा कि जो धर्म से विपरीत हैं उनके प्रति मेरे मन में माध्यस्थ भाव आ जाये? सबसे पहले ये क्यों कहा कि ''सत्त्वेषुमैत्रीं''?

क्योंकि जिसकी संख्या ज्यादा होती है उसका कथन पहले किया जाता है, जिसकी संख्या कम होती है उसका कथन बाद में करते हैं। जिसका महत्व ज्यादा है उसको पहले रखा जाता है, सत्त्वेषु मैत्रीं-सत्त्व कहने से संसार के सभी जीव आ गये, यहाँ तक कि वे भी जो सिद्धालय में पहुँच गये और इतना ही नहीं अपनी आत्मा को भी जोड़ कर चलना है, कोई भी जीव हो उसे छोड़ना नहीं है चाहे इतर निगोद में हो, नित्य निगोद में हो, व्यवहार राशि में हो, नरक स्वर्ग मध्यलोक कहीं भी हो उन सभी को जोड़कर चलना है इसलिये सत्त्वेषु मैत्री कहा।

मैत्री केवल संसार की मुक्त आत्माओं से ही नहीं करना है, अपनी आत्मा में अपने प्रति भी मैत्री भाव स्थापित करना है। मैं भी अपनी आत्मा का बैरी नहीं, यदि मैं अपनी आत्मा से मैत्री धारण नहीं करूँगा तो आत्मा के हित की कभी बात न कर सकूँगा। आत्मा में यदि बैर हो गया तो व्यक्ति आत्मघात कर लेगा, आत्मा का अहित कर लेगा, कहेगा मैं दूसरे का हित तो करूँगा भले ही मेरी आत्मा का पतन हो जाये। जो इस वाक्य को नहीं जानते हैं वे इस शब्द को कह सकते हैं कि मेरा पतन हो जाये, चाहे मैं नरक में चला जाऊँ मैं उसका कल्याण करके रहूँगा।

किंतु 'मैत्री' इस शब्द को पढ़ने वाला व्यक्ति जीवन में कभी कह नहीं सकता कि मेरा पतन हो जाये, मेरी आत्मा का अकल्याण हो जाये इसलिये इसमें अपनी आत्मा को भी शामिल कर लिया। आत्मा को जोड़ते हुये चलना है छोड़ते हुये नहीं। मैत्री शब्द क्या है? मैत्री शब्द इतना विशद शब्द है कि-मित्र ये छोटा सा ऐसा रत्न है जो तीन लोक पर भारी है। मैं समझता हूँ मित्र से बढ़कर रत्न की कोई संज्ञा नहीं। रत्न किसको कहते हैं-पाषाण खण्ड को। नीतिकार कुछ और कहते हैं, अन्य जन कुछ और कहते हैं, धर्मात्मा कुछ और कहता है। नीतिकार क्या कहते हैं-

पृथिव्यां त्रीणी रत्नानि जलमन्नं सुभाषितं।
मूर्खे पाषाण खण्डेषु-रत्न संज्ञा विधीयते॥

पृथ्वी पर केवल तीन ही रत्न हैं-शीतल, मिष्ट, स्वादिष्ट जल और रोग अपहरण करने वाला, क्षुधादि को नाश करने वाला, अच्छे परिणामों को पैदा करने वाला, धर्मध्यान की वृद्धि करने वाला, शरीर को शक्ति देने वाला, जीवादि की रक्षा कर सको, दश धर्म का पालन कर सको इसके लिये वह अन्न आपको शक्ति देने वाला है-तो वह अन्न भी रत्न है, जल भी रत्न है। 'सुभाषितं'-संसार में मीठी वाणी से बढ़कर के और कोई मीठा हो ही नहीं सकता। बुन्देलखण्ड की कहावत भी है अरे गुड़ न दे तो कोई बात नहीं गुड़ जैसी बात तो कह दे।

एक बार अकबर ने बीरबल से प्रश्न पूछा-बताइये संसार में सबसे मीठा क्या है?-अकबर ने कहा-महाराज सभी सभासदों से पूछ लीजिये। किसी ने कहा-गन्ना, किसी ने कहा गुड़, किसी ने कहा शक्कर, किसी ने कहा खांड सबने अलग-अलग कहा। बीरबल से पूछा, वह बोला-जहाँपना

मेरी राय इन सबसे भिन्न है, बादशाह सलामत मैं मानता हूँ कि संसार में यदि मीठी चीज होती है तो वह वाणी होती है। अकबर बोले-अरे ! बीरबल तुम भी क्या बेतुकी बातें कहते हो-वाणी का क्या मीठा ? बीरबल ने कहा-मुझे अपनी बात सिद्ध करने के लिये 7 दिन दें यदि मैं सिद्ध न कर सका तो फिर आप जो चाहें सो सजा दें।

बीरबल बोला बादशाह ! सात दिन के लिये मैं दरबार में नहीं आ सकूँगा क्योंकि मेरे पोते का जन्मदिवस है, मैं उसकी तैयारी करूँगा। बादशाह ने कहा ठीक है-और वह चला गया। उसने 5 दिन तैयारी की और छटवें दिन आया और निवेदन किया कल मेरे पोते का जन्मदिवस है आप मेरे यहाँ भोजन के लिये पधारें। राजा ने कहा-मैं तो नहीं आ सकूँगा बहुत जरूरी कार्य से मुझे बाहर जाना है। बीरबल ने कहा-बादशाह यदि आपकी कृपादृष्टि हो जाये तो बेगमसाहिबा को भेज दीजिये। बेगम साहिबा सोच रही थी चलो इस बहाने से बीरबल से कुछ चर्चा भी हो जायेगी क्योंकि वह बड़ा बुद्धिमान् है।

बेगम जब बीरबल के यहाँ पहुँची-तो बीरबल ने बड़े सुन्दर स्वर्ण के रत्नजड़ित सिंहासन पर उन्हें बिठाया और स्वर्ण के बर्तनों में भोजन परोसा और एक नहीं पचासों प्रकार की मिठाईयाँ उन्हें परोसी, सब्जियाँ अलग, फल अलग उसने सहस्राधिक प्रकार के व्यंजन बनाये। बेगम साहिबा देखकर आश्चर्यचकित हो गयीं कि इस एक भोजन में लाखों रुपया खर्च कर दिया। कहने लगी बीरबल क्या भोजन बनाया है आनंद आ गया और बेगम साहिबा ने भोजन किया, बीरबल हाथ जोड़कर खड़ा रहा। बेगम साहिबा के साथ आयी अन्य सखियों ने भी भोजन किया। बीरबल ने बेगम साहिबा का वस्त्राभूषण देकर सम्मान किया और कहा मेरे पोते को आप आशीर्वाद देकर जायें व मेरा यह कार्यक्रम मंगलमय सम्पन्न हो। इस प्रकार बीरबल ने उन्हें विदा किया।

जैसे ही वे बेगम साहिबा दरवाजे की देहरी तक पहुँची तब पुनः बीरबल अपनी पत्नी से कहता है-''अरे सुनती हो-जिस स्थान पर बैठकर बेगम साहिबा ने भोजन किया था न, उस स्थान को जल से अच्छी तरह धो देना, अग्नि से शुद्ध कर लेना, एक तुर्कनी आकर के हमारे मकान को अशुद्ध कर गयी है।'' ये शब्द बीरबल ने इतनी जोर से बोले कि बेगम साहिबा के कानों में पड़ गये। बेगम साहिबा को तो यूँ लगा जैसे किसी ने सीसा गरम कर कानों में डाल दिया हो और वह महल के कोप भवन में जाकर पड़ी। शाम को जब अकबर ने जाकर पूछा कि क्या हुआ? बीरबल के यहाँ क्या भोजन पानी नहीं हुआ तब सखियाँ, दासियाँ जो बीरबल के यहाँ साथ गयी थीं उन्होंने सारी बातें राजा को बतायीं।

बादशाह ये सुन बहुत कुपित हुये और बीरबल को दरबार में बुलाया और कहा-बीरबल क्या बात है हमारी बेगम साहिबा नाराज हैं, दुःखी हो रही हैं। बीरबल ने कहा- जहाँपना मेरी जितनी

शक्ति थी उतनी पूरी शक्ति से बेगम का सम्मान किया आप चाहें तो पूछ लीजिये। मैंने सोने का रत्नजड़ित आसन लगाया, स्वर्ण-चांदी के बर्तनों में भोजन कराया। बादशाह ने पास खड़ी दासी व सखियों से पूछा क्या यह ठीक कहता है ? दासियों ने कहा हाँ कराया तो था। बीरबल ने कहा-जितने प्रकार की मिठाइयाँ हो सकती हैं उतने सब प्रकार की मिठाई रानी के लिये परोसी थीं उन्होंने खायी भी थीं, मैंने सम्मान भी किया था वस्त्राभूषण भी भेंट किये थे। राजन् ! मुझसे गलती कहाँ हो गयी जो आपने मुझ गरीब को बुलाया है और दण्ड देना चाहते हैं।

बेगम साहिबा से पूछा-तो उन्होंने कहा-जो बीरबल ने शब्द बोले थे जब मैं देहरी पर खड़ी थी तो वे शब्द मेरे कान में पड़ गये, सब खाया पीया बेकार चला गया-क्या शब्द बोले? सखियों ने बताया-कि एक तुर्कनी यहाँ भोजन करके चली गयी है इस जमीन को शुद्ध व साफ कर लेना, अग्नि से भी शुद्ध कर लेना। बीरबल ने हाथ जोड़कर कहा-महाराज ! ये शब्द मेरे इतने कड़वे लग गये कि इतने प्रकार का मीठा सब बेकार चला गया इसीलिये तो मैं कह रहा था कि वाणी का मीठा सबसे बड़ा मीठा होता है अन्य प्रकार का सब मीठा बेकार होता है। जहाँपना सत्य तो यही है यदि तुम किसी को मीठा न खिला सको तो मीठी बात तो कह ही सकते हो उससे भी आनंद आता है।

तो महानुभाव तीन रत्न हैं-जल, अन्न, सुभाषित वचन ऐसा नीतिकार कहते हैं। भक्त कहता है-**देव-शास्त्र-गुरु रत्न शुभ, तीन रतन करतार।** अथवा आचार्य महाराज कहते हैं-रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र ये तीन रत्न हैं किन्तु हम यहाँ यह कहना चाहते हैं कि 'मित्र' शब्द ढाई अक्षर का ऐसा शब्द है जो सभी रत्नों में श्रेष्ठ है। आचार्य महोदय भी इस बात को नकार नहीं सकते जो रत्नत्रय को रत्न कहते हैं वे भी कहेंगे जिसके पास वह है वही मेरा मित्र है जिसके पास तीन रत्न हैं, देव-शास्त्र-गुरु का उपासक है वह मेरा मित्र है, वह रत्न है। इसीलिए आचार्य महाराज ने सर्वप्रथम मैत्री के विषय में कहा।

मैत्री शब्द का अर्थ आचार्य पूज्यपाद स्वामी अपरनाम 'देवनंदि' सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में बताते हैं-

''परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषा मैत्री''

दूसरे को कभी भी दुःख न हो ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है। मैत्री भाव के संबंध में चाहे रामायण हो, गीता हो, महाभारत हो, कुरान हो, बाइबिल हो, पैगम्बर हो चाहे अन्य कोई साहित्य हो मैत्री के संबंध में सबने एक ही बात कही।

महावीर स्वामी ने कहा है-संसार में कोई शत्रु है ही नहीं तुम सबको मित्र समझो-**''मित्ती मे सव्व भूदेसु वैरं मज्झं ण केण वि''।**

संसार के सभी प्राणियों में जीव मात्र में मैत्री भाव स्थापित करो, जब तुम दूसरों के प्रति मैत्री भाव रखोगे तो आज नहीं तो कल, उसके मन में भी तुम्हारे प्रति मित्रता का भाव निष्पन्न हो जायेगा।

मित्रता के मायने और क्या हैं-मित्र कहिये तो 'मिष्ट'। मित्र कहिये तो 'मित', मित्र कहिये तो मिलनसार, मित्र कहिये तो मितव्ययी।

मित्र वह है जो हमारी आत्मा के लिये रक्षक है, हमारे संसार को अल्प करने वाला है, जो बहुत मिष्ट है, शिष्ट है, मित्र वह है जो मिलन सार है जिससे मिलकर भी तृप्ति न हो, बिछुड़ने के बाद मन में बार-बार मिलने की भावना पैदा हो वह मित्र है आचार्य महोदय कहते हैं-

'मित्र एको भवति भूपतिर्वा यतिर्वा''

मित्र संसार में एक होता है भूपति या यति। भूपति कहिये तो राजा, यति कहिये तो साधक। भूपति से मित्रता करोगे तो संसार के वैभव को प्राप्त कर सकोगे और यति से मित्रता करोगे तो उभय लोक में आनंद की प्राप्ति करोगे। तो मित्रता किससे है? लोग मित्रता करते हैं राजा से, जब भी कोई व्यक्ति उच्च पद पर आसीन हो जाये, वैभव सम्पन्न हो, उससे पूरी दुनिया संबंध करना चाहती है। राजा भी सबके प्रति प्रेम का भाव रखता है किन्तु वह राजा कभी भी किसी के प्रति मित्रता निभाता नहीं है, यदि राजा किसी के साथ मित्रता निभाये तो वह राजा न्याय न कर पाये,

राजामित्रो भवति केन दृष्ट वा श्रुतं वा

राजा किसी का मित्र होता है, यह बात किसी ने देखी या सुनी है? क्योंकि राजा तो न्यायप्रिय होता है अपनी प्रजा से ही मित्रता कर लेगा तो फिर मित्र के नाते दोष के लिये राजा उसको दंड न दे सकेगा, उसे फिर क्षमा करता जायेगा। दो अपराधियों में से एक को दण्ड दे दिया एक को क्षमा कर दिया तो वह न्यायप्रिय राजा न हो सकेगा। अतः राजा मित्र नहीं होता। यहाँ तक कि आपको ज्ञात है-कौशल देश, अयोध्या नगरी के महाराज अष्टम बलभद्र श्री रामचन्द्र जी अपनी पत्नी के साथ भी मित्रता न निभा सके। चाहे लक्ष्मण ने अपने भ्रातृत्व प्रेम को निभाया, सीता ने अपने पत्नी धर्म को निभाया किन्तु निष्पक्षता से कभी विचार करें तो लगता है रामचन्द्र जी ने अपने पतिधर्म को नहीं निभाया, राजधर्म को मुख्य माना।

लोकव्यवहार को देखकर के, जानकर के सीता का परित्याग कर दिया, तीर्थयात्रा के बहाने से सिंह अटवी में छुड़वा दिया। उसके उपरांत जब नारद ने सीता के पुत्र अनंगलवण और मदनांकुश को आशीर्वाद दिया कि आप राम और लक्ष्मण जैसी विभूति को प्राप्त करो। यह सुन पुत्रों ने पूछा माँ ! ये राम लक्ष्मण कौन हैं? तब नारद ने बताया राम वे हैं जिनने अपनी पत्नी के

साथ अन्याय किया था और घर से बाहर निकाल दिया था। अनंगलवण ने आस-पास के समीपस्थ राजाओं को जीता और युद्ध करने अयोध्या पहुँच गये। युद्ध किया, नारद के माध्यम से हनुमान, सुग्रीव विभीषण आदि सब जान गये कि ये सीता के पुत्र हैं तो कोई भी युद्ध में नहीं आया, मात्र राम और लक्ष्मण युद्ध कर रहे हैं। अनंगलवण व मदनांकुश ने तीन बार राम को सात बार लक्ष्मण को रथ रहित कर दिया व धनुष तोड़ दिया, वे निहत्थे रह गये। पुनः राम लक्ष्मण ने उन दोनों पर सीधा वार किया किन्तु वे नहीं जानते थे ये कौन हैं नारद ने बताया ये सीता के पुत्र हैं, राम ने दोनों को अपने सीने से लगा लिया, राजमहल ले गये। सीता भी वहाँ आयी, सीता नखदृष्टि करे खड़ी है कि राम कहें कि महलों में चलो सीते ! किन्तु राम एक शब्द न कह सके।

सीता को खड़ा देख राम ने कहा शर्म से रहित बेहया की तरह क्यों खड़ी हैं, जाइये मेरी आँखों से ओझल हो जाइये। सीता को ये शब्द बहुत कटु लगे, हनुमान, सुग्रीव आदि ने राम से निवेदन किया प्रभु ! ऐसी निष्ठुरता न दिखाओ चाहे सीता की कोई परीक्षा ले लो किन्तु इस तरह परित्याग करना ठीक नहीं है। जनता तो न जाने क्या-क्या कहती है आप उनके कहने पर क्या धर्म को भी छोड़ दोगे। रामचन्द्र जी ने कहा यदि अग्नि परीक्षा दे तो मैं सीता को स्वीकार कर सकता हूँ। सीता अग्नि परीक्षा देने को तैयार हुयी और पंचपरमेष्ठी की साक्षी मानकर के बहुत बड़े अग्नि कुंड की रचना की गयी सीता ने छलांग लगा दी और सीता के शील के प्रभाव से अग्निकुण्ड जल कुण्ड हो गया। तब सीता ने देख लिया संसार नितान्त स्वार्थी है, यहाँ कोई भी व्यक्ति उपकार तो कर ही नहीं सकता।

जिस राजा से कोई भी सामान्य नागरिक अपने पाप की भिक्षा माँग सकता है, न्याय की गुहार कर सकता है वहाँ मैं इसलिये प्रार्थना नहीं कर सकी क्योंकि मैं इनकी पत्नी हूँ, यदि मेरे स्थान पर कोई और नारी होती तो क्या रामचन्द्र जी उसे अग्नि परीक्षा की आज्ञा देते, मेरी जगह कोई और नारी होती तो क्या उसे अपने राज्य से बाहर निकाल देते ? क्या उसके साथ ऐसा व्यवहार करते ? स्वार्थ तो देखो जब अनंगलवण व मदनांकुश ने उनको हरा दिया तो वे उनके पुत्र हो गये, उनको स्वीकार कर लिया मैं अबला त्याज्य बनी रही, यह सोचकर सीता ने आर्यिका दीक्षा को स्वीकार कर लिया। वैदिक परम्परा कहती है कि वे पृथ्वी की शरण में चली गयी, समा गयी। जैन शास्त्र कहते हैं कि वे पृथ्वीमति माता जी जो दशरथ की माँ थी (दादी माँ जैसी थी, उन्हीं के वंश की थीं) उन्हीं के सान्निध्य में पहुँचकर आर्यिकादीक्षा के व्रतों को स्वीकार किया था।

महानुभाव ! कहने का अभिप्राय यह है कि संसार स्वार्थी है, राजा कभी किसी का मित्र नहीं हो सकता, राजा ने न्याय के लिये अपने पुत्रों को भी सूली की सजा बोली, वह राजा कहाँ मित्रता निभा सकता है। राजा श्रेणिक ने वारिषेण को सूली की सजा दी, भले ही वह सूली सिंहासन बन

गयी। दशरथ भरत को राजगद्दी देते समय राम के प्रति मौन रहे, राम स्वयं वन को चले गये वे राम को रोक नहीं पाये, अपने मन की बात न कह सके और सत्य की रक्षा के कारण राम चन्द्र जी को वन में ही जाना पड़ा कौन राजा मित्रता निभाता है।

महानुभाव ! इसलिये आचार्य कहते हैं ''राजामित्रो भवति केन दृष्टं वा श्रुतं वा'' फिर दूसरी बात कहते हैं-**एको मित्रो भवति भूपतिर्वा यतिर्वा**। दो ही मित्र हो सकते हैं भूपति या यति। तो भूपति तो मित्र हो नहीं सकता मित्र बना भले ही लो पर मित्रता निभा नहीं सकता। आप कहेंगे मित्रता के उदाहरण हैं श्रीकृष्ण उन्होंने सुदामा के प्रति मित्रता निभायी थी, सुदामा किसी दूसरे देश से आया और वह बचपन का सखा सुदामा जिसे अपने अपराध का बोध था, उस समय सुदामा के प्रति मित्रता नहीं निभायी, मित्रता तो दिखायी, वह सुदामा केवल मित्र भाव लेकर नहीं आया दास भाव लेकर आया था। यदि माना कि सुदामा भी तीन खण्ड का राजा होता, जरासंध की तरह से तो क्या श्री कृष्ण उन्हें बाजू में बैठने का स्थान दे पाते, एक विचारणीय बात है।

तुम भी एक लघु को जो तुम्हारे पास लघु बनकर आया है उसे अपने बराबर बिठा सकते हो, किन्तु बराबर वाले को बराबर में नहीं बिठा सकते, आप यह दिखाना चाहोगे कि ये तो मेरे बराबर का है ही नहीं ये तो बहुत छोटा है। महानुभाव ! मित्रता को दिखाना बहुत आसान होता है किंतु निभाना बहुत मुश्किल। तो मित्र तो संसार में एक ही हो सकता है ''यति''।

साधु से मित्रता कर ली तो साधु एक ऐसा कल्पवृक्ष है जिसके पास पहुँचते ही न केवल शीतल छाया मिलेगी, न केवल सुगंधि मिलेगी, न केवल मिष्ट फल मिलेंगे अपितु साधु के पास पहुँचकर यह भव और परभव दोनों अपने आप सुधर जायेंगे। साधु के पास पहुँचेगा तो वहाँ उसे क्षणभर के लिये शांति मिलेगी और वह शांति उसे भोगियों, विलासियों के बीच में रहकर न मिल सकेगी।

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटी करोति।
आपदगतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्र लक्षण मिदं प्रवदन्ति संतः॥४९६॥स.कौ.

संत पुरुष मित्र के लक्षण कहते हैं-जो अपने मित्र को पाप कार्यों से निवृत्त करे वह मित्र है। जो पाप में लगाये वह मित्र नहीं मित्र के रूप में शत्रु है। एक बार आँख बंद कर सोचो तो सही तुम्हारे अंदर सिगरेट, तम्बाकू, गुटखा आदि खाने की गंदी आदत कहाँ से पड़ी। पहले छिपकर अपने मित्रों के साथ खायी फिर अकेले में और फिर सबके सामने, तो ये आदत आयी कहाँ से, जिसने तुम्हें बुरी आदत में डाल दिया बीड़ी पीना सिखाया, शराब पीना सिखाया उसे तुम मित्र

कह रहे हो, वह तो तुम्हारा सबसे बड़ा शत्रु है, जो तुम्हारे पतन का कारण है। जो कुसंस्कारों को बोने वाला है क्या तुम उसे मित्र कहते हो? मित्र की परिभाषा तो इससे बाहर है।

मित्र तो वह है जो पापों से निवारण करने वाला हो, हित के मार्ग में जोड़ने वाला हो। जो गुप्त बात को चौराहे पर जाकर बता दे, पास में रहे तो मिश्री सी बातें बोले और पीठ पीछे मौका पाकर छुरा भोंक देता है वह मित्र कैसे हो सकता है? मित्र तो वह हो सकता है जो दोषों का परित्याग करा कर गुणों को प्रकट करे जैसे श्री कृष्ण ने अर्जुन को प्रशंसा करते-करते मित्रता के नाते ऐसा प्रसिद्ध कर दिया कि उसके समान धनुर्धारी पूरे आर्यावर्त में ही नहीं था। मित्र की प्रशंसा करने से गुण बढ़ते हैं। रथी का सारथी, रथी मतलब अर्जुन, अर्जुन के बारह नामों में से एक नाम रथी भी आता है, तो उनका सारथी नारायण श्री कृष्ण उनका प्रोत्साहन बढ़ाते रहे जिससे अर्जुन का उत्साह बढ़ता गया और इधर दुर्योधन का सारथी शकुनी वह बार-बार कहने लगा-धिक्कार है तेरे लिये तुझे तीर चलाना नहीं आता, कौन कहेगा तुझे राजपुत्र उसे बार-बार हतोत्साहित करते चले गये। जब व्यक्ति को कोई अपना ही हतोत्साहित करता है तो उसका उत्साह भंग होता चला जाता है। यद्यपि दुर्योधन भी राजपुत्र था उसका नाम था सुयोधन किंतु इतिहास में उसका नाम दुर्योधन कूटनीति के कारण, अशुभ विचारों के कारण प्रसिद्धि को प्राप्त हो गया।

महानुभाव ! कहने का आशय यह है कि जो दोषों को छिपाता है गुणों को प्रकट करता है और आपत्ति काल में उसे छोड़ता नहीं है, समय आने पर अपना सब कुछ देने को तैयार हो जाता है, इस प्रकार संत पुरुष मित्र के लक्षण कहते हैं।

दो मित्र कॉलेज से घूमने चले गये और वे किसी समुद्र के किनारे पहुँचे, समुद्र के किनारे एक बोर्ड लिखा हुआ था-''डूबते हुये को बचाने वाले को 500 रु. का इनाम''। दोनों मित्र थे-एक ने कहा तू तैरना जानता है मैं एक काम करता हूँ मैं पानी में जाता हूँ और वहाँ मैं बचाने-बचाने की आवाज लगाऊँगा, तुम दौड़कर आकर मुझे बचा लेना 500 रु. मिलेंगे और फिर हम होटल चलेंगे। उसने कहा ठीक है और जो मित्र पानी में तैरना नहीं जानता था वह समुद्र में उतर गया और वास्तव में ही डूबने लगा, उसने आवाज लगायी मित्र बचाओ-बचाओ, मित्र किनारे पर खड़ा सुन रहा है, वह आवाज लगा रहा है कि क्या तुम मेरी आवाज नहीं सुनते हो मैं वास्तव में ही डूबा जा रहा हूँ, मुझे बचाओ, किनारे पर खड़ा मित्र कहता है-मित्र ! तुमने किनारे पर लगे बोर्ड पर केवल एक हिस्सा ही पढ़ा था उस पर लिखा है-डूबते हुये को बचाने वाले को 500 रु. का इनाम किंतु उसके पीछे लिखा है कि यहाँ से एक मृतक को ले जाओगे तो एक हजार रु. का इनाम। दो मिनट बाद मैं तुझे निकाल लूँगा जब तू मर जायेगा।

महानुभाव ! ऐसे मित्र से मित्रता मत करो। आज की मित्रता प्राय:कर के समृद्धि और सौन्दर्यता की मित्रता है जहाँ पर समृद्धि दिखाई दी वहाँ पीछे हजारों मित्र दिखाई देंगे और जहाँ

सुन्दरता दिखाई दी वहाँ तितली और भ्रमरों की तरह से हजारों मंडराते दिखायी देंगे। सच्चा मित्र तो वह है जो आपत्ति में काम आ सके। इसीलिये तुलसीदास जी ने लिखा-

धीरज धर्म मित्र और नारी, आपदकाल परख उचारि॥

आपत्ति के काल में अपने धैर्य की परीक्षा करो, अपने धर्म की परीक्षा करो। अनुकूलता में तो हर कोई अपने धर्म का पालन कर लेते हैं, प्रतिकूलता में अपने व्रत संयम नियम को निभाकर देखो तब सही अर्थों में आप धर्मात्मा हैं। मित्र-जब तुम्हारी अनुकूलता है जब तुम्हारे घर में महोत्सव है तब तो हजारों मित्र तुम्हारे साथ हैं किन्तु जब तुम्हारे घर में प्रतिकूलता हो तब वह तुम्हारा साथ दे वही सच्चे अर्थों में तुम्हारा मित्र है और नारी-जब तक पति सम्पन्न है तब तो नारी उसकी चरण सेविका बनकर रहती है अपने आप को दासी बताती है कहीं पति का पाप कर्म का उदय आ जाये और कोई प्रतिकूलता आ जाये तो संभव है वही नारी कोर्ट में जाकर अपने पति के प्राणों की प्यासी बन जाती है या तो दासी बनती है या प्राणों की प्यासी। इसीलिये महानुभाव ! भारतीय संस्कृति में सच्ची नारी वह कहलाती है जो अपने पति का साथ हर स्थिति परिस्थिति में दे जैसे सीता ने राम का साथ दिया, राजुल नेमिनाथ के साथ जाकर दीक्षित हो गयी, दमयंती ने नल राजा का विपत्ति में साथ दिया, हरिश्चन्द्र की पत्नी तारा ने, मैना सुन्दरी ने श्रीपाल का ऐसे कितने ही उदाहरण हैं जहाँ विपत्ति में नारी ने पुरुष का साथ दिया। पुरुष का यदि सबसे बड़ा मित्र कोई हो सकता है तो सबसे पहला मित्र है नारी।

महानुभाव ! मित्र की चर्चा कर रहे थे-मित्र वह है जो प्राणपन से समर्पित रहे। मित्रता निभायी सुग्रीव और राम ने, मित्रता निभायी हनुमान और राम ने, मित्रता निभायी विभीषण और राम ने, लक्ष्मण और वज्रकर्ण ने। कृतान्तवक्त्र न केवल राम का सेनापति था अपितु मित्र भी था। दानवीर भामाशाह न केवल महाराणा प्रताप की प्रजा थे किन्तु मित्र भी था, ऐसे ही चूड़ावत महाराणा प्रताप का मंत्री ही नहीं मित्र भी था, महानुभाव ! जो मित्र होता है वह स्वयं अच्छा खाकर, पीकर, संतुष्ट नहीं होता है अपितु उसे खुशी अपने मित्र के लिये कुछ करके होती है, जब उसके काम आता है तब उसे बहुत खुशी होती है। अगली बात-

गुणिषु प्रमोदं-प्रमोद भाव किसके प्रति ? गुणीजनों के प्रति, जितने भी गुणीजन दिखायी दें उन्हें देखकर बस मुस्कुराओ, कुछ भी न दो सिर्फ मुस्कुरा दो। तुम्हारी मुस्कुराहट उसके धर्म के लिये निमित्त बन जायेगी। किसी धर्मात्मा को देखकर के तुमने मुँह लटका लिया, आँखें बंद कर ली, चेहरे पर उदासीनता के भाव आ गये तो तुम धर्म का अपमान कर रहे हो संसार के किसी भी गुणी प्राणी को देखकर के, भद्र परिणामी को देखकर के एक बार मुस्कुरा जाओ, तुम्हारे अंदर का तनाव टूट जायेगा और न मुस्कुराये तो ध्यान रखना बड़े को देखकर के, गुणी को देखकर के यदि तनाव आ रहा है तो तनाव तनता ही चला जायेगा और भी कष्ट होगा।

प्रमोद का अर्थ होता है **''प्रकृष्टं मोदं इति प्रमोदं''** मोद को देने वाला कहा जाता है-मोदक। मोदक का अर्थ होता है लड्डू। लड्डू आनंद देने वाला है किन्तु प्रमोद भाव वह आनंद देने वाला होता है जो आनंद लड्डू से नहीं आता। लड्डू खाकर हो सकता है चेहरे पर चमक आ जाये और पेट फूल जाये, किन्तु प्रमोद भाव से आँखों तक में चमक आ जाती है और आत्मा का एक-एक प्रदेश पुलकित हो जाता है अंतरंग से आनंद का झरना फूट पड़ता है। तो गुणी जनों को देखकर प्रमोद भाव हो।

क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्-जो भी संसार में दु:खी प्राणी हैं चाहे वे अपनी आँखों के सामने हैं और चाहे मन के समीप हैं, चाहे आपके मन के दर्पण में दृष्टिगोचर हो रहे हैं, नरक में नारकी जीव, तिर्यंच जीव, कितने ही मनुष्य दु:खी हैं आँख बंद करके हे प्रभो ! संसार के सभी प्राणियों का दु:ख दूर हो जाये। हम भावना यह भायें कि संसार के सभी प्राणियों के दु:ख व कष्ट दूर हो जायें और वे दूर तब होंगे जब उनका पाप कर्म नष्ट होगा और पाप कर्म नष्ट हो जाये और दुबारा बांध लिया तो? तब हम भावना भायेंगे कि हे भगवान् उन सभी को सद्बुद्धि मिले वे पाप कार्य से विरक्त हो जायें, धर्म के कार्य में लग जायें। आगे कहा-

माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ-जो हमसे विपरीत चलने वाले हैं, धर्म का विरोध करने वाले हैं, मखौल उड़ाने वाले हैं, धर्मात्मा को परेशान करने वाले हैं, धर्म का विध्वंस करने वाले हैं, धर्म की मर्यादा का लोप और उल्लंघन करने वाले हैं ऐसे व्यक्तियों को देखकर क्या कहें क्या करें? क्या विद्वेष भाव रखें ? नहीं विद्वेष भाव धर्मात्मा नहीं करता, विद्वेषभाव करेगा तो वह भी कर्म से बंध जायेगा यदि हिंसक जानवर भी है तो धर्मात्मा ये नहीं कहेगा कि इसको मार दो अपितु वह कहेगा ऐसी व्यवस्था करो कि ये हिंसा न करे, ऐसी व्यवस्था करो कि किसी का भी अहित न हो, उसे भी धर्म का उपदेश देने का भाव रखेगा। जो विपरीत वृत्ति वाले हैं उनके साथ माध्यस्थ भाव रखता है।

हे देव ! ये चार भावनायें मेरे हृदय में निरंतर विद्यमान रहें। यदि ये चार भाव मेरे मन में आ गये तो समझ लेना चाहिये कि चारों अनुयोगों का सार हमारे चित्त में आ गया, यदि चार भावनायें नहीं आ पायीं तो हम कितना भी पढ़ें, कितना भी लिखें, कितना भी सुनें, कितना भी सुनायें, भगवान् के सामने कितने भी पीले चावल चढ़ायें या सफेद चावल चढ़ायें, सूखे बादाम चढ़ायें या हरे फल, चाहे अभिषेक जल से करें या पंचामृत कुछ भी करें, वस्त्र पीले पहनकर मंदिर जायें या सफेद, क्या फर्क पड़ता है बाहर के वस्त्र बदलने से हमारा चित्त नहीं बदला, मन में पवित्र चार भावनायें जब तक निष्पन्न नहीं हुयीं तब तक बाहर का समस्त व्यवहार एक आडम्बर जैसा प्रतीत होता है। महानुभाव यहीं चार भावनायें आप मेरी भावना में पढ़ते हैं।

मैत्री भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे,
दीन दुःखी जीवों पर मेरे उर से करुणा स्रोत बहे।
दुर्जन क्रूर कुमार्ग रतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्य भाव रखूँ मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे।

ये चार पंक्तियाँ आप भी अकेले में बैठकर गुनगुनाओगे तो तुम्हारा बात-बात पर भुनभुनाना बंद हो जायेगा। यहाँ इस काव्य में यही प्रार्थना की है कि हे देव ! ये भाव मेरी आत्मा में सदैव के लिये स्थापित हो जाये, ऐसी भावना के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

धम्मिणो पडि होदव्वं, वच्छल्लं वच्छ-गो समं।
णिम्मल-चित्त-पुण्णस्स, तित्थपदस्स कारणं॥१२१॥

अर्थ:-धर्मियों के प्रति गाय-बछड़े के समान वत्सल होना चाहिए। वात्सल्य निर्मल चित्त, पुण्य व तीर्थंकर पद का भी कारण है।

-तच्च-सारो
(आचार्य श्री वसुनंदी मुनि)

भेद विज्ञान

द्वात्रिंशतिका के प्रथम काव्य को विगत दिनों देखा जिसमें सामायिक का आधार देखा कि वास्तव में सामायिक का आधार है क्या? सामायिक का भेष तो बहुत लोग ओढ़ना जानते हैं किन्तु सामायिक के आधार से नाता जोड़ना बहुत कम ही लोग जान पाते हैं। सामायिक का भेष प्राप्त करने के लिये हाथ पर हाथ, पैर पर पैर रखकर आँख बंद करके बैठना है यह सामायिक की बाह्य मुद्रा है द्रव्य क्रिया है या आँख बंद करके हाथ लटकाकर खड़े हो गये ये बाह्य मुद्रा हो सकती है किन्तु बाह्य मुद्रा तब तक कार्यकारी नहीं होती है जब तक उसमें अंतरंग के प्राण नहीं हों। वह अंतरंग के प्राण हैं सामायिक की वे चार भावनायें-मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ।

ये चार चेतना हैं सामायिक की। जैसे चेतना के दो भेद हैं ज्ञान चेतना, दर्शन चेतना। ऐसे ही सामायिक की दो चेतना होती हैं आत्मानुभव और पर के प्रति समभाव। संसार के सब पर पदार्थों के प्रति समभाव और आत्मा में लीनता। यदि ये दो चीजें हैं तो सामायिक है और चार चेतना कहें तो मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ भाव और यदि एक चेतना कहें तो सामायिक की एक चेतना है 'समत्वभाव'।

यह सामायिक ही स्वाध्याय है, यह सामायिक ही स्तुति है, यही वंदना है, यही प्रत्याख्यान है, यही प्रतिक्रमण है, यही कायोत्सर्ग है, यही तप है, संयम है, यही ध्यान है, वैराग्य, निष्ठा सब यही है। जब सामायिक की प्राप्ति हो गयी, समत्व भाव की प्राप्ति हो गयी समझो हमें अपनी आत्मा की सर्वस्वनिधि की प्राप्ति हो गयी, जिस वैभव को परमात्मा ने प्राप्त किया है उस वैभव की चाबी प्राप्त हो गयी। जब तक समत्व भाव नहीं है तब तक चक्रवर्ती का वैभव भी मिट्टी है, तीर्थंकर का बाह्य समवशरण भी पार्थिव है। चैतन्य वैभव ही हमारा वैभव है चाहे वह अकिंचन्य दिगम्बर मुनिराज किसी एकांत में नदी के किनारे या किसी पर्वत की चोटी पर या वृक्ष के मूल-के नीचे खड़े होकर अनुभव कर रहे हैं आत्मतत्त्व का, वही वास्तव में मेरी आत्मा की निधि है इसके अलावा जितना भी प्राप्त करो सब पार्थिव है बाकी सब कुछ पौद्गलिक है, क्षणभंगुर है और उनका संयोग नियम से वियोग को प्राप्त होगा।

तो यहाँ समत्व भाव के साथ कह रहे हैं कि अपने आत्मा के वैभव को निहारो बाहर के वैभव में कहाँ पड़ गये, बाहर का कचरा भी कचरा है और बाहर का श्रृंगार भी कचरा है। शरीर का सौंदर्य ही सौंदर्य कहलाता है, वस्त्रों से शरीर का सौन्दर्य नहीं आता। यदि किसी की एक आँख नहीं है तो अच्छे वस्त्र पहनने से दो नहीं हो जायेंगी। एकाक्षी है तो एकाक्षी ही कहलायेगा। किसी के कर्ण लघु हैं तो क्या आभूषण धारण करने से सुन्दर या बड़े हो जायेंगे ? नहीं, तो ऐसे ही

आत्मा का सौंदर्य बाह्य पदार्थों से नहीं आता। किसी व्यक्ति का कंठ बहुत कर्कश है लोग कहते हैं जब भी बोलता है तो वैशाखनंदन (गधा) जैसी आवाज लगती है। माइक कितना भी अच्छा हो पर वह आवाज के लिये क्या करेगा जैसी है वैसी ही रहेगी, ऐसे ही आत्मा का सौंदर्य संसार के बाह्य पदार्थों से नहीं बनता।

एक सामायिक को प्राप्त कर लेने से हमें आत्मा के समग्रवैभव को प्राप्त करने वाली चाबी प्राप्त हो जाती है और संसार का जितना भी साधक के द्वारा किया परिश्रम है वह परिश्रम सामायिक को प्राप्त करके ही सार्थक होता है। जो साधक सामायिक में निष्णात है वही साधक वास्तव में पुरुषकृत है, पुरुष्ठ है, परिष्कृत है, प्रशंसनीय है और प्रणम्य है एवं जिस साधक ने समत्व को, सामायिक को प्राप्त नहीं किया उसने सब कुछ प्राप्त करके भी कुछ प्राप्त नहीं किया। महल के बाहर चक्कर चाहे एक लगाया हो 10, 100, 1000 या इससे भी ज्यादा लगायें हों ये कोई महत्व नहीं रखता यदि हाथ में चाबी नहीं है तो चक्कर लगाने से महल का आनंद थोड़े ही आयेगा, चाबी जिसके पास में है वह महल का मालिक है और जो हजारों साल से चक्कर लगा रहा है वह मालिक थोड़े ही कहलायेगा? हम अपनी आत्मा के मालिक तभी कहलायेंगे जब आत्मा की निधि से साक्षात्कार करने में समर्थ हो जायेंगे और साक्षात्कार करने का एक ही तरीका था, है और रहेगा वह है समत्व की धारा, सामायिक, समता भाव यदि उसे प्राप्त कर लिया तो समझो सब कुछ प्राप्त कर लिया।

आचार्य करुणा बुद्धि से कह रहे हैं एक-एक शब्द में लगता है जैसे रस भर दिया हो। यह सामायिक यदि हमारे एक अंश में भी आ जाती है, सैकण्ड के लिये भी समत्व भाव आ जाता है तो समझो वास्तव में हमें आनंद ही आनंद आ गया। गंगा चाहे वह हरिद्वार से या उसके पहले से निकली, चाहे गंगा बनारस से और आगे जा रही है किन्तु उसका पूरा पानी गंगा जल कहलाता है किन्तु कोई व्यक्ति शीशी में भरकर घर ले आये तो क्या उसे गंगाजल नहीं कहेंगे? तब भी तो गंगा जल है। यदि एक सोने का पहाड़ है कोट्याधिक टन का तब भी वह सोना है और किसी सुनार की दुकान पर रत्ती भर, मासे भर, तोलेभर सोना है तब भी सोना ही है इसी तरह से सामायिक का एक अंश भी प्रारंभ हो जाता है तब नि:संदेह वह अंश भी अमृत बिन्दु की तरह से होता है। सूर्य की एक किरण भी प्रकाश देती है और सहस्ररश्मियाँ भी आलोकित करने वाली होती हैं तमोपहारक होती हैं महानुभाव ! हम यहाँ पर सामायिक पाठ को इसलिये पढ़ रहे हैं कि हे भगवान् ! हमारे मन में निरंतर समता भाव बना रहे।

शरीरतः कर्त्तुमनन्त-शक्तिं, विभिन्नमात्मानमपास्त दोषम्।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्ग-यष्टिं, तव प्रसादेन ममाऽस्तु शक्तिः॥२॥

करके कृपा कुछ शक्ति ऐसी दीजिए मुझमें प्रभो,
तलवार को जो म्यान से करते विलग हैं हे प्रभो।
गत दोष आत्मा शक्तिशाली है मिली मम अंग से,
उसको विलग उस भाँति करने के लिए ऋजु ढंग से।।2।।

अन्वयार्थः-(**जिनेन्द्र**) भो तीर्थराज [यथा] जिस प्रकार (**कोषात् इव**) म्यान से (**खड्गयष्टिम्**) तलवार को अलग किया जाता है [तथा] ठीक उसी तरह (**आत्मानम्**) आत्मा को (**अपास्तदोषम्**) पाप रूप दोष को (**विभिन्नम्**) नष्ट करने के लिये [च=और] (**शरीरतः**) शरीर से (**अनन्तशक्तिम्**) अनन्तशक्ति को प्राप्त (**कर्त्तुम्**) करने के लिये (**मम**) मेरा (**शक्तिः**) आत्मबल (**तव**) आपके (**प्रसादेन**) प्रसाद से इस प्रकार का (**अस्तु**) होवें।

शरीरतः-शरीर से, पंचमी का एक वचन। आत्मा के दोषों को नष्ट करने के लिये तथा आत्मा की अनंत शक्ति को प्रकट करने के लिये मैं क्या करता हूँ? तो आगे कहेंगे भगवान् आपके प्रसाद से मैं सामायिक करना चाहता हूँ और आत्मा में अनंत शक्ति कैसे प्रगट होगी, अभी तो वह शक्ति है नहीं तो उदाहरण दिया है-हे जिनेन्द्र देव ! **कोषादिव खड्ग यष्टिं**-कोश, कोष, कोस तीन शब्द हैं-कोश-अर्थात् शब्दकोश आदि, कोष अर्थात्-खजाना और कोस-दूरी को नापने का पैमाना। किन्तु यहाँ कोष का अर्थ म्यान से है। तलवार अलग है म्यान अलग है दोनों एक नहीं हैं।

जात न पूछो साधु की पूछ लीजिये ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान।।

म्यान सुंदर होने से तलवार का मूल्य नहीं बढ़ता, तलवार का मूल्य बढ़ता है तलवार की बलवत्ता से, तलवार की धार से। म्यान से उसकी महत्ता नहीं है यदि कोई लकड़ी की तलवार सोने की म्यान में रखकर बेचने के लिये लाये तो क्षत्रिय राजकुमार सोने की म्यान देखकर उस लकड़ी की तलवार को खरीदेगा नहीं, वह कहेगा युद्ध में गर इसे लेकर पहुँच जाऊँगा तो अपनी मौत को ही निमन्त्रण देकर आऊँगा। जैसे गाय का मूल्य गाय की सुंदरता से नहीं अपितु दूध से है, घोड़े का मूल्य उसकी चाल से है, मिठाई का मूल्य उसके स्वाद से है इंसान का मूल्य उसके हृदय में बसे मानवता के प्यार से है, साधु का मूल्य उसके त्याग और वैराग्य से है, ज्ञान ध्यान से है, श्रावक का मूल्य उसकी निष्ठा, पूजा, भक्ति से है।

महानुभाव यहाँ पर कह रहे हैं-कोष-वह तलवार म्यान से अलग है ऐसे ही मेरी आत्मा अलग है। मेरी आत्मा में विद्यमान द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म यह भी आत्ममय नहीं हैं और मेरी आत्मा में निहित परिणति रूप भाव कर्म वह भी मेरी आत्मा स्वरूप नहीं है, यह तीनों ही पररूप हैं। इनके कारण ही मेरी आत्मा की शक्ति छिप गयी है, जैसे आकाश में बादल छा जाने से सूर्य

दिखायी नहीं देता यदि आपने छाता लगा लिया तो भी सूर्य दिखायी नहीं देगा, अपने कक्ष में आ गये तब भी आपको सूर्य दिखाई नहीं देगा, तीन आवरण आ गये सूर्य पर पहला आवरण बादलों का, दूसरा आवरण छाते का, तीसरा कक्ष का अथवा आपके पलकों का, पलक आपने बंद कर ली तब भी सूर्य का प्रकाश आपको दिखाई नहीं देगा।

ऐसे ही हमें अपनी आत्मा दिखाई नहीं देती, तीन आवरण हैं भावकर्म, द्रव्य कर्म, नोकर्म। एक-एक आवरण हटे तब तो हम पहुँचे वहाँ तक, यदि बादल हटें तब भी हमें सूर्य दिखाई नहीं देगा, यदि छतरी हट जाये तब भी हमें सूर्य दिखायी नहीं देगा जब तक कि हम अपनी आँखें न खोलें ऐसे ही केवल नोकर्म हट जायें तब भी आत्मा की अनंत शक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते, यदि हम द्रव्यकर्म में से घातिया कर्मों को नष्ट करें और अघातिया कर्म रह जायें तो भी आत्मा के सर्वगुणों को प्राप्त नहीं कर सकते और जब भाव कर्म भी नष्ट हो जायें और किंचित् बचे हुये द्रव्यकर्म भी नष्ट हो जायें, नोकर्म तो फिर जली रस्सी की तरह से है, अयोग केवली दशा में, किन्तु जब वह भी नष्ट हो जाये तभी हम आत्मा के अनंत गुणों को प्राप्त करने में समर्थ होंगे।

महानुभाव ! यह शरीर अलग है आत्मा अलग है, यह कहना बहुत सरल है किन्तु इस बात का अनुभव करना तब तक बहुत कठिन है जब तक हम शरीर और आत्मा को अलग-अलग नहीं मान पा रहे। एक बालक भी जानता है कि डिब्बे में जो दूध है वह दूध अलग है, डिब्बा अलग है। दूध अलग है पानी अलग है जब दूध को तपाया जायेगा तो पानी भाप बनकर उड़ जायेगा और दूध मावा बनकर रह जायेगा, ऐसे ही हमारी आत्मा रूप दूध में जो पानी रूपी द्रव्यकर्म भावकर्म मिले हैं उन्हें तपस्या के द्वारा ही अलग किया जा सकता है, दूध में मिले पानी को तपा कर अलग करोगे। हंस के बारे में कहा जाता है उसके मुँह में से क्षारीय पदार्थ निकलता है जब हंस दूध पीता है तो दूध पीते-पीते दूध फट जाता है गाढ़ा-गाढ़ा दूध अंदर चला जाता है पानी बाहर रह जाता है इसलिये कहते हैं हंस दूध-दूध पी लेता है पानी को छोड़ देता है।

तो महानुभाव ! हम और आप भी अपने इस अशुद्ध सोने को तपा लें। जब तपायेंगे तभी परमात्म पद को पायेंगे, यदि नहीं तपायेंगे तो न परमात्म पद को पायेंगे और न सिद्धालय जायेंगे, संसार में ही चक्कर लगाते रह जायेंगे, इसलिये तपाना जरूरी है गर परमात्म दशा को पाना है। किसी खदान में से पाषाण निकला उसमें सोना है वह सोना ऐसे नहीं निकलेगा, उस पाषाण को तपा दो पत्थर जल जायेगा, सोना रह जायेगा या अन्य धातुयें भी तपाने से निकलती हैं। हम उस आत्मा को तपाना चाहते हैं किन्तु तपायें कैसे? उसके लिए पात्र चाहिये, आधार चाहिये। यदि पात्र कमजोर है तब भी वह दूध घी आदि तपेगा नहीं यदि आपने लकड़ी के पात्र में दूध/घी को तपाना चाहा तो वह पात्र भी जल जायेगा ऐसे ही हम अपनी आत्मा को नारकीय शरीर के पात्र से नहीं

तपा सकते, देव के शरीर रूपी पात्र से नहीं तपा सकते और तिर्यंच के पात्र से नहीं तपा सकते इसे तपाने के लिये मानव शरीर चाहिये।

इससे पूर्व यह मानव शरीर नष्ट हो अपनी आत्मा का कल्याण कर लेना चाहिए। यदि आप कोई मशीन माना वॉशिंग मशीन कल ही खरीदकर लाये, हजारों की वह मशीन थी, उसकी न कोई गारंटी न कोई वॉरंटी। वह 2 दिन बाद खराब हो गई तो दु:ख होगा, कहोगे पूरा धन पानी में गया और यदि मशीन 15 साल बाद खराब हुई तो क्या कहोगे? इसकी तो पूरी कीमत वसूल हो गई अब खराब भी हो गई तो कोई बात नहीं। सब जानते हैं कि कोई भी वस्तु हो कम्प्यूटर, लैप, मोबाईल, व्हीकल्स सबको नष्ट होना है किंतु यदि इन सभी का मूल्य वसूल हो जाये अर्थात् इनका दीर्घकालीन सदुपयोग कर लिया जाए तो इन वस्तुओं के नष्ट होने का कोई दु:ख नहीं होता।

किसी नगर में एक सेठ रहता था जो पक्षियों की भाषा समझता था। एक दिन रात्रि के समय सेठ को नींद नहीं आ रही थी। तभी उसे दो पक्षी आपस में बात करते हुए दिखे। वह उनकी बात सुनने लगा। एक पक्षी कह रहा था कि कल संध्याकाल में इस सेठ के इस बैल की मृत्यु हो जाएगी। सेठ ने जैसे ही सुना वह अगले दिन सूर्योदय होते ही अपने बैल को बेच आया सोचा इसकी कीमत वसूल कर लूँ, इसकी मृत्यु तो होनी है ही। शाम को बैल की मृत्यु हो गई परंतु सेठ को कोई दु:ख नहीं था क्योंकि वह उसकी कीमत वसूल कर चुका था।

कुछ महिनों बाद शाम को भोजन करते समय सेठ ने फिर पक्षियों की वार्ता सुनी। वे कह रहे थे कि कल दोपहर सेठ के इस घोड़े की मृत्यु हो जाएगी। सेठ ने जैसे ही सुना वह तुरंत उठा और अपना घोड़ा बेच आया। अगले दिन दोपहर में घोड़े की मृत्यु हो गई किंतु सेठ निश्चिंत था क्योंकि वह उसका मूल्य वसूल कर चुका था।

पुन: कुछ वर्षों बाद सेठ घर में बैठा हुआ था तभी दो पक्षियों को वार्तालाप करते हुए सुना वे कह रहे थे आज से तीन दिन बाद इस सेठ की मृत्यु हो जाएगी। सेठ ने जैसे ही यह बात सुनी वह चिंतित हो उठा। सोचा मैंने अपने पशुओं को बेचकर उनकी कीमत वसूल ली थी जिससे मैं दु:खी नहीं हुआ परंतु अब ऐसा क्या करूँ जिससे इस मानव देह की कीमत वसूल हो जाए। तब उसने चिंतन किया ऐसा क्या है जो मात्र मानव देह धारण कर ही किया जा सकता है, वह उत्कृष्ट व महान् कार्य जो स्व-पर कल्याण का हेतु हो, जिससे यह मानव देह सार्थक कही जा सके। तब उसने विचार किया-

''राचन जोग स्वरूप न जाको, विरचन जोग सही है।
यह तन पाय महातप कीजे, यामैं सार यही है॥ वैराग्यभावना''

और दैगम्बरी दीक्षा को अंगीकार किया व गहन तप किया। तपस्या के माध्यम से कर्म निर्जीण होते हैं। जिस प्रकार चिंगारी संपूर्ण रूई के ढ़ेर को जलाकर नष्ट कर देती है उसी प्रकार तपाग्नि सब कर्मों को जलाकर राख कर देती है।

जब तक तपेगा नहीं तब तक शुद्ध होगा नहीं, शुद्धि का एक ही उपाय है। संसार में अनेक शुद्धियाँ हैं मंत्रशुद्धि, जलशुद्धि, मिट्टी से शुद्धि की जाती है किन्तु सबसे उत्कृष्ट शुद्धि मानी जाती है वह है अग्नि शुद्धि। अग्नि शुद्धि के बाद अन्य कोई शुद्धि नहीं की जाती है, हमें अपनी आत्मा की अग्नि परीक्षा करनी है पहले आपने अपने शरीर की जल से शुद्धि कर ली, मंत्रशुद्धि कर ली, सब कुछ की किन्तु ये सब शुद्धियाँ भाव शुद्धि के बिना महत्व नहीं रखती। तपने के लिए, मन को आत्मा को शुद्ध करने के लिये आपने नियम ले लिया-एक बार भोजन करूँगा, कभी उपवास करूँगा, शरीर आदि शुद्धि के लिये शीलव्रतादि का नियम ले लिया ये भी एक तप है, इन्द्रियों को नियंत्रण किया संयम स्वीकार किया यह तप है इससे आत्मा शुद्ध होगी केवल गंगा जमुना समुद्र नहाने से यह मल प्रक्षालित नहीं होता। इसलिए तपना जरूरी है शरीर से आत्मा भिन्न है, उदाहरण से देखें-

दूध और घी मिले हुये हैं दूध अलग है घी अलग है, दूध अलग पानी अलग है। इक्षु दण्ड में इक्षुरस अलग है उसका छिलका अलग है। चावल अलग है छिलका अलग है, आप मौसमी खरीदते हैं तो छिलके सहित खरीदते हैं उसका छिलका अलग है अंदर का रस अलग है, ऐसे ही मेरी आत्मा अलग है शरीर अलग है दोनों एक मेक नहीं हैं। अनादिकाल से ये हमारी भूल रही ''देह मेव आत्मा'' देह ही आत्मा है यह मानकर हम मिथ्यादृष्टि बने रहे, बहिरात्मा बने रहे, हमने अपनी आत्मा से बाहर पदार्थों को आत्मा मान लिया इसलिये आज तक बहिरात्मा बने रहे। जिसने देह और जीव में अंतर डाल दिया है वह अन्तरात्मा है और जिसकी आत्मा में अंतर कुछ बचा ही नहीं बाहर का पदार्थ सब निकाल दिया वह कहलाया परमात्मा, सिद्धात्मा, शुद्धात्मा, वह जीवन्मुक्त आत्मा।

यथार्थ परमात्मा तो सिद्ध ही हैं, अरिहन्त जो सकल परमात्मा अर्थात् अर्द्धनारीश्वर। वैष्णव परम्परा में इस शब्द का अर्थ सुनने में आता है कि आधा शरीर नारी का आधा पुरुष का किन्तु ये शब्द जैन वाङ्मय का है इसका सही अर्थ समझ नहीं आया तो लोगों ने ऐसा अर्थ लगा लिया तो ऐसी मूर्तियाँ भी बनने लगी आधा हिस्सा राम का आधा सीता का, आधा कृष्ण का आधा राधा का, किन्तु वास्तव में भारतीय संस्कृति के इस रहस्य को लोग जान नहीं पाये कि अर्द्ध नारीश्वर का अर्थ क्या है-

''**अर्द्ध**-आधे, **न**-नहीं, **अरि**-शत्रु, **ईश्वर**-भगवान्''

जिसके आधे शत्रु नहीं हैं जिसने आधे शत्रु जीत लिये वे हैं अर्द्धनारीश्वर, वे हैं अरिहन्त भगवान् सहस्रनाम में उनका नाम लिया है, आठ कर्म होते हैं और अरिहन्त भगवान् ने 8 में से 4 कर्म जीत लिये। अर्द्ध+न+अरि=जिसके आधे शत्रु नहीं हैं ऐसा ईश्वर अर्द्धनारीश्वर। अरिहंत भगवान् आधे परमात्मा हैं पूरे नहीं और सिद्ध भगवान् पूरे परमात्मा हैं हम और आप शक्तिरूपेण परमात्मा हैं। हमारे और तुम्हारे अंदर भी परमात्मा बनने की शक्ति है। उस शक्ति को चाहें तो प्रगट कर सकते हैं वह शक्ति कैसे प्रगट होगी? उसके लिये कह रहे हैं हे जिनेन्द्र देव!

तव प्रसादेन अस्तु:शक्ति:-आपके प्रसाद से, आपकी कृपा दृष्टि से यदि आपकी कृपादृष्टि हो जाये तो बस शक्ति मिल जाये। जैसे द्रोणाचार्य की कृपादृष्टि अर्जुन पर हुई इसलिये वह ऐसा धनुर्धारी हो गया, उसके जैसा दूसरा धनुर्धारी कोई और नहीं था किन्तु एकलव्य कहता है द्रोणाचार्य की कृपादृष्टि तो मुझे प्राप्त हुयी। वह एकलव्य अर्जुन से भी ज्यादा योग्य धनुर्धारी बन गया। किंतु कब बना वह ? जब उसने अपने मन में गुरु को मान लिया जब तक गुरु को नहीं मानता तब तक ऐसी विद्या कला को प्राप्त नहीं करता। चाहे कोई भी व्यक्ति दुनिया में आजतक जीरो से हीरो बना है उस पर जरूर किसी न किसी की कृपा दृष्टि रही है चाहे गुरु की रही है, चाहे प्रभु की रही है, चाहे माता पिता की रही है, चाहे जीवन साथी की रही है। बिना किसी के सहारे से कोई भी बेल हो वह ऊँची चढ़ नहीं सकती यदि कोई बेल ऊँचाई तक पहुँची है तो किसी वृक्ष का आश्रय लेकर ही चढ़ी है, नारी तो पुरुष का सहारा लेकर ही ऊँचाई को प्राप्त करती है पुरुष भी महापुरुषों का सहारा लेकर ही ऊँचाईयों को छूते हैं। महानुभाव ! यहाँ कह रहे हैं कि हे जिनेन्द्र देव ! तव प्रसादेन-आपके प्रसाद से-परमेष्ठी के मार्ग से ही श्रेयोमार्ग की संसिद्धी होती है। परमेष्ठी की करुण कृपा से ही कल्याण मार्ग की प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने भी कहा **''आइरिय पसायेणं''** आचार्यों के प्रसाद से **''विज्जामंता य सिज्झंति''** विद्या मंत्रों की सिद्धी होती है। आ. पूज्यपाद स्वामी ने आचार्यभक्ति में कहा पसीयन्तु-हे आचार्य परमेष्ठी मेरे ऊपर प्रसन्न होओ।

पंचमहागुरु भक्ति, अर्हद् भक्ति अन्य भक्तियों में भी पूज्य पुरुषों के लिये कहा आप हम पर प्रसन्न होईये। प्राय:कर अधिकांश स्तोत्रों में व भक्तियों में, अन्य बड़े-बड़े ग्रंथों में भी जब तक बड़ों का प्रसाद, कृपा दृष्टि नहीं मिलती है तब तक लघु की कृति पूर्ण नहीं होती है। जीरो कभी भी हीरो नहीं बन सकता यदि कोई अंक उसके साथ न विराजे। जीरो सीधे हीरो बन जायेगा 10 बन जायेगा यदि उसके बाजू में एक आ जाए। उसी प्रकार सामान्य पुरुष गुरु और प्रभु को अपने सिर पर रख लेता है तो वह जो सामान्य पुरुष जीरों की तरह था उनके सान्निध्य में वह भी दस हो जाता है और गुरु व प्रभु दोनों का आशीर्वाद प्राप्त हो जाये तो 100 हो जाता है।

ऐसे गुरु और प्रभु अपने आप में आदि अंत मध्य रहित हैं यदि उन्हें शून्य की तरह मानें, अपनी आत्मा एक है। तो अपनी आत्मा को यदि शून्य का सहयोग मिल गया तो आत्मा 10 और 100 भी हो गया। यदि अपनी आत्मा को शून्य मानें तो इस जीरो का कोई भी महत्व नहीं है। 1,2,4 सब का महत्व है जीरो कितने भी हों, हजारों भी हों किंतु बिना 1 अंक के उनका कोई महत्व नहीं। तो हमारा धर्म, हमारे गुरु, हमारे प्रभु जीवन में अंक की तरह से हैं। जब तक जीवन में अंक नहीं है तब तक जीवन में पंक ही पंक है। कीचड़, गंदगी ही है, जैसे ही गुरु और प्रभु का अंक आ जाता है अंक के आते ही पंक धुलने लगता है। अंक भरते ही आत्मा में निहित कर्मकालिमा धुलने लगती है और आत्मा परिशुद्धि की ओर आगे बढ़ती है।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

दाहणत्थं हु कम्माणि, जावाणलोव्व सव्वदा।
दायगो सुह-संतिस्स, जम्म-पाव विणासगो॥११७॥

अर्थ:-निश्चय से सभी कर्मों को जलाने के लिए जाप सदा अग्नि के समान है। यह सुख-शान्ति प्रदायक तथा जन्म व पाप का विनाश करने वाली है।

-तच्च-सारो
(आचार्य श्री वसुनंदी मुनि)

समता ही सामायिक

यह सामायिक पाठ आचार्य अमितगति जी की एक अनुपम, आदर्श, कल्याण मार्ग की सर्वोत्कृष्ट प्रेरणा देने वाली, जैन जगत् की बहुमूल्य कृति है। इसके दो काव्य देखे। पहले काव्य में चार भावनाओं का मुख्यता से वर्णन किया, सामायिक के मूल आधार के बारे में चर्चा की, तो द्वितीय काव्य में वहीं सामायिक के बारे में कहना प्रारंभ कर दिया। समत्व की धारा जब आत्मा के अंदर बहती है तब पर पदार्थों का कोई विकल्प नहीं रहता। एक साथ आत्मा दो का स्वाद नहीं लेती। एक बार में दो जगह अंतरंग व बहिरंग में उसी तरह दृष्टिपात नहीं किया जा सकता जिस तरह से एक सुई दो जगह सिलाई नहीं कर सकती है, एक राहगीर दो विपरीत मार्ग पर नहीं चल सकता। अंधकार और प्रकाश एक साथ नहीं रह सकते हैं, पुण्य और पाप उत्कृष्ट रूप से दोनों एक साथ अपना फल देने में असमर्थ होते हैं।

महानुभाव ! हमने देखा कि हमारी आत्मा और शरीरादि पर पदार्थ अलग हैं जब तक हमारी आत्मा शरीरादि पर पदार्थों से मिली हुयी है तब तक आत्मा स्वाभाविक शक्तियों को प्राप्त नहीं कर सकती और जब आत्मा स्वाभाविक शक्तियों को प्राप्त कर लेगी तो पर पदार्थों की शक्ति उसके साथ नहीं रहेगी। जब तक तलवार म्यान के अंदर रखी है तब तक वह अपना काम नहीं कर सकती। किन्तु जैसे ही तलवार वार व प्रहार करने में समर्थ होती है तब इससे सिद्ध होता है कि तलवार म्यान से बाहर हो गयी। म्यान अलग है तलवार अलग है, दोनों एक नहीं हो सकते।

हमारा शरीर आत्मा से अत्यन्त पृथक है, विजातीय है और हमारी आत्मा शरीर से अत्यन्त पृथक है। दोनों कभी भी किसी भी काल में एक जाति वाले नहीं हो सकते, एक चेतन है दूसरा अचेतन। एक शाश्वत है दूसरा क्षणध्वंसी। पुद्गल का तो स्वभाव ही है पूरण और गलन इसके बिना वह रहता ही नहीं है, किन्तु आत्मा तो अखण्ड है, शाश्वत है, नित्य है, स्वभाव की अपेक्षा से निरंजन है। हम दोनों विजातियों को एक कैसे मान लें। वे प्रज्ञ पुरुष ही होते हैं जो दोनों को अलग-अलग जान सकें। आचार्य महाराज कहते हैं-

''दुःखे सुखे वैरिणी बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेष-ममत्वबुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ !॥३॥

हे नाथ मेरे चित्त में समता सदा भरपूर हो,
सम्पूर्ण ममता की कुमति मेरे हृदय से दूर हो।
वन में भवन में दुःख में सुख में नहीं कुछ भेद हो,
अरिमित्र में मिलने बिछुड़ने में न हर्ष न खेद हो।।3।।

अन्वयार्थः-(**नाथ**) हे भगवन् ! (**मे**) मेरा (**मनः**) मन (**सदा अपि**) निरन्तर ही (**दुःखे**) दुःख में (**वा**) अथवा (**सुखे**) सुख में, (**वैरिणि**) शत्रु में अथवा (**बन्धुवर्गे**) कुटुम्ब परिवार आदि बन्धुजनों में, (**योगे**) प्रशस्त माहौल में अर्थात् इष्ट के संयोग में अथवा (**वियोगे**) इष्ट वस्तु के वियोग होने पर, (**भवने**) भवन में अथवा (**वने**) वन में (**अशेष**) सम्पूर्ण (**ममत्वबुद्धेः**) ममत्वबुद्धि से (**निराकृता**) निराकरण करके (**समं**) एक समान (**अस्तु**) होवे/रहे।

सामायिक के तृतीय क्षेत्र में कदम रख रहे हैं, पहले चार भावनाओं की स्थापना की पुनः शरीर और आत्मा का भेद कर लिया आत्मा में समत्व की धारा का प्रवाह प्रारंभ हो जाये। वह कहाँ से प्रारम्भ हो-

जीवे मरणे लाहा, लाहे संजोग विप्प जोगे य।
बंधुरिह सुह दुक्खादो समदा सामायियं णाम॥-प्रतिक्रमण

सामायिक नाम किसका है-

जीवन में, मरण में, लाभ में, अलाभ में, संयोग में, वियोग में, दुःख में, सुख में, बंधु में और रिपु में इन सभी में समता का जो भाव है वह सामायिक है। अथवा

अरिमित्र महल मसान कंचन काँच निंदा थुति करन।
अर्घावतारण असिप्रहारन में सदा समता धरन॥

दौलत राम जी ने समता के संबंध में छहढाला में कहा-शत्रु-मित्र में, महल-श्मशान में, कंचन-काँच में, निंदक व स्तुति करने वाले में, चाहे कोई अर्घ चढ़ाता है आरती उतारता है और चाहे कोई नंगी तलवार लेकर वार करता है इन सभी में समत्व भाव। यदि सामायिक के समय तुम्हारे मन में रागद्वेष के भाव चल रहे हैं, ये मेरा ये पराया तो सामायिक प्रारंभ ही नहीं हुयी। यदि मन में भाव चल रहा है उसका भला हो जाये, इसका नहीं तो अभी सामायिक प्रारंभ नहीं हुयी। सामायिक में किसी की निंदा स्तुति चल रही है तो अभी सामायिक प्रारंभ नहीं हुयी, सामायिक का आशय है समता भाव।

साधुता का प्रारंभ समता से होता है। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज एक बार कहीं विराजमान थे। प्रातःकाल का समय था, विहार कराने के लिए लोग एकत्रित हो गए। आचार्य श्री आँख बंद करके बैठे हुए थे। पहले तो लोग शांति से उनके पास बैठ गए। पुनः जब बहुत देर हो गई, आचार्य श्री ने आँख नहीं खोली तो लोगों ने जयकार लगाई किंतु आचार्य श्री ध्यानस्थ रहे। लोग अचंभित थे आखिर ऐसा क्या हुआ बहुत देर हो गई, सूरज सिर पर चढ़ आया और आचार्य श्री आँख बंद कर ही बैठे हैं। वे मुनिराज का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के

लिए जयकार लगा रहे थे किंतु मुनिराज ने आँखें नहीं खोलीं। तभी कुछ देर पश्चात् उन्होंने आँखें खोलीं तो उनकी एक आँख इतनी लाल हो चुकी थी जैसे उसमें खून उतर आया हो। पता लगा कि आचार्य श्री की आँख में एक चींटी चली गई थी। यदि आँख मसलते तो वह चींटी मर जाती इसलिए उसकी रक्षा हेतु समता भाव से बैठे रहे।

इसी प्रकार बहुत गर्मी का मौसम था। लोग गर्मी से त्रस्त हो चुके थे। चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज के वक्षस्थल-पीठादि पर फफोले हो गए। वैद्य जी को बुलाया गया तब उन्होंने बताया महाराज जी के शरीर में बहुत गर्मी बढ़ गई है, लगता है कई दिनों से पानी शरीर में नहीं पहुँचा। पता लगा कि आचार्य श्री लगभग 10 दिनों से पानी नहीं ले पा रहे। क्योंकि श्रावक पानी के स्थान पर अत्यंत भक्ति में अन्य वस्तुएँ दे देते और अंत में आचार्य श्री यूँ ही बैठ जाते थे। जब श्रावकों को यह बात पता लगी तो उनको भी अपनी अज्ञानता पर बहुत दु:ख हुआ।

आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज समता धन के धनी थे उनके कई संस्मरण हैं जो उनके समता भाव, सरलता, सहजता, साधुता को दर्शाते हैं। महानुभाव ! समता गुण का प्रादुर्भाव होना ही साधुता है। पंडित सुमेर चंद दिवाकर उनके प्रति अनन्य भक्ति भाव रखते थे। एक बार उन्होंने आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज से कहा ''भगवन् ! मैं आपके विषय में कुछ लिखना चाहता हूँ जिससे आप जैसे महान् व्यक्तित्व के दर्शन आने वाली पीढ़ी साहित्य के माध्यम से कर सके और आपके पदचिह्नों पर चल सके। किन्तु आचार्य श्री ने आदेश देकर मना कर दिया।

पंडित सुमेर चंद जी को इतनी उम्मीद न थी। वे इस बात से अत्यंत परेशान हो गए। वे उनके शिष्यों के पास गए। अपना भाव बताया। उन्होंने कहा यदि इससे जन कल्याण होता है तो आप उनके आदेश के बिना ही लिखें। पंडित जी की खुशी का ठिकाना न रहा। सुमेर चंद जी उनके पूर्व के संस्मरणों को पता करने इनकी जन्म स्थली भोज पहुँचे। वे उनके परिवारी जनों से मिलने उनके घर पहुँचे। उनके भाई ने भोजनादि के लिए उन्हें बैठाया। वहाँ पाँच साल का बालक अपनी बहन से कहता है ''अक्का ! इसमें तो नमक ही नहीं है।'' बहन बोली ''अरे ! जब स्वामी बनोगे क्या तब भी इसी तरह नमक माँगोगे।''

सुमेर चंद जी भी यह सब देखते रह गए। बोले वास्तव में ऐसा महान् परिवार जिसमें बच्चे-बच्चे में ऐसे संस्कार हैं, आचार्य श्री का ही हो सकता है।

महानुभाव ! यह मोक्षमार्ग कहने का नहीं सहने का है। समता से ही इसका प्रारंभ होता है समतामय विशुद्ध परिणाम ही मोक्षमार्गी की निधि हैं।

पूज्य आचार्य भगवन् यही तो कह रहे हैं-

दुःखे सुखे वैरिणी बंधु वर्गे-दुःख में अपनी अंतरंग की परिणति को हम स्वयं जान सकते हैं। जब हमारे जीवन में तीव्र पाप कर्म का उदय आ रहा है, शरीर में तीव्र वेदना हो रही है मन हमारे बस में नहीं है चंचल हो रहा है, इन्द्रियाँ उछल कूद मचा रही हैं, वचन कुछ बोलना चाहते हैं, कुछ निकल जाते हैं और शक्ति छिपती चली जा रही है उस समय पाप कर्म के उदय से अवस्था दीन-हीन हो सकती है किंतु जिसे अपनी आत्मा का ज्ञान है कि मेरी आत्मा अलग है ये दीन हीन अवस्थायें सिर्फ और सिर्फ शरीर की होती हैं, कमजोरी और शक्तिशाली होना यह लक्षण आप शरीर के देख रहे हैं। आत्मा के लक्षण आपने नहीं देखे, सुन्दरता सिर्फ शरीर में देखी आत्मा में नहीं।

जिसने अपनी आत्मा को देख लिया होता उसके जीवन में कभी दीनता का भाव नहीं आता और आत्मा तो सबकी एक बराबर है **''अप्पा सो परमप्पा''**। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है ऐसी कोई भी आत्मा नहीं है जो परमात्मा न बन सके। हाँ ये बात अवश्य है अभव्य आत्मायें कभी परमात्मा नहीं बनेंगी क्योंकि उन्हें कभी ऐसा निमित्त नहीं मिलेगा और दूरानुदूर भव्य आत्मायें भी परमात्मा नहीं बनेंगी। अभव्य जीव में शक्ति तो है किन्तु उनकी शक्ति कभी व्यक्त होगी ही नहीं। दूरानुदूर भव्य को कभी निमित्त मिलेगा ही नहीं। जितने भी भव्य जीव हैं उनकी शक्ति आज नहीं तो कल प्रगट होगी ही होगी। जो आज नहीं तो कल परमात्मा है, वह पर्याय में रीझ कर क्यों दुःखी होगा? उसे क्यों दीन होना? क्यों स्वयं को दरिद्र या भिखारी मानना ? और यदि कोई उपलब्धि हो गयी हो, शरीर अच्छा है, हृष्ट पुष्ट है, वचन प्रभावक हैं, कण्ठ मधुर है और विचार करने की शक्ति अच्छी है और पैसा भी पास में है, आज्ञाकारी नौकर चाकर साथ में हैं, आज्ञाकारिणी स्त्री पुत्री पुत्र हैं। सब अनुकूल हो तो ये सब देखकर कभी फूलकर कुप्पा नहीं हो जाना ये सब पुद्गल हैं यदि पुद्गल को देखकर आनंदित हो गये तो समझो तुमने सामायिक अभी प्रारंभ की ही नहीं और पुद्गल को देखकर रोने लगे तो भी समझो तुमने अभी सामायिक प्रारंभ की ही नहीं। माला चाहे 100 फेरो या 200 और चाहे एक आसन से बैठे रहो चार-छः, दस घंटा, चाहे खड़े रहो, इन सबका नाम सामायिक नहीं यहाँ आचार्य कह रहे हैं-कि समता भाव ही सामायिक है।

यदि वह सामायिक करने वाला व्यक्ति कह रहा है कि मैं 12 घंटे की सामायिक कर लेता हूँ देखो अभी समाज को हिलाये देता हूँ। अरे ! तू समाज को हिला रहा है या सामायिक कर रहा है? अपने इस दुष्ट मन को तो हिला नहीं पाया उसे हिला देता तो ठीक रहता, अपने चित्त में समत्व की शक्कर मिला लेता तो ठीक रहता समाज को हिलाने के लिये वह सामायिक का नियम ले रहा है, तो वह कर्मों को कहाँ हिला रहा है। सामायिक कोई अनशन, आन्दोलन या हड़ताल

नहीं है, सामायिक है ''अपने निजी वैभव का अवलोकन''। सामायिक है ''आत्मा की अनुभूति'' अपने आप में शांति से सुरक्षित बैठ जाना सामायिक है। पर की ओर दृष्टि नहीं करना, पर की ओर उपयोग नहीं ले जाना, चला भी जाये तो पर के प्रति रागद्वेष नहीं करना, जजमेंट नहीं देना कि ये अच्छा है ये बुरा है। जजमेन्ट देना ही राग-द्वेष है।

जो है सो है, जो जैसा है वैसा है उसे ही देखो और जानो बोलो कुछ मत। देखो, जानो और जाने दो। जो बोलता है बोलने दो, जो नहीं बोलता उसे जबरदस्ती बुलवाओ मत। जो जैसा कर रहा है करने दो, उसे तुम्हारी आवश्यकता होगी तो तुम्हारे पास आ जायेगा, नहीं आवश्यकता होगी तो जबरदस्ती किसी का कान पकड़कर अपने शब्द उसके कान में न डालो। यदि ऐसी मन में भावना है कि मुझे बात सुनानी ही सुनानी है तो कान पकड़कर न सुनाओ, अपनी जीभ को पकड़ लो तो सुनाने की चाहत मिट जायेगी। यहाँ पर कह रहे हैं कि सामायिक भाव में योगी दूसरों को हिलाने के लिये नहीं, दूसरों से जय-जयकार बुलवाने के लिये नहीं, प्रतिष्ठा लाभ ख्याति के लिये नहीं अपितु सामायिक की जाती है आत्मा में आत्मा को पाने के लिये। सामायिक की जाती है कर्मों की नींव हिलाने के लिये। सामायिक की जाती है आत्मा के वृक्ष पर समता के पुष्प खिलाने के लिये, शांति के फल पाने के लिये।

आचार्य महोदय कह रहे हैं-दु:ख आया है तो आने दो, सूर्य का उदय हुआ और अस्त भी हो गया, सूर्य का उदय हुआ तब भी पहाड़ न मुस्कुराया और न रोया, अस्त हो गया तब भी पहाड़ न मुस्कुराया और न रोया। न आकाश ने शोरगुल मचाया, न जयजयकार की और न आँखों में आँसू आये समता भाव रहा। जैसे समत्व परिणाम इस आकाश के हैं संसार में कोई भी क्रिया होती रहे, प्रतिक्रिया नहीं करता। आकाश किसी की निंदा स्तुति नहीं करता, आकाश किसी को अच्छा-बुरा नहीं कहता वह सबके लिये स्थान देता है। प्रकृति सबके लिये स्वभाव से सहती है पहाड़ ज्यों की त्यों खड़ा है, यदि कोई साधु आकर के साधना करे तब भी पहाड़ हँसेगा नहीं और यदि कोई डाकू आकर के रहने लगे तब भी पहाड़ को कोई भी गिला-शिकवा नहीं।

हाँ साधु पुरुष, सज्जन या धर्मात्मा कह सकता है कि यहाँ अच्छा लग रहा है, डाकू कह सकता है अच्छा नहीं लग रहा है, उस व्यक्ति के भाव तो हो सकते हैं किन्तु वह पहाड़ कुछ नहीं कह रहा है। नदी अपनी गति से बह रही है किनारे पर राजा खड़ा है या भिखारी, साधु खड़ा है या डाकू खड़ा है किनारे पर महल बना है या शमशान घाट है, नदी को इन सब से कोई फर्क नहीं पड़ता है सूर्य और चन्द्रमा अपने समय से आते हैं और चले जाते हैं उनके प्रकाश में कोई चोरी करे या अचौर्यव्रत का पालन करे कोई शीलव्रत पाले या भंग करे इनके विमान उन्हें रोकने नहीं आते, ऐसी समत्व की भावना उनके अंदर है।

काल द्रव्य बड़ा समता स्वभावी है निरन्तर चल रहा है उसी काल में असंख्यात जीव पुण्य का आश्रव भी कर रहे हैं, उसी काल में कोई अशुभोपयोगी है कोई शुभोपयोगी है और कोई शुद्धोपयोगी भी। काल सबके लिये आदि से अनंत काल तक रहेगा, काल ने कभी भी किसी के साथ पक्षपात भेद भाव नहीं किया तो जैसे ये सभी पहाड़, नदी, सूर्य, चन्द्र, कालद्रव्य, धर्म, अधर्मादि द्रव्य पक्षपात नहीं करते यहाँ तक कि एकेन्द्रिय वृक्ष भी अपनी छाया में बैठने के लिये डाकू, साधु के प्रति पक्षपात नहीं करते हैं और भी कोई प्राकृतिक चीजें ज्यों की त्यों रहती हैं। यदि हम भी अपने प्राकृतिक रूप को पाना चाहते हैं तो हमें प्रकृति का अनुकरण करना पड़ेगा उसकी तरह से हमें समभावी होना पड़ेगा।

कितना भी दु:ख आ जाये कोई भी दु:ख तुम्हारी आत्मा के एक प्रदेश को नष्ट नहीं कर सकता, चाहे आत्मा को अनंतों बार घानी में पेल दिया जाये, चाहे आत्मा के तिल-तिल टुकड़े कर दिये जायें, तो भी आत्मा का एक प्रदेश भी नष्ट नहीं हो सकता और आत्मा की चाहे 33 सागर तक पूजा भी होती रहे तब भी एक प्रदेश बढ़ नहीं सकता। भौतिक सुख आने से कर्म के उदय से प्राप्त होने वाले सुख से अपनी आत्मा कभी मोटी या तंदरुस्त नहीं हो जाती और पाप कर्म के उदय के आने से ये आत्मा दुबली-पतली नहीं हो जाती शरीर भले ही दुबला-पतला हो जाये यहाँ तक कि नष्ट भी हो जाये किंतु आत्मा फिर भी नष्ट नहीं होती।

सब जानन देखन हारा ये आत्मा हमारा,
शस्त्रों से कटे न काटा न तोड़ सके कोई भाटा
मरता न मरी का मारा ये आत्मा हमारा।

महानुभाव ! ऐसा आत्मा है जो शस्त्रों के काटने से कटता नहीं है, पत्थर के तोड़ने से टूटता नहीं है, अग्नि में जलता नहीं है, जल की धारा में भीगता नहीं है, कोई महामारी बीमारी कैसी भी आ जाये उसमें ये आत्मा मरता नहीं है। यदि उस आत्मा के बारे में वास्तव में जान जाओगे तो दु:खों में दु:खी न होगे। आचार्य महोदय यही बता रहे हैं कि कितना भी सुख आ जाये अपने स्वभाव को मत भूलो, तुम्हें संसार में कोई भी पतित नहीं कर सकता। कोई भी बैरी आत्मा को मार सकता है क्या? कोई भी बैरी तुम्हारे पुण्य को छीन कर ले जा सकता है क्या? कोई भी बंधु तुम्हें अपना पुण्य दे सकता है क्या? नहीं दे सकता। जब हमें ही अपने कर्म का सुख दु:ख भोगना है तो किस वस्तु से राग करें और किस बैरी से बैर करें। मेरे लिये सब एक समान हैं।

प्रत्येक काल करता सबको क्षमा मैं,
सारे क्षमा मुझ करें नित माँगता मैं।
मैत्री रहे जगत के प्रति नित्य मेरी,
हो बैर भाव किससे जब है न बैरी॥

संसार में जब कोई मेरा बैरी ही नहीं है तो बैरभाव कहाँ रहेगा? सब जगह मित्रता का भाव। जब ये भाव अंदर में आ जाता है तभी आपकी सामायिक प्रारंभ हो जाती है। जब-जब समत्व भाव तुम्हारे अंदर है तब-तब तुम्हारी सामायिक चल रही है। चाहे भोजन भी कर रहे हो, पूरा भोजन भी कर लिया पर पता नहीं क्या खाया? तो सामायिक नाम है समता भावों का, जागरूक रहने का, अपनी आत्मा को निहारने का नाम ही सामायिक है। रूढ़ि से की जाने वाली सामायिक वह द्रव्य सामायिक कहलाती है, नाम सामायिक कहलाती है, स्थापना सामायिक कहलाती है, भाव सामायिक नहीं कहलाती भाव सामायिक के बिना ये तीनों सामायिक कार्यकारी नहीं होती।

नाम, स्थापना, द्रव्य, इनसे कल्याण नहीं होता, भाव सामायिक के बिना तीनों अपूर्ण ही नहीं शून्य हैं। आप कहेंगे शून्य में और अपूर्ण में क्या अंतर है? शून्य वह कहलाता है जिसका प्रारंभ भी नहीं हुआ अपूर्ण वह कहलाता है जिसका प्रारंभ तो हो गया है किन्तु पूर्णता नहीं हुयी। तो शून्य जहाँ कुछ है ही नहीं सामायिक का प्रारंभ ही नहीं है यदि समतामय परिणामों में कभी-कभी विषमता आ जाये तो वो सामायिक अपूर्ण कहलायेगी या किंचित् समता है बहुत विषमता है तो भी किंचित् सामायिक हो जायेगी किन्तु जहाँ पर समतामय परिणामों का एक अंश भी प्रारंभ नहीं हुआ और नाम, स्थापना, द्रव्य की सामायिक है। वह सामायिक वास्तव में सामायिक नहीं है।

कहने का आशय है महानुभाव ! चाहे तीव्र पाप कर्म का उदय भी आ जाये व्यक्ति समता भाव रखे तो कोई भी पाप उसका बाल-बांका नहीं करेगा और तीव्र पुण्य का उदय भी आ जाये, दुनिया तुम्हारी जय-जयकार भी करे दुनिया तुम्हें उठाकर कंधे पर नहीं सिर पर भी बिठा ले, फूलों की सेज पर भी सुला दे तो उसमें बहो मत। उस पुण्य को भी समता से सहो, पुण्य के उदय में भी अपने आप में रहो और पाप कर्म के उदय में समता भाव धारण करके कर्मबंध को दहो, किसी से कुछ मत कहो तुम्हारा कोई भी कर्म बाल-बांका नहीं कर सकता।

तो महानुभाव ! चाहे बंधुओं के बीच में रहो, चाहे बैरियों के बीच में रहो, बैरियों के बीच में रहकर कभी घबड़ाना नहीं और बंधुवर्ग के बीच में रहकर कभी इतराना नहीं।

योगे वियोगे भवने वने वा-यदि इष्ट का संयोग है तो इतराना नहीं, अनिष्ट का संयोग है तो कभी आँसू बहाना नहीं। इष्ट का वियोग है तो कभी तड़पना नहीं और अनिष्ट का संयोग हो जाये तो कभी बैचेन नहीं होना। महानुभाव ! अनिष्ट का वियोग होने पर खुशी होती है इष्ट का वियोग होने पर दु:ख दोनों में सम परिणाम रखना जिसके साथ मेरा जितना संयोग था मिला, वियोग है तो वह भी झेलना पड़ेगा। हर संयोग वियोग को लेकर के आता है, हर उदय अस्त को अपनी पीठ पर साथ बांधकर चलता है, हर जन्म मृत्यु के अंतिम छोर तक पूरा होता है। तो महानुभाव ये तो नियति है इसको कौन टाल सकता है जहाँ संयोग है वहाँ नियम से वियोग है,

जहाँ जन्म है वहाँ नियम से मृत्यु है, जो खिलता है वह नियम से मुरझा जाता है, जो उदय को प्राप्त होता है वह अस्त को प्राप्त होता है।

ऊगे सो नित आथवै फूले सो कुम्हलाये।
जनमे सो निश्चय मरे अमर कौन ह्वै आये॥

आगे कहा-''भवने वने वा'-घर में रहो या वन में, महलों में भी व्यक्ति दु:खी हो सकता है और वन में भी व्यक्ति सुखी हो सकता है।

कोई राज महल में रोये, कोई पर्णकुटी में सोये।
अलग-अलग है जनम के अँगना, मरण का मरघट एक है॥

कोई चाहे राजमहल में रहे या पर्णकुटी में सोये, चाहे कहीं भी अपना जीवन पूरा कर ले, मृत्यु के समय दोनों के शरीर को ही मिट्टी में मिलना है और एक व्यक्ति राजमहल में भी दु:खी है। एक राजा आँसू बहा रहा है रात में उसे नींद नहीं आ रही, उसके पास सब कुछ है फिर भी शत्रु का डर लगा हुआ है मानो सिर पर नंगी तलवार टंगी हुयी है और एक योगी रात्रि में भी भक्ति में मस्त है, हे प्रभो ! तेरी असीम कृपा जो तूने आत्मा का अनुभव करने के लिये कोई स्थान निश्चित नहीं किया, शरीर में देखने के लिये आँख निश्चित की है, सुनने के लिये कान निश्चित किये, खाने के लिये मुख निश्चित किया है किन्तु आनंद के लिये तूने आत्मा के हर प्रदेश को स्वतंत्र रखा है।

आत्मा के किसी भी प्रदेश से, कभी भी, कहीं भी मैं आनंद का अनुभव कर सकता हूँ न तो काल निश्चित किया और न स्थान निश्चित किया, बस भाव है मैं अपने भाव के माध्यम से कभी भी आनंद स्थापित कर सकता हूँ। ऐसे योगी को कौन दु:खी कर सकता है, ऐसे तत्त्वज्ञानी को कौन दु:खी कर सकता है तो ये बात है सामायिक में। जब सामायिक की धारा अंदर में बहने लगती है तो कर्मों की कालिक अपने आप नष्ट होने लगती है। सामायिक की धारा व कर्मों की है कारा दोनों एक साथ जुड़ नहीं पाती। महानुभाव ! आगे कहा-

निराकृताशेष ममत्व बुद्धे:-अशेष माने सम्पूर्ण अर्थात् मेरी सब ममत्व बुद्धि नष्ट हो जाये। हे भगवन्! मेरे अंदर किसी भी पदार्थ के प्रति ममत्व बुद्धि न रहे। जब ममत्व बुद्धि न रहेगी तो ये बात अवश्य है कि वहाँ पर द्वेष बुद्धि भी न रहेगी **''रागं यत्र पदं धत्ते द्वेषं तत्र निश्चया''** जहाँ-जहाँ राग अपने कदम रखता है वहाँ-वहाँ द्वेष नियम से रहता है जब राग ही नष्ट हो गया दशवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ नष्ट हो गया तो द्वेष भाव कहाँ रहेगा। तो यहाँ कह रहे हैं।

समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ-हे नाथ ! नाथ किसे कहते हैं? नाथ कहते हैं आत्मा को। न+अथ-जिसका कभी प्रारंभ नहीं हुआ। मेरी भगवान् आत्मा ही मेरी नाथ है, परमात्मा है, भगवान्

है। हे तीन लोक के नाथ ! तुमने अपनी नाथ अवस्था को, स्वामीपने को पहचान लिया, मैं अभी पहचान नहीं पाया। हे नाथ ! जिसका अभी प्रारंभ नहीं हुआ ऐसी आत्मा से मैं प्रार्थना कर रहा हूँ। मैं अचेतन से प्रार्थना नहीं कर रहा, चेतन से प्रार्थना कर रहा हूँ, चेतन की शुद्धि के लिये प्रार्थना कर रहा हूँ। हे नाथ ! मेरे मन में सदैव समभाव बना रहे, समता का भाव बना रहे। आप संसार में रहते हुये समधी तो बनाते हो किन्तु समाधि नहीं पाते हो। अपना बेटा देकर के (मतलब ! दहेज ले लिया तो बेटा बेच दिया) दूसरी कन्या को लेकर के समधी तो बनाते हो पर वास्तव में अपनी 'धी' अर्थात् बुद्धि को सम नहीं कर पाते हो और जब तक अपनी धी सम नहीं होगी तब तक समाधि की प्राप्ति नहीं होगी।

महानुभाव ! हमारे जैन शास्त्रों में समतामय परिणाम रखना एक नियम है, धर्मात्मा समतामय परिणाम रखता है, समतामय परिणामों का नाम ही समाधि है। आधि, व्याधि, उपाधि का त्याग करके शरीर को समतामय परिणामों से छोड़ देना समाधिमरण है। समाधिमरण की साधना की जाती है उसे कहते हैं सल्लेखना। सल्लेखना का आशय होता है समीचीनता को देखते हुये अपनी कषायों को कृष करना व शरीर को कृष करते जाना। न केवल जैन परम्परा में अपितु प्रबुद्धवर्ग के हर सम्प्रदाय धर्म में इस सल्लेखना संथारा का नियम दिया है। वर्तमान काल में कुछ महानुभाव उसे नहीं समझ पा रहे हैं। यह सल्लेखना न सती प्रथा के समान है, न आत्महत्या है, न कोई आक्रोश में किया गया प्राण घात है न कदलीमरण है। यह तो धर्म का अनुभव करते हुये जीवन के अंतिम क्षण तक मेरा समतामय परिणाम बना रहे न एक क्षण पहले मरने की कामना है और न जीने की भावना।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

चरण से आचरण

महानुभाव ! विगत दिन तृतीय काव्य के बारे में देखा था, समतामय परिणाम और उसका अभ्यास श्रावक भी कर सकता है, श्रावक को करना भी चाहिये और व्रती श्रावक जिसने बारह प्रतिमाओं के व्रतों को स्वीकार कर लिया है वह नियम से करता है। चाहे 24 घंटे पूरे समतामय परिणाम न रख पाये किन्तु कम से कम जब सामायिक के लिये एक घड़ी, दो घड़ी, चार घड़ी को बैठता है उस समय संकल्प लेकर बैठता है कि मैं विकल्पों से बचने का प्रयास करूँगा और यदि कोई विकल्प मेरे पास आयेगा भी तो यदि वह विकल्प सद्रूप में रहे शुभमय हो तब तो मैं उसे ठहराऊँगा अन्यथा असद् रूप में आया तो मैं आने नहीं दूँगा।

विकल्प यदि एक ही रहे तो वह संकल्प बन जाता है और संकल्प के साथ व्यक्ति जब किसी भी मार्ग पर आगे बढ़ जाता है तो मंजिल स्वयं उसके पास चलकर आ जाती है। महानुभाव ! जो प्रतिमाधारी श्रावक हैं वे सामायिक के नाम पर केवल माला ही माला न जपें, मेरा आशय ऐसा नहीं कि आप माला फेरना बंद कर दें, अपितु माला में अपने मन को भी फेरें यदि मन नहीं फिर रहा है, मन राग-द्वेष से ज्यों की त्यों भरा हुआ है तो बाहर की ये माला सार्थक नहीं होगी।

माला तो तन में फिरे जीभ फिरे मुख मांहि।
मनवा तो दश दिश फिरे यह तो सुमिरन नाहिं॥

कहने का आशय है यदि केवल हाथ की माला फेरते रहे, मुख में जीभ को घुमाते रहे और मन नहीं लग रहा तो वह सामायिक नहीं है इसलिये कवि को दूसरी बात भी कहनी पड़ी-

कबिरामाला काठ की कह समझावे तोय।
मन न फिरावे आपणो, कहा फिरावे मोय॥

माला समझाती है कि तू केवल मुझे ही घुमाता रहता है सुबह से शाम तक एक बार अपने मन को भी घुमा ले। जिस मन में राग, द्वेष, मोह भरा पड़ा है, कषायों का उद्वेग है ऐसे मन को यदि परिवर्तित नहीं किया तो फिर माला की गिनती करने से क्या होगा। यदि कर का मोती ही फेरते रहे मन का मोती नहीं फेरा तो कर का मोती तुम्हारी आत्मा को मुक्त नहीं कर पायेगा। ''कर का मुक्ता'' हो सकता है तुम्हें कर से मुक्त कर दे, क्या समझे? मुक्ता अर्थात् मोती-मोती की माला लेकर साधु संन्यासी बन गये, हो सकता है आपको राजकीय कर-टैक्स से मुक्त कर दे किन्तु 'कर का मुक्ता' तुम्हें मुक्ति नहीं दे सकता, चेतना को कर्म से मुक्त नहीं कर सकता।

कर्मों से मुक्त होने के लिये 'मन का मुक्ता' होना जरूरी है जब मन राग-द्वेष से मुक्त होगा, तब नि:संदेह चेतन भी कर्म बंधन से मुक्त होगा। तो आवश्यकता है मन का मुक्ता घुमाने की और

मन का मुक्ता घुमाने का नाम है 'सामायिक'। इस मन के मुक्ता पर अभी जो गंदगी लगी है उसे प्रक्षालित करके, प्रमार्जित करके उसका स्वच्छ निर्मल धवल पक्ष सामने आ जाये तो वह है सामायिक और सामायिक से रहित संसार है। संसार बाहर नहीं है, संसार कहाँ है? संसार तुम्हारे मन में ही है।

''चित्तमेव ही संसारो रागद्वेषादि दूषितं'' रागद्वेष से दूषित हमारा चित्त ही संसार है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयो

मनुष्यों का मन ही बंध और मोक्ष का कारण है। यदि मन समता भाव से युक्त है या धर्म में अनुरक्त है तो वह मन कर्म के बंधन को तोड़ने में समर्थ हो जाता है। यदि वह मन राग-द्वेष से युक्त है, विषय-कषायों में आसक्त है और माना कि धर्म से ही विरक्त हो गया तो ऐसा मन कर्मों के बंधन को तोड़ नहीं सकता। नूतन कर्मों का बंध ही करता चला जायेगा। सामायिक के मायने है कि मन को धर्म के सागर में निमग्न कर देना अथवा मन को धर्म के समीप में ले जाना। जब धर्म के समीप में मन रहता है तो वह कर्म से रहित हो जाता है यदि कर्म से रहित करने की दशा नहीं हो रही है तो कोई बात नहीं हम ऐसे सद्कर्म में लग जायें कि वह पापों में न सन पाये। चौथा काव्य देखते हैं :-

''मुनीश ! लीनाविव कीलिता-विव, स्थिरौ निषाताविव बिम्बिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा, तमोधुनानौ हृदि दीपिकाविव॥४॥

अतिशय घनी तम राशि को दीपक हटाते हैं यथा,
दोनों कमलपद आपके अज्ञान-तम हरते तथा।
प्रतिबिम्ब-सम स्थिररूप वे मेरे हृदय में लीन हों,
मुनिनाथ ! कीलित तुल्य वे, उस पर सदा आसीन हों।।4।।

अन्वयार्थ:-(मुनीश) हे मुनियों के स्वामी! **(तमो)** अन्धकार के समूह को **(धुनानौ)** नष्ट करने वाले **(दीपकौ इव)** दो दीपक के समान **(त्वदीयौ)** आपके **(पादौ)** चरण कमल **(मम)** मेरे **(हृदि)** हृदय में **(सदा)** हमेशा [इस प्रकार] **(तिष्ठतां)** ठहरें/बसे रहें। यथा **(लीनौ इव)** तल्लीन के सदृश **(कीलितौ इव)** कीलित किये के सदृश **(स्थिरौ इव)** स्थिर किये के सदृश **(निखातौ इव)** उत्कीर्ण कर दिये के सदृश **(बिम्बितौ इव)** प्रतिबिम्बित किये के सदृश **(तिष्ठतां)** विराजित होवें।

मुनि शब्द वर्तमान काल में रूढ़िवशात् हर साधु के लिये प्रयोग कर दिया जाता है किन्तु मुनि शब्द का अर्थ होता है **''प्रत्यक्ष वेदनो मुनि:''** जो प्रत्यक्ष ज्ञानी होते हैं, जिनके पास केवलज्ञान

मन:पर्ययज्ञान, अवधिज्ञान होता है मुनि कहलाते हैं। चार प्रकार का संघ होता है-ऋषि, मुनि, यति अनगार। मुनि वे कहलाते हैं जो अवधिज्ञानी, मन:पर्ययज्ञानी या केवलज्ञानी हों। ऋषि वे कहलाते हैं जिनके पास विक्रिया आदि अथवा अन्य प्रकार की ऋद्धियाँ हों। यति वे कहलाते हैं जो उपशम श्रेणी पर या क्षपक श्रेणी पर आरोहण करते हैं। अनगार वे कहलाते हैं जो सामान्य साधना करने वाले होते हैं जिनके पास प्रत्यक्ष ज्ञान भी नहीं है, जिनके पास कोई ऋद्धियाँ भी नहीं हैं और जो उपशम या क्षपक श्रेणी पर आरोहण भी नहीं कर रहे। वे सभी अनगार कहलाते हैं।

इस पंचम काल में अभी जितने साधक हैं वे सभी अनगार हैं गृह आदि समस्त परिग्रह का त्याग करके, विषय आरंभ का त्याग करके ज्ञान-ध्यान तप में लीन रहते हैं वे सभी श्रमण अनगार कहलाते हैं। श्रमण शब्द मोक्षमार्ग का श्रम करने वाले एक संन्यासी के लिये कहा जाता है। शिवाशाधर जी जिन्होंने साधुओं के लिये शास्त्र लिखा वर्तमान में शिवाशाधर न कहकर आशाधर कहते हैं। आशाधर का अर्थ होता है-आशाओं को धारण करने वाले और शिवाशाधर का अर्थ होता है-शिव (मोक्ष) की अभिलाषा रखने वाले। उन्होंने 'सागार धर्मामृत' ग्रंथ लिखा जो गृह आदि परिग्रह से सहित हैं वे सागार कहलाते हैं उनके लिये धर्म का अमृत उन्होंने शब्दों में लिखा। दूसरा लिखा-'अनगार धर्मामृत' जो गृह आदि समस्त परिग्रह से रहित हैं उन्हें अनगार कहते हैं। उनके लिये धर्म का अमृत जो आचार्यों की वाणी उन्हें प्राप्त हुयी, अपनी विद्वता के कारण उन्होंने शब्दों के माध्यम से आचार्यों के भावों को लिखकर प्रस्तुत किया।

तो यहाँ पर शब्द है 'मुनीश' मुनीश का आशय जिनेन्द्र भगवान् से है। हे मुनियों के ईश! हे मुनियों के नायक ! हे मुनियों के अधिपति !, हे मुनियों में श्रेष्ठ ! ये सभी नाम ऋषभदेव भगवान् के 1008 नामों में आते हैं उनकी इस प्रकार स्तुति की गयी है तो यहाँ कह रहे हैं।

'पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठितां सदा'

'मुनीश' जिनेन्द्र भगवन् ! आपके दो चरण कमल मेरे हृदय कमल में सदा तिष्ठे रहें। सामायिक करने वाला साधक/योगी कह रहा है हे जिनेन्द्र देव ! मेरे हृदय में रहें। एक क्षण भी कभी ऐसा न आये जब मेरा चित्त आपके चरण कमल से खाली हो। पूजा करने के उपरांत भी आप पढ़ते हैं, साधक समाधि भक्ति में पढ़ते हैं-

तव पादौ मम हृदये, मम हृदये तव पदद्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावद् यावन्निर्वाण सम्प्राप्ति:॥७॥

और हिन्दी में आप पढ़ते हैं-

तव पद मेरे हिय में मम हिय तेरे पुनीत चरणों में।
तबलों लीन रहूँ प्रभू जबलों न पायो मुक्ति पद मैंने॥

जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमल मेरे हृदय में लीन रहें ऐसा प्रत्येक पूजा करने वाला भक्त, उपासक कहता है, ऐसा प्रत्येक महाव्रती साधक भक्ति करते समय कहता है, ऐसा प्रत्येक सामायिक करने वाला चाहे अणुव्रती, महाव्रती हो वह कहता है। क्यों कहता है ? क्योंकि आपके 'पद' ऐसे हैं उनकी महिमा बड़ी विचित्र है, अनुपम है और ये चरण कमल जब मेरे हृदय में रहेंगे तब नि:संदेह मैं संसार सागर में डूब नहीं सकता। आपके चरण कमलों में ऐसी शक्ति है कि जिसके हृदय में पहुँच जाते हैं वह आत्मा संसार सागर से पार हो जाती है। कैसे? आपके चरण कमल हवा की तरह से हैं यदि कोई ट्यूब बिना हवा के नदी-समुद्र में डाल दिया जाये तो डूब जायेगा उस ट्यूब में यदि हवा भर दी जाये तो वह डूबेगा नहीं चाहे कितना ही समय निकल जाये। ऐसे ही हे जिनेन्द्र प्रभु ! यदि आपके चरण कमल मेरे हृदय में विराजमान हो गये तो मेरा चित्त संसार में डूब नहीं सकता।

दो में से एक चीज हो सकती है या तो मेरे हृदय में आपके चरण रहेंगे, नहीं तो मेरे हृदय में संसार रहेगा। यदि चरण रहेंगे तो संसार नहीं रह सकता और संसार रहेगा तो आपके चरण नहीं रह सकते। दो में से एक चीज रहेगी, इसलिये मैं संसार को तो चाहता नहीं आपके चरणों को चाहता हूँ और हे जिनेन्द्र देव ! जहाँ पर आपके चरण होते हैं वहाँ पाप नहीं रहते और जहाँ पर पाप रहते हैं वहाँ पर आप नहीं रहते। तो मैं पाप को नहीं आप को चाहता हूँ। आपको चाहने वाला अपने आपको, अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने में समर्थ हो जाता है। यदि मैं आपको चाहूँगा तो आज नहीं तो कल आप जैसा बन जाऊँगा और यदि मैं आपको नहीं चाहूँगा तो पाप के सागर में डूब जाऊँगा मैंने अनंत काल तो बिता दिया न जाने और कितने काल बिता दूँगा। आपके बिन इस संसार सागर से पार नहीं हो पाऊँगा इसलिये आपके चरण कमल मुझे बहुत आवश्यक हैं। दूसरी बात कह रहे हैं-

आपके चरण कमल तो सूर्य की तरह से हैं यदि क्षितिज पर सूर्य आता है तो इस वसुधा पर अंधकार नहीं ठहर पाता। यदि मेरे क्षितिज में भी आपके चरण कमल आ जायें तो आपके चरण मानो मिथ्यात्व को नष्ट करने वाले हैं। दूसरा अज्ञान के अंधकार को नष्ट करने वाले हैं, असंयम के अंधकार को नष्ट करने वाले हैं। यदि मेरे क्षितिज में आपके चरण आ गये तो 'चरण'-'चारित्र', आचरण आ गया। यदि प्रभु का चरण चाहता है, चारित्र चाहता है तो आ-चरण प्रभुचरण के पास आ जा, गुरु चरण के पास आ जा। जो गुरु व प्रभु चरण के पास आ जाता है वह एक दिन गुरु व प्रभु के आचरण के पास पहुँच जाता है। जो गुरु या प्रभु के चरण से दूर रहता है उसके जीवन में कभी भी गुरु व प्रभु चरण की खुशबू नहीं आती। अरे ! उनके चरणों में तो दिव्य प्रकाश है, वे तो सूर्य की तरह से हैं। इसलिये यहाँ पर कहा-**'दीपिकाविव'**-आपके चरण कमल मेरे हृदय में ठहरें तो कैसे ठहरें-दीपक की तरह सदैव प्रज्ज्वलित आपके चरण ही दिव्य प्रकाश हैं जो हमारे

चित्त के अंधकार को नष्ट करने वाले हैं। उन चरण को प्राप्त करके मैं कुछ नहीं चाहता और ये कहीं छूट न जायें इसलिये कहा हे जिनेन्द्र देव ! मैं आपके चरणों में लीन होना चाहता हूँ। जैसे नमक की डली पानी में लीन हो जाती है, शक्कर दूध में लीन हो जाती है, घी में चिकनाई होती है। जब तक भगवान् का आचरण हमारे अंदर घुला नहीं है तब तक समझो चित्त पूरा धुला नहीं है। जब भगवान् का आचरण हमारे अंदर घुलने लगेगा तो कर्म मल धुलने लगेगा, पाप पंक ठहर नहीं पायेगी।

हे प्रभु ! मेरे चित्त पर आप दीर्घ काल तक रहो। मैं भी आपके चरण कमलों को दीर्घ काल तक अपने हृदय में स्थित करना चाहता हूँ। 'कीलितावि्व' कीलित करके निष्ठा की मजबूत कील ठोंक देता हूँ, भक्ति की कील ठोंक देता हूँ और इतना ही नहीं समर्पण की रस्सियों से आपके चरण कमलों को अपने चित्त में बांध लेता हूँ। श्रद्धा, भक्ति, निष्ठा, समर्पण, विनय की गोंद लाकर उससे अपने चित्त में बहुत मजबूत चिपका देता हूँ। बाहर का फैविकॉल नहीं श्रद्धा, भक्ति, समर्पण का फैविकॉल जिससे आपके चरण कमल कीलित हो जायें। आचार्य महाराज को फिर भी संतोष नहीं हो रहा है। उन्होंने कहा आपके चरणों में लीन ही नहीं होना चाहता हूँ अपितु आपके चरणों को, आचरण को विलीन करना चाहता हूँ घोलना चाहता हूँ तभी मेरी आत्मा परमात्मा बन पायेगी। मेरे अंदर भी आप जैसी मिठास आ जायेगी।

हे जिनेन्द्र देव ! आपके दोनों चरण कमल मेरे चित्त में केवल लीन, कीलित, विलीन ही न हों, आपके चरणों की छत्र छाया में ही मेरा चित्त न रहे, मेरा चित्त आपके चरण रूपी शक्कर में ही घुले मिले नहीं, अपितु कहा जैसे-पाषाण पर उकेर करके मूर्ति बनायी जाती है, खोदकर के उत्कीर्ण किया जाता है, वह पाषाण टूट जाये किन्तु उकेरे हुये चित्र हटते नहीं, धातु को ढाला जाता है पिघलाकर के, डाई बनाकर के जो छाप दिया जाता है उस सिक्के-यंत्र को कितना भी धोलो या साफ करो वह सहज साफ नहीं होता है ऐसे ही मैं अपने चित्त की पाषाण शिला पर आपके दोनों चरण कमलों को उकेर करके रखना चाहता हूँ।

जैसे कि अंतिम मुकुटबद्ध राजा सम्राट चन्द्रगुप्त मुनिदीक्षा लेने के उपरांत आचार्य भद्रबाहु स्वामी की जब समाधि हुयी उसके उपरांत एक पाषाण की शिला पर उनके चरणों को उकेर कर के बारह साल तक चरणों की पूजार्चना करते रहे। ऐसे ही मैं भी अपने चित्त में आपके चरणों को उकेरना चाहता हूँ, आपके चरणों को उत्कीर्ण करना चाहता हूँ। ऐसे ही अपनी आत्मारूपी चट्टान पर हे भगवान् ! मैं तो आपके चरणों को उकेरुँगा जैसे चक्रवर्ती उकेरता है अपनी प्रशस्ति वृषभाचल पर्वत पर। दूसरी बात-

मेरे चित्त रूपी निर्मल जल में आपके चरणों का प्रतिबिम्ब सदैव झलकता रहे। जैसे आकाश में चन्द्रमा चमकता है और यदि नीचे जल भरकर थाली रख दी जाये तो चन्द्रमा का बिंब उस थाली में दिखायी देता है वैसे ही आप तीन लोक के चन्द्रमा की तरह से चमक रहे हैं, आपका बिम्ब मेरी चित्तरूपी थाली में सदैव रहे। हे जिनेन्द्र देव ! आपका बिम्ब प्रतिबिम्बित रहे, मैं आपके बिम्ब को देखकर आप तक पहुँच जाऊँगा, यदि आपका बिम्ब मेरे पास न रहेगा तो मैं आपके पास तक कैसे आऊँगा। मैं एक सामायिक रूपी पगडंडी के सहारे समता के अथाह सागर तक पहुँच जाऊँगा आपको प्राप्त कर लूँगा। यदि मुझे सामायिक की पगडंडी भी नहीं मिलेगी तो मैं आप तक कैसे पहुँच पाऊँगा ? समता रूपी सूर्य की किरण यदि मुझे नहीं मिलेगी तो मैं केवलज्ञान रूपी सूर्य तक कैसे पहुँच पाऊँगा ? हे प्रभु ! आपके चरणों के प्रसाद से ही मैं आप तक पहुँच सकता हूँ इसके बिना पहुँच नहीं सकता।

मैं तुम तक कैसे आ पाता, मुझको चरण मिले ही कब थे।
जो ले आये मुझे यहाँ तक, वे भी चरण तुम्हारे ही थे॥

यदि यहाँ तक कोई साधु बनकर आया है तो वह गुरु, प्रभु के चरणों का सहारा लेकर ही आया है बिना चरण के कोई कैसे चलेगा। चरण जब भी मिलते हैं उस चारित्र की प्राप्ति गुरु के पास ही होती है और मुझे साधु, उपाध्याय, आचार्य जो कुछ भी बनाया भगवान् के चरणों का ही प्रसाद है।

घुटनों के बल चलते-चलते पैर खड़े हो जाते हैं।
छोटे-छोटे नियम एक दिन बहुत बड़े हो जाते हैं॥

बालक पहले घुटनों के बल चलता है फिर खड़ा होता है, गिरता है, चलता है, फिर गिरता है लड़खड़ाता है किन्तु माँ की अंगुली का सहारा मिल जाये, पिता का सहारा मिल जाये तो बालक बढ़ता चला जाता है। ऐसे ही जब माँ जिनवाणी का सहारा मिलता है, परमपिता परमात्मा का सहारा मिलता तो साधक भी मोक्षमार्ग पर बढ़ता चला जाता है। यदि पिता लम्बे हैं तो बेटा पिता के पैर पकड़ लेता है और धीमे-धीमे चलता है। तो हे जिनेन्द्र देव ! मैं भी आपके चरण को पकड़कर ही चलूँगा, माँ झुककर अंगुली पकड़ती है मैं भी अंगुली पकड़ के चलूँगा।

कौवे के माँस का त्याग करने वाला वह खदिरसाल भील तीर्थंकर बनेगा। वह पुरुरवा भील मांस का त्यागकर वर्तमान में महावीर स्वामी हुये। एक दिन का नियम आगे क्या फल दिखाए कह नहीं सकते। आदमी जब खड़ा होता है उससे पहले घुटनों के बल चलता है, तीन पहिये की गाड़ी के सहारे चलता है पहिये आगे चलते हैं तो वह भी पकड़ कर आगे चलता है। वह तीन पहिये की गाड़ी क्या है व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन व ज्ञान वह है जिस

पर वह मजबूती से हाथ रखे हुये है सम्यक्चारित्र तीसरा पहिया है जो आगे-आगे चलता है। महानुभाव ! जीवन में यदि छोटे-छोटे नियम भी आते हैं वे छोटे-छोटे नियम भी नियम से आगे कल्याण करने वाले होते हैं। इसलिये यहाँ पर कहा-हे जिनेन्द्र देव ! आपके चरण कमल सदा मेरे हृदय में विद्यमान रहें।

हे प्रभु ! मेरे हृदय में तो अंधकार ही अंधकार भरा पड़ा है। महातम नाम की सप्तम पृथ्वी में अंधकार है उसे दूर करने का कोई उपाय नहीं, किन्तु मेरे चित्त में भी अनादि काल से अंधकार विद्यमान है उसे दूर करने का उपाय है वह है आपके 'चरण कमल''। वहाँ पर सूर्य चाँद आदि नहीं जा सकते किन्तु मेरे चित्त में तो सूर्य चाँद की तरह आपके चरण आ सकते हैं और जब आ रहे हैं, मैंने आपके चरण कमलों से परिचय प्राप्त कर लिया है जब ये चन्द्रार्क की तरह से दोनों चरण कमल मेरे हृदय में आ गये अब मैं कैसे जाने दूँ। एक बार प्रकाश आपने दे दिया है अब अंधकार में कैसे भटकूँ। एक बार जब अमृत का स्वाद ले लिया है तो जहर को क्यों पीऊँ। महानुभाव ! यहाँ पर आचार्य महोदय ने इस काव्य में यही बात कही है-

हे जिनेन्द्र देव ! मेरे हृदय में आपकी भक्ति विद्यमान रहे और ध्यान रखना भक्ति तभी सही जाग्रत होती है जब आप सिर्फ भक्ति ही भक्ति करते हैं। यदि दूसरा काम करते हैं तो भक्ति जाग्रत नहीं हो सकती। यदि जिनेन्द्र भगवान् को चुन लिया है, मन उसी में लगा लिया है तो 100 प्रतिशत आपको भगवान् ही भगवान् दिखाई देंगे। भक्तों को आठों याम, हर पल, हर क्षण, उठते-बैठते, खाते-पीते भगवान् ही दिखाई देता है। जैसे मीरा पागल हो गयी थी श्री कृष्ण की भक्ति में, जैसे चन्दनबाला को महावीर ही महावीर दिखाई देते थे, जैसे सबरी राम ही राम को देख रही थी ऐसे ही भक्त को सब जगह भगवान् ही भगवान् दिखाई देते हैं। यदि भगवान् में लीन नहीं हुये तब तो वह औपचारिकता निभा सकता है सामायिक की, स्वाध्याय की, भक्ति की, कायोत्सर्ग की, प्रत्याख्यान की, प्रतिक्रमण की सबकी औपचारिकता निभाई जा सकती है किन्तु लीनता के बिना शाश्वत रसास्वादन नहीं लिया जा सकता।

महानुभाव ! धनंजय कवि पूजा में लगे पत्नी का समाचार दो बार आया, कोई ध्यान नहीं दिया भक्ति से पूजा करता रहा, तीसरी बार जब नौकरों द्वारा मृत पुत्र वहीं भिजवा दिया कि लो ये रहा पुत्र मर गया है, धनजंय कवि कहते हैं हे भगवान् ! मैंने पूजा का संकल्प लिया है घर का त्याग करके आया हूँ पुनः पूजा सम्पन्न हुयी उन्होंने कहा प्रभु ! मैं किसी वैद्य हकीम के पास क्यों जाऊँ इसके जहर को उतारने के लिये, आपका नाम ही सबसे बड़ी औषधि है। बस ! आपका गंधोदक लेकर ही छींटे लगाता हूँ और जैसे ही छींटे लगाये बालक ऐसे उठकर बैठ गया जैसे अभी सोकर के उठा है।

महानुभाव ! ये भक्ति में लीनता होती है भक्त जब प्रभु चरणों की भक्ति में लीन हो जाता है तब उस समय सिर्फ भक्त और भगवान् ही रह जाते हैं गुणों का साक्षात्कार हो जाता है। जब तक भक्त और भगवान् आमने सामने नहीं होते बीच में शंका, कांक्षा होती है या अन्य कोई भावना दुर्भावना होती है तब तक भक्त और भगवान् का साक्षात्कार नहीं होता। जब साक्षात्कार हो जाये तब देखो कितना आनंद आता है। भक्ति करने वाला भक्त नियम से भगवद् अवस्था को प्राप्त करता है।

महानुभाव ! एक महिला अपने पति से मिलने के लिये बन्दरगाह पर जा रही थी, संभव है वह किसी बैंक आदि में जॉब करती थी। शाम को बंदरगाह से जहाज जाने वाला था, उसका पति भी वहाँ जॉब करता था। जहाज जब रवाना हो जायेगा तो छः महीने बाद आयेगा, उसने बैंक से छुट्टी लेनी चाही किन्तु मिली नहीं, जैसे ही शाम को बैंक से लौटी-वह सीधे शीघ्रता से अपने पति से मिलने के लिये दौड़ती चली आ रही है, पहुँच गयी, मिली, वार्तालाप हुआ और लौटकर आयी। प्रातःकाल राज दरबार से समाचार आया तुम्हें बादशाह ने बुलाया है। वह पहुँची-कहा हुकुम कीजिये कोई गुनाह हुआ तो क्षमा कीजिये। हाँ ! गुनाह हुआ है-यह मौलवी कहता है संध्या काल में तुमने इसकी चादर पर पैर रखा था जब वह नमाज पढ़ रहा था, इबादत कर रहा था। वह बोली-बादशाह ! मुझे नहीं मालूम ये मौलवी कौन है? ये कहता है तो ये ही जाने किन्तु ये बात सत्य है कि मैं उस रास्ते से गयी तो थी बंदरगाह तक। मौलवी कहता है-उस समय तुमने हरी साड़ी पहनी थी-बोली हाँ यह भी ठीक है। वह बोला-तुम्हारा पैर मेरी चद्दर पर पड़ा था, वह बोली पड़ गया होगा मैंने नहीं देखा। वह कहती है-

मैं राची तू ना रच्यो तू का रखे सुजान
पढ़ि कुरान बोरा भयो ना राच्यो रहमान।

मैं अपने पति के प्रेम में रंगी हुयी थी, इसलिये मुझे तेरी चादर और तू दिखाई नहीं दिया, यदि तू भी अपने रहमान के रंग में रंगा होता तो तुझे मैं दिखाई नहीं देती तुझे रहमान ही दिखाई देता।

भक्ति तो इसी का नाम है 'उस ही में रमना' तू तो रहमान से चर्चा कर रहा था फिर तुझे कैसे मालूम चल गया कि मैं हरी साड़ी पहनकर गयी, मैं ही गयी, मेरा चेहरा भी पहचान लिया, तुझे समय भी पता है इसका मतलब रातभर तू ये ही चिंतन करता रहा। जो किसी और में लीन रहता है वह अपने प्रभु परमात्मा में लीन नहीं रह सकता है। जो प्रभु परमात्मा में लीन हो जाता है वह किसी और में लीन नहीं हो सकता।

अर्हत् भक्ति सदा मन आने, सो जन विषय कषाय न जानें।

जो व्यक्ति विषय-कषायों को जानता है तो अर्हत् भक्ति को नहीं जानता, जो अर्हद् भक्ति को जानता है वह विषय कषायों को नहीं जानता।

वह इबादत इबादत नहीं जिसमें रहे होश सर उठाने का,
इबादत और वाकायदे होश तौहीन-ए-इबादत है।

यदि भगवान् के सामने माथा रख दिया तो होश कहाँ रहा भगवान् में डूब गया, यदि भगवान् की पूजा के समय भी यह होश है कि कौन आ रहा है कौन जा रहा है तो वह इबादत की तौहीन है।

यहाँ भक्त कह रहा है भगवान् से-मैं आपकी भक्ति में लीन हो जाऊँ, जब लीन हो जाऊँगा आपकी निकटता मुझे आपके गुणों से प्रभावित करेगी, नदी के समीप खड़े हो जाने से शीतलता का आभास होता है, पुष्प वाटिका के पास सुगंधि का आभास होता है इसी प्रकार भगवान् मैं आपके निकट पहुँच जाऊँ और मुझे आपका आभास नहीं हो रहा है तो समझ लीजिये मैं अभी आपके पास आया नहीं। महानुभाव ! तो प्रभु के समीप पहुँचो, जिसको जो प्यारा होता है उसके पास बैठने से उसे अच्छा लगता है। जब भक्त का भगवान् से एकीभाव हो जायेगा तो उसे वहीं बैठना अच्छा लगता है और संतों के पास बैठने से चाहे संतों जैसी प्रवृत्ति तुम्हारी हो पाये या न हो पाये एक बात तय है कि संतोषी प्रवृत्ति तो अवश्य हो जाती है।

एक साधक ध्यान कर रहे थे जंगल में, तभी शेर आया और उन्हें सूंघकर चला गया। उस समय चेला भी साथ में था। वह स्वयं तो पेड़ पर छिप गया किंतु उसने देखा कि गुरु के पास शेर आया और वे ध्यान में बैठे रहे और शेर लौट कर चला गया। शेर जब चला गया तो चेला गुरु के पास आया कहने लगा-गुरुजी-गुरुजी अभी आपके पास शेर आया था सूंघकर चला गया। गुरु जी आपको डर नहीं लगा बोले नहीं लगा। तब तक एक मच्छर आया और गुरु जी को काटा, गुरुजी ने मच्छर को उड़ाया और उनकी चीख सी निकल गयी। चेला बोला-गुरु जी आप कैसे हैं अभी शेर आया तो डरे नहीं मच्छर काट गया तो चीख निकल गयी। गुरु जी ने कहा-''बेटा बात ऐसी है जिस समय शेर आया था उस समय मैं परमात्मा के पास था, मच्छर ने काटा है तो मैं तेरे पास हूँ। तो तू जैसा है वैसी अनुभूति हो रही है।'' महानुभाव ! जिसके पास रहते हैं वैसी अनुभूति रहती है।

यहाँ पर चतुर्थ काव्य में भगवान् के चरणों की समीपता की भावना भायी है और आप सभी लोग भी उनके चरणों को स्पर्श करके तो देखो, प्रीति, भक्ति अनुराग बढ़ेगा ही बढ़ेगा। जितना अनुराग बढ़ेगा आप और भगवान् एक मेक हो जायेंगे तो भगवान् भी कल आप से कह देंगे मेरी सम्पत्ति तेरी। भक्त पूछेंगे भगवान् ये वैभव किसका है भगवान् कह देंगे ये आपका ही है, तो आप भी अपने तीन लोक के वैभव को प्राप्त करने में समर्थ हो जायेंगे। इसी शुभ भावना के साथ मैं अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

आत्मधर्म-क्षमा

हम विगत दिनों से चल रही वाचना में आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी जी की कृपादृष्टि से निःसृत धर्मामृत का पान कर रहे हैं। चार काव्य देख लिये। ऐसा लगता है मानो चारों अनुयोगों का सार मिल गया हो। हमारे जीवन की चार दशायें ही सार्थक हो गयी हों। ये चार काव्य जिंदगी के चार क्षणों को सार्थक करने वाले हैं जहाँ पहले काव्य में चार भावनाओं का वर्णन किया, दूसरे काव्य में सामायिक का स्वरूप बता दिया शरीर अलग है आत्मा अलग है, उदाहरण भी दिया तलवार का। पुनः तीसरे काव्य में आचार्य महोदय ने बताया कि समता भाव क्या है? सुख-दुःख में समान यानि समता भाव रखना और चौथे काव्य में देखा-कि हे जिनेन्द्रदेव ये सब चीज मुझे तभी प्राप्त हो सकती हैं जब आपके चरण कमल मेरे हृदय में विराजमान हो जायेंगे।

आकाश में चाहे कितने ही तारे टिमटिमाते रहें यदि सूर्य चाँद ही न हों तो आकाश का क्या महत्व है। दिन में सूर्य रात्रि में पूर्ण चाँद हो तो वह रोशनी भी देता है शांति भी देता है, ऐसे ही हे जिनेन्द्र देव ! सूर्य चन्द्रमा एक साथ दिखायी नहीं देते हैं क्वचित् कदाचित् पूर्णमासी के दिन संध्याकाल में दिखाई दे जायें किन्तु आपके दोनों चरण कमल तो एक साथ ही रहते हैं, वे मुझे सदैव प्राप्त होते रहें। जब जिनेन्द्र भगवान् विहार करते हैं तो उनके विहार के समय 225 कमलों की रचना होती है।

जिस कमल पर वे हैं उसके दाँयी ओर 15 कमलों की सात पंक्ति (15x7=105), बाँयी ओर 15 कमलों की सात पंक्ति (15x7=105)। कुल 210 और जिस कमल पर वे हैं उसके आगे सात, पीछे सात कमल (7+1+7=15) इस प्रकार कुल कमल (210+15) 225 हैं।

तो हे जिनेन्द्र देव ! दोनों चरण कमल आपके हमें प्राप्त हों। एक पद के पीछे तो दुनिया पड़ी है यदि द्विपद मांग लें तो संभव है एक पद की प्राप्ति ही हो जाये। कहा जाता है कि श्रीरामचन्द्र जी लंका को जीतकर लक्ष्मण व सीता के साथ जब अयोध्या के अंदर पहुँचे, तो उन्होंने एक महोत्सव रखा 'कृतज्ञता महोत्सव'। ऐसे महोत्सव आज कम मनाये जाते हैं मुझे लगता है आज इन महोत्सवों की आवश्यकता है। आज उपलब्धि महोत्सव मनाये जाते हैं, विजय महोत्सव मनाये जाते हैं अन्य भी मनायें जाते हैं किन्तु कृतज्ञता महोत्सव कम मनाये जाते हैं। यदि कृतज्ञता महोत्सव मनाने शुरु कर दिये जायें तो संसार में उपकार करने वालों की कमी नहीं आयेगी और उपकार लेने वालों की भी कमी न आयेगी। रामचन्द्र जी ने उस महोत्सव में कहा-आप सभी ने जो हमारा सहयोग किया मैं आप सभी के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

सुग्रीव, विभीषण, जामवंत इत्यादि सभी राजा-महाराजा जो-जो भी मिले थे सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की। इसके उपरांत कहने लगे मुझे मात्र कृतज्ञता ज्ञापित करने से संतोष नहीं मिल

रहा है इसलिये मैं आपको स्मृति रूप कुछ देना चाहता हूँ। विभीषण से कहा-लंका का राज्य तुम्हें दिया। सुग्रीव से पूछा-तो उस को किष्किंधापुर का राज्य दिया, अन्य-अन्य विद्याधरों ने राज्य मांग लिये। हनुमान से भी कहा कि आप भी कुछ मांग लें, हनुमान जी ने कहा-मैं एक पद नहीं चाहता मुझे दो पद चाहिये। रामचंद्र जी ने कहा कि-तुम्हारा सहयोग अविस्मरणीय है अतः जो भी पद चाहे मांग लो। हनुमान जी अपने आसन से खड़े हुये और श्री रामचन्द्र जी के दोनों पदों को पकड़ लिया बोले-मुझे ये पद चाहिये और कोई पद नहीं चाहिये। यह देख सभी अचंभित रह गए, मुस्कुराने लगे। तो जैसे हनुमान जी ने रामचन्द्र जी के दो पद माँगे, ऐसे ही हमने भगवान् से चौथे काव्य में उनके द्विपद अपने हृदय कमल में मांगे।

जिनपद, अर्हंत-सिद्ध पद तो बाद के हैं, आचार्य, उपाध्याय, साधु या श्रावक ये सब पद तो बाद के हैं और संसार के जितने पद हैं वे सब तो आपद हैं, उन पदों के साथ आपत्ति है किन्तु जिनेन्द्र भगवान् के दो पद जहाँ होते हैं वे दोनों पद निरापद हैं उनमें कोई आपद नहीं है। तो यहाँ पर आचार्य भगवन् ने भगवान् के दो पद माँगे और जब उन्होंने माँगे तो हमारी आत्मा भी कह उठी-हमें भी जिनेन्द्र प्रभु के दो चरण चाहिये। हम जो कुछ भी माँगते हैं उसमें ठगाये जाते हैं अर्थात् वह नष्ट हो जाता है या हम नष्ट हो जाते हैं। जो भी धन वैभव माँगा या तो वह नष्ट हो गया या हमारा शरीर नष्ट हो गया भोगने वाला अथवा स्त्री पुत्रादि माँगे तो या तो उनका वियोग हो गया या हमारा वियोग हो गया अथवा और भी कुछ माँगा तो वह शाश्वत नहीं मिल पाया इसीलिये हम शाश्वत वैभव को प्राप्त करने के लिये जिनेन्द्र भगवान् के दो चरण माँगते हैं और जिसके पास दो चरण कमल हैं उसे उनके माध्यम से तीन लोक का राज्य मिल जाता है। जिन पद माँगने से स्वपद स्वयं ही मिलता है।

महानुभाव ! पाँचवा काव्य प्रारंभ करते हैं।

जिनेन्द्र पद हमें मिलें पर पहले उसके लिये अपना चित्त तो निर्मल बना लो। भगवान् को वेदी पर विराजमान करते हैं यदि वेदी ही अप्रतिष्ठित है तो उस पर प्रतिष्ठित भगवान् को विराजमान नहीं किया जाता। सबसे पहले मंदिर की प्रतिष्ठा होती है उससे भी पहले उस भूमि का शिलान्यास होता है जहाँ मंदिर बनना है, क्योंकि यदि वेदी या मंदिर अप्रतिष्ठित है तो प्रतिष्ठित भगवान् भी तुम्हें फल देने में समर्थ न हो पायेंगे, तुम्हारा मन ही नहीं लगेगा। अशुद्धपात्र में शुद्ध वस्तु डाल दो वह भी अशुद्ध जैसी हो जाती है ऐसे ही आपकी चित्तरूपी वेदी अशुद्ध रहेगी तो जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमल विराजमान नहीं हो सकेंगे यदि हो गये तो जिनचरणों से आपको आनंद नहीं आयेगा।

भगवान् कमलासन पर विराजमान होते हैं इससे क्या सिद्ध होता है? इससे यह सिद्ध होता है जिसका हृदय कमल के समान कोमल हो गया, जिसका हृदय कमल के समान संसार से अलिप्त

हो गया, सुन्दर मोहक हो गया उस ही के हृदय में प्रभु परमात्मा का वास हो सकता है। यदि मन समल है तो प्रभु परमात्मा का वास नहीं हो सकता। भगवान् के चरण, कमल कहे जाते हैं। कमल कीचड़ में खिलेगा किन्तु कमल-कमल में मिलेगा। भक्त के हृदय रूपी कमल में ही भगवान् के पद कमल विराजित हो सकते हैं।

जिसका चित्त रूपी कमल खिल गया उसे जिनेन्द्र भगवान् का चरण कमल भी मिल जायेगा। कमल का आशय यदि व्युत्पत्ति अर्थ में देखें साहित्य की भाषा में 'क'-जल 'मल'-गंदगी अर्थात् जल की गंदगी कमल है। किंतु 'क' का अर्थ आत्मा भी है तो आत्मा का मल क्या है? वह है कर्म। पुण्य कर्म भी पाप कर्म भी। ये कर्म और उनका फल भी कमल अर्थात् आत्मा का मल है। किंतु यदि ये पुण्य रूप कमल है, तब इस कमल पर ही हम संसार के तीन लोक का वैभव प्राप्त कर सकते हैं। इसके बाद जब तुम ही तीन लोक के नाथ बन जाओगे फिर तुम्हें कमल की आवश्यकता न रहेगी, अरिहंत भगवान् कमल पर विराजमान होते हैं सिद्ध विराजमान नहीं होते। अरिहंत भगवान् संसार में रहते हैं सिद्ध भगवान् का कोई समवशरण नहीं होता।

महानुभाव ! कमल जैसा हृदय बनाने पर भगवान् के चरण कमल की प्राप्ति हो सकती है। सेठ-सेठ के साथ, राजा-राजा के साथ बैठता है सबकी अलग-अलग संगति होती है ऐसे ही भगवान् के चरण कमल चाहिये तो अपने हृदय को भी कमल बनाइये। किंतु वह कमल निर्मल कैसे बने? संसार के पदार्थों से अलिप्त अनासक्त कैसे बने ? इसकी विधि बता रहे हैं 5वें काव्य में आचार्य महोदय कहते हैं-

एकेन्द्रियाद्या यदि देव ! देहिनः प्रमादतः संचरता यतस्ततः।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडितास्, तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा॥५॥

यदि एक इन्द्रिय आदि देही, घूमते-फिरते मही,
जिनदेव ! मेरी भूल से, पीड़ित हुये होवें कहीं।
टुकड़े हुये हों मल गये हों चोट खाये हों कभी,
तो नाथ वे दुष्टाचरण मेरे बनें झूठे सभी॥5॥

अन्वयार्थ-(**देव**) अर्हन्तदेव ! (**यदि**) यदि मैंने (**प्रमादतः**) प्रमाद के वशीभूत होकर (**यतस्ततः**) इधर-उधर (**सञ्चरताः**) भ्रमण करते हुये (**एकेन्द्रियाद्याः**) एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के (**देहिनः**) जीवों को (**क्षताः**) क्षुति पहुँचाई हो, (**विभिन्नाः**) छिन्न-भिन्न किया हो, (**मिलिताः**) परस्पर में मिलाया हो, (**निपीडिताः**) पीड़ित किया हो, (**तदा**) तो (**तद्**) वह मेरा (**दुरनुष्ठितं**) खोटा अनुष्ठान (**मिथ्या**) झूठा/निष्प्रयोजन (**अस्तु**) होवे।

'एक इन्द्रिय आदि देही'-एकेन्द्रिय को आदि लेकर के केवल एकेन्द्रिय जीव की रक्षा नहीं करनी एकेन्द्रिय को आदि लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक सबकी रक्षा करनी है, नहीं तो आप कहो मैं एक इन्द्रिय जीव की रक्षा तो करता ही हूँ, मैं घास पर पैर नहीं रखता किन्तु पंचेन्द्रिय को मैं मारने में चूकता नहीं हूँ। तुमने चाहे पंचेन्द्रिय की हिंसा की या दो, तीन, चार इन्द्रिय की, हिंसा तो हिंसा है और दूसरी बात ये है कि यदि आपने हिंसा नहीं भी की किन्तु आपके मन में हिंसा का भाव आ गया तो आपको हिंसा का पाप लग गया। यदि हिंसा का भाव नहीं आया है तो मुनिमहाराज भी विहार कर रहे हैं देखकर के पैर रखा था किंतु कदाचित् उसमें जीव आ गया, प्रमाद नहीं था तो उन्हें अल्प पाप लगेगा या पूर्ण सावधान थे तो बिल्कुल भी पाप न लगे। किंतु मुनिराज विहार कर रहे थे बिना देखकर चलने में जीव मरे या न मरे तब भी प्रमादवश पाप लगेगा ही लगेगा।

यदि श्रावक सपने में भी किसी व्यक्ति को मार देता है तब भी पूरा पाप लगेगा, सपने में यदि किसी की सेवा या उपकार करता है तो पुण्य भी पूरा मिलता है। क्यों? क्योंकि कर्ता ही कर्म का बंध करता है, तुम करने वाले हो तुम्हारी आत्मा में तो भावों से क्रिया हो रही है, चाहे सपने में है तो क्या हुआ जीव मरे या न मरे मारा तो तुमने है ही। मारने वाले को तो कर्म बंध होगा वह जीव मरे या न मरे। मारने की प्रक्रिया तो बाद में प्रारंभ होगी, मारने का भाव भी आ गया तब भी मारने वाले को पाप का बंध होगा। तो यहाँ एकेन्द्रिय आदि की रक्षा का भी भाव रखा ये नहीं कहा कि तुम पंचेन्द्रिय पशुओं की ही रक्षा करो, जो उपयोगी हैं उनकी रक्षा करो। अपने परिवार की रक्षा करो, सामायिक करने वाले व्यक्ति के लिये कहा-सबसे पहले छोटे जीव की रक्षा का भाव रखो यदि छोटे की रक्षा करोगे तो जीवन में कभी बड़े जीव की हत्या कर न सकोगे। जो व्यक्ति छोटे से पाप से डरता है वह बड़े पाप कर ही नहीं सकता। तो यहाँ कहा जिनेन्द्र देव ! एक इन्द्रिय आदि जो जीव हैं **प्रमादतः संचरता यतस्ततः** प्रमाद पूर्वक मेरे गमन करने में, चलने में, उठने, बैठने, खाने, पीने बोलने आदि में यदि मैंने उन्हें कष्ट दिया हो, एकत्र किया हो या अलग कर दिया हो, धूप से छाया में किया हो, उन्हें कष्ट हुआ हो।

आज आप और हम संज्ञी पंचेन्द्रिय बन गये इसलिये छोटों का ख्याल ही भूल गये। कभी हम भी तो एकेन्द्रिय थे, कभी हम भी तो जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक थे। कभी हम भी तो दो, तीन, चार इन्द्रिय थे, कभी हम भी तो असंज्ञी थे, देव-नारकी थे या सामान्य मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक थे, गर्भ में ही मृत्यु को प्राप्त हो गये जन्म भी न हो पाया, अन्तर्मुहूर्त में ही मरण को प्राप्त हो गये। महानुभाव ! ऐसी दशा हमारी भी तो थी किंतु व्यक्ति जब अहं भाव से भर जाता है, उच्च आसन मिल जाता है, अपने आपको ऊँचा मान लेता है उसकी दृष्टि ऊँची उठ जाती है तो नीचे वालों का ख्याल रखना भूल जाता है। ऊँची उठी दृष्टि संहारक होती है इसीलिये अपने वीतरागी भगवान् की मुद्रा नासा दृष्टि होती है।

ऊर्ध्व दृष्टि से राजा श्रेणिक हाथी पर बैठकर चले जा रहे हैं चाहे भले ही भगवान् महावीर स्वामी के समवशरण में जा रहे हैं। मैं मगधाधिपति बिम्बसार श्रेणिक वीर प्रभु की वंदना करने जा रहा हूँ मैं उनकी सभा का मुख्य श्रोता और साथ में सैकड़ों-हजारों की भीड़, कोई मेंढक उनके हाथी के पैर के नीचे दबकर मर गया। अरे ! कहाँ मालूम चल रहा था राजा श्रेणिक को, यदि वह मेंढक देव बनकर समवशरण में नहीं आता तो कैसे मालूम चलता, कैसे आप पढ़ते शास्त्रों में कि राजा श्रेणिक के हाथी के पैर के नीचे दबकर ये मेंढक मर गया, वो तो देव बनकर आ गया जिसे देखकर श्रेणिक को कौतुहल हुआ कि इस देव के मुकुट में मेंढक का चिह्न क्यों है? तब इन्द्रभूति गौतम गणधर ने पूरा वृतान्त बताया।

महानुभाव ! ऐसे ही जब आप अपनी गाड़ी से अच्छी स्पीड से हाईवे पर चलते हो तो पंचेन्द्रिय जीव को बचाना भी मुश्किल हो जाता है, सड़क पर गिजाईयों का ढेर लगा है वे 100 हैं या 1000, कितनी चीटियों का ढेर लगा है और भी छोटे-छोटे जीव होते हैं किंतु आपकी गाड़ी तो स्पीड से जा रही है कब वे गाड़ी से दबकर मर गये आपको कहाँ पता चलता है। फिर आप कहते हैं महाराज श्री मैंने जब से होश सम्भाला है इस जीवन में किसी की हिंसा नहीं की, हत्या नहीं की फिर मैं दु:खी क्यों हूँ? मैंने तो ऐसा कोई पाप ही नहीं किया। अरे ! तो फिर तुम पाप किसको कहते हो?

नाली में जब सर्फ-सोड़े का पानी जाता है, यदि वह पानी तुम्हारे घाव पर लगाया जाये तो मालूम पड़े कि तेजाब सा लग रहा है वह जो नाली में जा रहा है, उससे कितने जीव मर रहे हैं। फिर पाप किसे कहते हैं? शादी-विवाह में आतिशबाजी से कितने जीव मर जाते हैं क्या इससे पाप नहीं होता है। केवल अंडा माँस शराब का सेवन ही अभक्ष्य नहीं है रात्रि में भोजन करना भी असंख्यात जीवों को खाना है। आप होटल का बासा, तिबासा भोजन, अचार आदि खाते हैं इनमें कितने असंख्यात जीव उत्पन्न हो जाते हैं क्या उसमें पाप नहीं होता। यदि आप विषयों का सेवन करते हैं आचार्य कहते हैं एक बार के अब्रह्म सेवन में 9 लाख संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्यों की हत्या हो जाती है और कोई आचार्य कहते हैं 9 कोटि की हत्या हो जाती है। इतने को भी आप पाप नहीं मान रहे मुझे तो आश्चर्य हो रहा है फिर आप पाप मानते किसे हैं?

एक बूंद अनछने जल का प्रयोग किया उसमें भी असंख्यात जीव हैं यह वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध किया है। आप कहीं भी किसी भी प्रकार से देखो आप कितने पाप करते हो। आप कहते हो महाराज जी मैं तो अष्टमी चौदस को हरी भी नहीं खाता। क्यों? हरी तो टूट कर के आ गयी वह तो प्रासुक करके खा लो कोई दोष नहीं है। सबसे बड़े महादोष तो ये हैं, तुम बस केवल एक दोष को बचाने के लिये पर्दा डाल लेते हो कि मैं इतना पुण्यात्मा, धर्मात्मा हूँ कि अष्टमी को हरी

तक नहीं खाता। घी, दूध, तेल तो खाते हो उसमें तो आसक्ति है ही तो जब अन्न खाते हो तो हरी ने क्या बिगाड़ दिया? परन्तु आपका एक पर्दा हो गया जिसकी आड़ में पाप कर सको।

बड़े-बड़े पापों से पहले बचो फिर छोटे पापों से बचना। छोटे-छोटे पापों से बचने का पर्दा डाल लेते हो फिर किसी भी त्यागीव्रती की अविनय करने का आपका साहस हो जाता है। अरे अष्टमी चौदस को मैं हरी नहीं खाता और ये मुनिमहाराज होकर हरी खाते हैं। फिर आपकी दृष्टि वहाँ पहुँच जाती है। पहले अपने जीवन में संकल्प करो कि मैं जीते जी अपने घर में अंडा-माँस को नहीं घुसने दूँगा, मैं जीते जी अपने घर में शराब की बोतल नहीं आने दूँगा, आतिशबाजी के लिये अपना पैसा खर्च नहीं करूँगा, जीते जी मैं बहुत बड़ी हिंसा नहीं करूँगा, पहले ये संकल्प लो। ऐसा शायद एक भी व्यक्ति नहीं होगा कि जीवन में कभी भाव नहीं आया हो कि मैं इसको मार दूँ और जैन दर्शन कहता है द्रव्यहिंसा ही हिंसा नहीं होती, भावों से की गयी हिंसा भी हिंसा ही कहलाती है। भावों से हिंसा तीव्र होती है द्रव्य से जब करोगे तो रूह काँप जायेगी, हाथ काँपेंगे किन्तु भावों से करने में कभी हाथ नहीं काँपते।

हम तो यहाँ एक इन्द्रिय आदि जीवों से भी क्षमा माँग रहे हैं चाहे वे जीव जल में हैं, वायु में हैं, अग्नि में हैं, पृथ्वी में हैं, चाहे वनस्पति में हैं। यह क्षमा माँगने का कार्य तो तब सार्थक होगा जब बड़े-बड़े जीव जो आँखों से दिखाई दे रहे हैं उनकी रक्षा करना प्रारंभ कर दें। तो महानुभाव ! दूसरों की हिंसा करके चैन की जिंदगी कोई जी नहीं सकता, दूसरे को दुःख देकर सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसलिये आचार्य कह रहे हैं यदि हमने एक इन्द्रिय आदि की भी हिंसा की हो। ये तो बहुत छोटी बात है बस कहने में अच्छा लगता है कि-

यदि एक इन्द्रिय आदि देही घूमते फिरते मही
जिनदेव मेरी भूल से पीड़ित हुये होवे कहीं।

यह कहना बहुत सरल है किंतु वास्तव में अपनी आत्मा से पूछो हम अभी पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा भी छोड़ पाये हैं क्या? जो माँ-सास मंदिर में धर्मात्मा बनती है किन्तु कोस-कोस के अपनी बहू का गर्भपात करा देती है वह सास धर्मात्मा नहीं है। वह तो अपनी बहू पर जुल्म ढा रही है। भले ही अष्टमी चौदस को निर्जलव्रत करती हो कुछ भी करती हो धर्मात्मा नहीं है। किसी जीव के प्राण लेकर के पाप मत कमाओ तुम संसार में किसी को कुछ नहीं खिलाते प्रत्येक जीव अपने पुण्य-पाप से खाता है। जो जीव गर्भ में आता है उसके जन्म लेने से पहले उसकी माँ के आँचल में दूध आ जाता है। जिसने चोंच दी है वह चुग्गा भी देता है, अपने भाग्य पर भरोसा करो। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को भी 13 महीने 8 दिन तक आहार नहीं मिला, भाग्य में होता है तो सब कुछ मिलता है।

एक बार शिवाजी ने कह दिया मैं अपनी जनता का पालन पोषण करता हूँ। रामदास जो उनके गुरु थे उनको ये बात पता चली तो वे आये शिवाजी को समझाने और कहा-वाह शिवाजी ! तूने तेरे राज्य की कैसी व्यवस्था की है, वे शिवाजी के अंहकार को चूर-चूर करना चाहते थे और कहा-शिवा इस चट्टान को तोड़ना, चट्टान को तोड़ा संयोग की बात चट्टान में छोटा सा गड्ढा सा था उस गड्ढे में एक छोटा मेंढक बैठा था उस गड्ढे में पानी भरा था। यह देख गुरु रामदास कहने लगे-वाह शिवाजी वाह! मान गया मैं कि तू कितना बड़ा व्यवस्थापक है, इस मेंढक के लिये इस चट्टान के बीच में भी तूने पानी भर दिया।

शिवाजी कहता है-नहीं गुरु जी, ये व्यवस्था मैंने नहीं की। अरे ! तो पानी कहाँ से आ गया? गुरुदेव मैं नहीं जानता कि कहाँ से आया? कहीं चट्टान में छेद नहीं ये कहाँ से श्वांस लेता है ? मालूम नहीं गुरुदेव, ऐसा लगता है इसकी व्यवस्था तो भगवान् ने की है। भगवान् ने जल दिया, जीवन दिया, श्वाँस दी, इसकी व्यवस्था मैंने नहीं की। मूर्ख ! जब इसकी व्यवस्था भगवान् करता है तो सबकी व्यवस्था भगवान् करता है। तू कुछ नहीं करता है तेरी व्यवस्था भी भगवान् करता है या यूँ कहें कर्म ही भगवान् है इसे इसके भाग्य से मिला है, संसार के प्रत्येक प्राणी को उसके भाग्य से मिलता है फिर तू अहंकार का पोषण क्यों करता है?

कहने का आशय यही है कि प्रत्येक प्राणी को अपने पुण्य-पाप भोगने का अधिकार है। हम दूसरे जीव के निमित्त से पुण्य तो कमा सकते हैं पाप क्यों कमायें ? जो जीवन पुण्य कमाने के लिये मिला है उस समय अपनी झोली पाप से क्यों भरें इसलिये संकल्प पूर्वक हिंसा का त्याग कर दें। महानुभाव ! संकल्पपूर्वक हम किसी वृक्ष के भी प्राण न लें। अपने यहाँ दिया है जमीकन्द का त्याग करो क्यों? क्योंकि जमीकंद निकालने में वह पूरा वृक्ष नष्ट होता है, प्राण निकलते हैं। यदि फल वाले वृक्ष हैं आम, सेब, संतरा आदि के तो वृक्षों से फल टूट कर गिर जाता है। आपने तोड़ भी लिया तो कष्ट तो होता है पूरे प्राण तो नहीं हरे। जमीकंद खाने में पूरे प्राण ले लिये, इसीलिये जमीकंद खाने वाले की कृष्ण लेश्या होती है और दुर्गति का बंध करता है।

महानुभाव यहाँ कह रहे हैं-यदि हे जिनेन्द्रदेव ! मैंने एक इन्द्रिय आदि सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, बादर पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, वनस्पति कायिक, दो, तीन, चार इन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी पंचेन्द्रिय इन सभी को लेकर के 'आदि' कहाँ से लिया सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक जितने भी जीव हैं वे जीव मैंने कहीं भी नष्ट किये हों, संघर्षण किया हो, इकट्ठे कर दिये हों, कहीं लकड़ी से उलटा दिये हों, उनको संतापित किया हो या पेल दिया हो, रगड़ दिया हो, जला दिया हो उन जीवों को कष्ट तो हुआ ही होगा जैसे हमें कोई हाथी अपनी सूंड में लपेटकर फेंक दे तो कैसा कष्ट होगा जो दशा हमारी

होती है वही उनकी भी होती है। तो यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं-कि जब तक मन में करुणा का भाव नहीं आयेगा तब तक सामायिक प्रारंभ नहीं हो पायेगी।

हिंसा का भाव लेकर कोई बैठा है चाहे कितनी ही माला फेर ले, माला तो फिर जायेगी किंतु सामायिक नहीं हो पायेगी। सामायिक तो तब होती है जो मन में लालबत्ती जल रही है उसे हरी कर लो। जब तक हमारी आत्मा में लाल खतरे की बत्ती जल रही है तब तक हमारी सामायिक नहीं चल रही है और जब हरी बत्ती हो गयी समत्वभाव की तो समझ लेना हमारी सामायिक प्रारंभ हो गयी। सामायिक का प्रारंभ कहाँ से होता है? करुणा बुद्धि से होता है जीवों के प्रति करुणा का भाव आता है, तब उसी समय प्रभु परमात्मा के प्रति विनम्रता का भाव आता है भक्ति का परिणाम आता है, धर्म के प्रति श्रद्धा का भाव आता है, प्राणीमात्र के प्रति मैत्री का भाव आता है। ये चारों भाव एक साथ उत्पन्न होते हैं।

हे देव ! मैंने एक इन्द्रिय आदि जीवों को भी पीड़ा दी हो, प्रमाद वश एकत्र किये हों, अलग कर दिये हों। **क्षताविभिन्ना मिलिता निपीडितास्**-नष्ट कर दिया हो, मेरा पैर पड़ गया हो या वस्तु रखने, उठाने में किसी जीव को कष्ट पहुँचा हो, हिंसा हुई हो, विविध प्रकार से अलग या साथ कर दिया हो, चींटी-चींटा, केंचुआ, लट, गिजाई या अन्य प्रकार के कीड़े सब एक जगह इकट्ठे कर दिये हों, कष्ट दिया हो, पीड़ित किया हो, पलंग-कुर्सी को खींच कर लाये, खचेटने में जीवों का घात हुआ हो, कोई भी वस्तु खींच कर लाये नीचे देखा ही नहीं जीव जी रहा है या मर रहा है इस प्रकार पीड़ित कर दिये हों तो हे जिनेन्द्रदेव ! तदस्तु मिथ्या दुर नुष्ठितं सदा-आपके दोनों चरण कमल पकड़ करके मैं क्षमा माँग रहा हूँ। अपनी गलती की क्षमा माँगता हूँ।

आज तक मैंने किसी के हाथ नहीं जोड़े, जिसने मेरे ऊपर आँखें दिखायीं उसके हाथ तोड़े, जो मुझसे आगे चला उसके पैर तोड़े किन्तु मैंने आज तक किसी के हाथ नहीं जोड़े किंतु आज मैं सामायिक करने आपके श्री चरणो में बैठा हूँ, आपके पादमूल में बैठा हूँ तो न जाने क्यों अपने आप मेरे हाथ जुड़ गये, मेरा माथा अपने आप आपके चरणों में झुक गया, मेरा हृदय नवनीत की तरह कोमल हो गया पिघलने लगा, अब तो थोड़ी-थोड़ी बात पर मेरी आँखों से आँसू आ जाते हैं।

अब तक मेरा हृदय चट्टान जैसा कठोर था किंतु अब तो ऐसा लगता है नवनीत जैसा कोमल हो और यही विशेषता है कि सामायिक करने वाला श्रावक या साधक जितना दयार्द्र होता है उतना दयार्द्र परिणाम एक पूजा करने वाले का नहीं होता, पूजा करने वाले में भक्ति होती है, तपस्या करने वाले में आत्मबल जाग्रत होता है, संयम पालन करने में कठोरता होती है किन्तु सामायिक करने वाले में समता आती है चित्त गंभीर होता है।

तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं सदा-मेरा कदाचार, असद्-आचार, दुराचरण, मेरी असामायिक हे भगवन् ! मैंने जो पाप किये उनसे जो कर्म का बंध हुआ है उसका फल मैं जानता हूँ बहुत दु:ख देगा। मुझे मालूम है इण्डियन पैनल कोड को पढ़ा है कि इस प्रकार के अपराध में इस प्रकार की सजा होती है किंतु वही अपराध करने वाला अपराधी यदि स्वयं कोर्ट में जाकर समर्पण कर देता है, अपने अपराध को कबूल करता है कि आवेश में आकर मुझसे अपराध हो गया तो उसकी सजा कम हो जाती है और यदि वह बचने का प्रयास करता तो हो सकता है उस अपराध में फाँसी की सजा मिल सकती थी, हो सकता है आजीवन कारावास मिल जाता। उसने पाप तो किया किंतु कोर्ट में समर्पण कर दिया तो उसकी सजा कम हो गयी। ऐसे ही जब-जब हम जिनेन्द्र प्रभु के सामने अपनी गलतियाँ, अपराध स्वीकार कर लेते हैं तब-तब हमारी सजा कम हो जाती है इसलिये भगवान् से कह रहे हैं कि हे प्रभु मेरा वह दोष माफ हो जाये। जिनेन्द्र देव तो माफ करते नहीं और कर्म भी माफ करता नहीं है तो हम भावना भा रहे हैं वह मेरा दोष मिथ्या हो जाये अर्थात् आगे मेरी बुद्धि में रहे कि ये गलत है मैं सम्यक्त्व को प्राप्त करके चलूँ। मिथ्या का दूसरा आशय ये भी होता है कि झूठ हो जाये, नष्ट हो जाये, जो मुझसे अनुष्ठान हुये हैं न केवल वर्तमान के अपितु भविष्य में भी वे मेरे दोष मिथ्या रहें उसे कहते हैं प्रत्याख्यान।

प्रतिक्रमण प्रायश्चित और प्रत्याख्यान ये तीन चीज हैं। वर्तमान में दोषों को स्वीकार करना, मिथ्या कहने का भाव होना 'प्रतिक्रमण' है, अतीत काल में जो दोष किये थे उनको मिथ्या करके उनका अनुभाग कम करने की प्रक्रिया को कहते हैं 'प्रायश्चित' और भविष्य में दोष न लगे उससे बचने के लिये होता है 'प्रत्याख्यान'।

जैसे आप लोगों से कोई गलती हो जाये तो आप सॉरी कहते हो, इसका अर्थ है 'मुझे खेद है', मुझसे ऐसी गलती कैसे हो गयी व्यक्ति के अंदर जब सरलता सहजता आती है तभी व्यक्ति अपने गुनाह स्वीकार करता है तभी माफी माँगता है अन्यथा जब तक अहंकार मन में रहता है तब तक बेटा भी बाप से सॉरी नहीं कहता है। सही बात तो ये है जब तक अहंकार रहता है तब तक अपनी गलती दिखती ही नहीं है हर परिस्थिति में गलती सामने वाले की ही दिखती है चाहे अपनी गलती कितनी बड़ी हो जाये, चश्मा ही ऐसा लगा है। जैसे कि एक्स-रे मशीन से व्यक्ति के कपड़े नहीं दिखायी देते जो वह पहने बैठा है, चमड़ी का रंग भी दिखाई नहीं देता ऐसे ही बिना सामायिक किये व्यक्ति को अपने दोष दिखाई नहीं देते। सामायिक करने बैठता है तब अपने दोष दिखाई देते हैं उससे पहले तो सारे दोष सामने वाले के दिखाई देते हैं। जैसे चश्मे दो प्रकार के होते हैं एक (+) और एक (-)। (+) वाले से पास वाली चीज देखी जा सकती है और (-) वाले से दूर वाली चीज। (+) वाले से दूर की चीज साफ नहीं दिखेगी और (-) वाले से पास की

साफ दिखाई नहीं देगी। तो जिसकी आँखों पर (-) का चश्मा लगा है उसे दूसरों के दोष दिखाई देते हैं दूर के दोष इतने छोटे भी बड़े-बड़े दिखाई देते हैं। उसे दूसरे की थाली में रखे चावल में इल्ली तो दिखाई दे जाती है किन्तु अपनी थाली में बिल्ली नजर नहीं आती।

ऐसे ही जो व्यक्ति सामायिक नहीं करता है उसे जीवन में कभी अपने दोष दिखाई नहीं देते और जो सही मायने में सामायिक करता है उसे दूसरों के दोष दिखायी नहीं देते हैं। सामायिक रूपी (+) का चश्मा लगाने वाले को दूर की वस्तु साफ दिखाई नहीं देती, दूर की देखनी होगी तो सामायिक रूपी चश्मा उतारना पड़ेगा। सामायिक का चश्मा तो अपने को दिखाता है दूसरे को दिखाता ही नहीं है। जिसके पास यदि + का चश्मा नहीं है तो - का चश्मा उसके लिये बड़ा खतरनाक होता है क्योंकि चलेगा तो सामने पैर रखेगा और सामने देखकर चलता है तो दूर वाला चश्मा क्या काम देगा। मुनिमहाराज चार कदम आगे देखकर चलते हैं यदि वे 40 कदम आगे को देखें और चार कदम आगे गड्ढा है, कांटा है, कांच है क्या है न देखे तो वे तो घात या प्रतिघात को ही प्राप्त हो जायें। इसलिये प्रत्येक प्राणी के पास + का चश्मा तो पहले होना चाहिये और + के चश्मे के पहले भी उसके पास स्वयं की आँख और रोशनी होना चाहिये। स्वयं की आँख यानि आत्मा और उसमें रोशनी यानि सम्यग्ज्ञान।

यदि स्वयं की आँख में रोशनी है तब तो चश्मा कार्यकारी है तब तो सामायिक का चश्मा लगाया जा सकता है। आँख नहीं है उसमें रोशनी नहीं है, चश्मा लगा ले क्या फर्क पड़ेगा।

हमारे पास आत्मा तो है आँख तो हैं किन्तु सम्यग्ज्ञान की ज्योति है कि नहीं, हमारे पास आँख है और प्रकाश काले रंग का है तो काले रंग से वस्तु दूर की देखो या पास की वस्तु काली ही दिखाई देती है। यदि सफेद प्रकाश है तो वस्तु सफेद ही दिखाई देगी और प्रकाश का रंग नहीं है तो संभव है वस्तु जैसी है वैसी दिखायी देती है।

महानुभाव ! यहाँ यही देखा कि हे प्रभु ! मुझे तो अपने दोष दिखाई दें जिनसे मैं बच सकूँ। कोई व्यक्ति पूछ सकता है-क्या दोषों को देखना नकारात्मक सोच नहीं है? कतई नहीं। नकारात्मक सोच वह कहलाती है जो दोषों को ये माने कि मेरे पास ऐसी गलती है जिससे मैं मुक्त नहीं हो सकता, दोष देखकर के व्यक्ति संकल्प ले कि मैं इसको दूर करके ही रहूँगा, मैं दूर कर सकता हूँ। भीगी बिल्ली बनकर नहीं सकारात्मक सोच के साथ आगे बढ़ना चाहिये। दूसरों के गुणों को देखकर स्वयं में उन गुणों को उत्पन्न करने की भावना भानी चाहिये, दूसरों के दोषों को देखना प्रारंभ कर दिया तो समझो तुम उलझकर ही रह गये तुम्हारी गति व वृद्धि रुक गयी।

एक व्यक्ति पुष्पवाटिका में गया और काँटों में अपने कपड़ों को फँसा कर ले आया तो फूलों को चुन न पायेगा। यदि काँटे (दोष) ही देखना है तो अपने पैरों पर लगे काँटे को देखो और

निकालकर बाहर करो। तुम्हारे काँटों से तुम्हें कष्ट होगा, पेड़ पर लगा काँटा (अन्य के दोष) तुम्हें चुभ नहीं सकता और यदि पुष्प (गुण) तुम्हारे वस्त्रों में ही सजे हैं तो वे तुम्हें भी सुगंधि देंगे और सामने वालों को भी सुगंधि देंगे। तो तुम्हें अपने गुणों की चिंता नहीं अपने दोषों की चिंता करना है।

देखो अपनी जिंदगी को फूल जैसा नहीं बनाना है। लोग कहते हैं कि-फूल बन जाओगे तो एक दिन कुचल दिये जाओगे और शूल बनकर चुभ जाओगे तो जिंदगी भर याद आओगे। किन्तु हम आपको शूल बनने की बात नहीं कह रहे, हम कह रहे हैं ''फूल बनोगे और खिलोगे तो एक दिन बिखर जाओगे और अपने जीवन को पत्थर की तरह मजबूत बनाओगे तो तराशे गये तो भगवान् कहलाओगे।'' बात ये है हमें जिंदगी फूल जैसी कोमल नहीं बनानी है। अपितु बाहर से पत्थर, अपने प्रति कठोर, मुनिमहाराज के हाथ में पिच्छी होती है इधर से (जहाँ से पकड़ते हैं) कठोर, इधर से (पंखों की ओर से) मुलायम होती है अपने लिये बहुत कठोर हैं और दूसरों के लिये बहुत मुलायम। ऐसे ही अपनी जिंदगी को स्वयं के लिये कठोर बनाओ, कठोर बनाओगे तो आज नहीं तो कल तुम परमात्मा बन जाओगे।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

जो को वि भव्व-जीवो, जिण-भालं पस्सदि अणिमेसेणं।
सो लहदि खयियणाणं, णिव्वाण-कारणं णियमेण॥४२॥

अर्थ:-जो कोई भी भव्य जीव अनिमेष जिनवर के मस्तक को देखता है वह नियम से निर्वाण के कारण क्षायिकज्ञान को प्राप्त करता है।

-जिणवर-थोत्तं
(आचार्य श्री वसुनंदी मुनि)

सर्वश्रेष्ठ निधि-सद्चारित्र

यहाँ पर आप और हम आचार्य श्री अमितगति स्वामी रचित द्वात्रिंशतिका ग्रंथ के 6वें काव्य को देखते हैं। प्रारंभ के पाँच काव्यों में सामायिक की भूमिका तैयार की। छटवीं गाथा में कह रहे हैं कि हे प्रभु! मैंने जो दोष किये हैं उन दोषों को मैंने दोष मान लिया। जब तक हम गलती को गलती नहीं मानते तब तक गलती से बचने का भाव नहीं आता। जब व्यक्ति बुराई को बुराई अपनी आत्मा में स्वीकार कर लेता है तो बचने का प्रयास करता है। जब तक बुराई को अच्छाई के रूप में स्वीकार करता रहता है तब तक वह बुराई से बचने का प्रयास नहीं करता। इसलिये बुराई को बुराई पहचानते हुये मैं अपनी उस बुराई से मुक्त होना चाहता हूँ। बुराई से कैसे मुक्त हुआ जाए? उससे कैसे बचा जाए?

5वें काव्य में अहिंसा की प्रधानता से अहिंसाव्रत में लगे दोषों की आलोचना की थी उसी का प्रतिक्रमण किया था, क्योंकि बिना प्रतिक्रमण किये सामायिक होती नहीं है। साधक लोग पहले प्रतिक्रमण करते हैं। संध्याकाल में भी पहले प्रतिक्रमण होता है बाद में सामायिक, प्रात:काल भी पहले प्रतिक्रमण करते हैं बाद में सामायिक, मध्याह्नकाल में भी पहले प्रतिक्रमण करते हैं बाद में सामायिक। बिना प्रतिक्रमण के सामायिक हो नहीं सकती। प्रतिक्रमण में 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं'' मेरा यह दुष्कृत्य मिथ्या हो, यदि अपने पापों की आलोचना नहीं की है तो वे दोष आपको विकल्प देते रहेंगे आपका चित्त स्थिर न हो पायेगा। यदि आपने कोई अच्छा काम किया है और आप दूसरों को बताना चाहते हो तो बता दो अन्यथा सामायिक न कर पाओगे। यदि आपके मन में विशुद्धि बढ़ रही है भगवान् की भक्ति करना है तो चैत्य भक्ति, पंचमहागुरु भक्ति, समाधि भक्ति जो भक्ति पढ़ना है वह पहले पढ़ लो। सामायिक से पूर्व सबसे पहले आलोचना की जाती है, संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति क्षमा भाव धारण किया जाता है। प्रतिक्रमण के सभी सूत्र दिये हैं, आलोचना सूत्र, निंदा सूत्र, गर्हा सूत्र, प्रतिक्रमण सूत्र, क्षमाभाव सूत्र इत्यादि सूत्रों को बोलकर के और उनके अर्थ में अपने मन को रमा करके फिर विकल्पों से मुक्ति मिलती है, वीरभक्ति, चतुर्विंशति भक्ति आदि का जो क्रम इन्द्रभूति गौतम गणधर से चला आ रहा है उन भक्तियों को पढ़कर तब योगी सामायिक में लीन होता है। यदि ये भक्तियाँ न करे तो योगी का चित्त स्थिर न हो पायेगा। बिना प्रतिक्रमण आलोचना के सामायिक नहीं बनती, बिना भक्ति पढ़े मन विशुद्ध नहीं होता।

आज छटवें काव्य में देखते हैं कि किस प्रकार आचार्य महाराज सामायिक में स्थिरता प्रदान करने की बात कह रहे हैं, कौन सी विशेषता है जिसे स्वीकार करने से सामायिक में मन लीन हो जाये।

विमुक्ति मार्ग-प्रतिकूलवर्तिना, मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया।
चारित्र शुद्धेर्यदकारि लोपनं, तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो! ॥६॥

सन्मुक्ति के सन्मार्ग से प्रतिकूल पथ मैंने लिया,
पंचेन्द्रियों चारों कषायों में स्वमन मैंने किया।
इस हेतु शुद्ध-चरित्र का जो लोप मुझसे हो गया,
दुष्कर्म वह मिथ्यात्व को हो, प्राप्त प्रभु! करिये दया।।6।।

अन्वयार्थ-(**प्रभो**) हे स्वामिन् ! (**मया**) मेरे द्वारा (**विमुक्ति-मार्गप्रतिकूलवर्तिना**) मोक्षमार्ग के प्रतिकूल आचरण करने वाले (**दुर्धिया**) मुझ दुर्बुद्धि के द्वारा (**कषायाक्षवशेन**) कषायों और इन्द्रियों के वशीभूत/अधीन होकर (**चारित्रशुद्धेः**) चारित्र की शुद्धि का (**यत्**) जो (**लोपनं**) ह्रास (**अकारि**) किया हो (**तदा=तो**) (**तद्**) वह (**मम**) मेरा (**दुष्कृतम्**) दुष्कृतकार्य/गलत कार्य (**मिथ्या**) झूठा (**अस्तु**) हो।

पहला शब्द है-'विमुक्ति'-विमुक्ति का अर्थ वही है जो मुक्ति का है। फिर भी इसमें 'वि' विशेषण लगाया है। वि उपसर्ग लगाया है विशेषता को बताने के लिये। मार्ग-मार्ग का अर्थ सभी जानते हैं रास्ता। संसार में तो अनंत मार्ग हैं, संसार के अनंत स्वरूप हैं, संसार के अनंत कारण हैं क्योंकि संसार अनंत प्रकार का है किंतु मोक्ष का एक ही स्वरूप है इसलिये मोक्ष का एक ही मार्ग है, एक ही मार्ग था, एक ही मार्ग रहेगा।

''णग्गो हि मोक्खमग्गो शेषा उवमग्गया सव्वेहिं''

नग्नता ही मोक्ष का मार्ग है शेष सभी उन्मार्ग हैं। तो मुक्तिमार्ग यानि मोक्ष का मार्ग और 'वि' विशेषण लगा दिया विमुक्ति मार्ग इसका अर्थ ऐसा कर सकते हैं-**कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षोमोक्षः** सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से पृथक हो जाना 'आत्यन्तिकी निर्वृत्ति' सामायिक कौन सा मार्ग है? सामायिक करना मोक्ष का मार्ग है। क्योंकि सामायिक आत्मलीनता स्वरूप है और मोक्ष का मार्ग निश्चय से आत्मलीनता में ही प्रारंभ होता है। व्यवहार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के माध्यम से प्रारंभ होता है। निश्चय से आत्मा ही मोक्ष है, आत्मा ही मोक्ष मार्ग है, आत्मा ही मोक्ष मार्गी है, आत्मा ही मोक्ष का स्वरूप है और आत्मा ही मोक्ष का कारक है। आत्मा मोक्ष प्राप्त करती है, आत्मा के लिये मोक्ष होता है, आत्मा से मोक्ष होता है। अशुद्ध आत्मा से नहीं। अशुद्ध क्यों बने? कर्मों के कारण। कर्मों से मुक्त होकर आत्मा ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

आत्मा ही कर्ता है आत्मा ही कर्म है। यदि भाव कर्म न हों तो द्रव्य व नो कर्म भी न हों, आत्मा ही कर्म करने वाला है। आत्मा के द्वारा ही क्रिया की जाती है चाहे वह संसार की क्रिया

हो या मोक्ष की। आत्मा के लिये, आत्मसुख के लिये, आत्मा को प्राप्त करने के लिये साधना की जाती है। सुख-दुःख आत्मा को प्राप्त होते हैं। हमें उस आत्मा से पृथक होना है जो आत्मा रागद्वेष से सहित है, जो कर्मों से सहित है और आत्मा के उस वैभव को हमें प्राप्त करना है जो आत्मा में ही है इसीलिए हे आत्मन् ! आत्मा में, आत्मा को देखो, आत्मा के द्वारा, आत्मा को जानो। हे आत्मन् ! जो भी साधना कर रहे हो वह आत्मा के लिये है।

यहाँ पर सबसे पहले बात कही 'विमुक्ति मार्ग'-मोक्ष के मार्ग से अर्थात् सामायिक से प्रतिकूल यदि मैंने कोई रास्ता ले लिया हो, सामायिक में कोई प्रतिकूलता की हो इससे आशय है कि हमने अपने स्वभाव को छोड़ दिया हो और विभाव में पहुँच गये हों, यदि मुनिमहाराज का जो स्वभाव है कर्त्तव्य है उसका ध्यान नहीं रखा हो, श्रावक का जो कर्तव्य है उस कर्तव्य की पालना नहीं की हो जिसके जो कर्त्तव्य हैं उसकी वह पालना नहीं कर रहा है, अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर रहा है, वह व्यक्ति नियम से बंधन को आपत्ति विपत्ति को प्राप्त होता है।

तो कहा 'विमुक्तिमार्ग प्रतिकूलवर्तना' मैंने मोक्षमार्ग के प्रतिकूल प्रवृत्ति की हो। एक-एक क्रिया को देखो-यदि शरीर से क्रिया कर रहे हैं तो उसके बारे में विचार करो यह क्रिया मोक्षमार्ग में सहयोगी है या मोक्ष मार्ग में विरोधी। चिन्तन करने से मोक्षमार्ग की विरोधी क्रियायें छूटती चली जायेंगी और जो क्रिया मोक्षमार्ग में साधक हैं वह तुम्हारे जीवन में स्वयं आती जायेंगी। जैसे पूजा की, अभिषेक किया, आहार दिया, स्वाध्याय किया, उपदेश सुना आदि सभी क्रियायें परम्परा से मोक्ष मार्ग में सहयोगी हैं किंतु इसके विपरीत क्रोध किया, मायाचारी की, अहंकारी बने, लोभ किया, इन्द्रिय विषयों का सेवन किया अन्य किसी भी प्रकार से रागद्वेष के वशीभूत होकर के कोई भी काम किया वह मोक्षमार्ग में सहयोगी नहीं। यदि मन रागी बना है, असंयमी है तो ये सब मोक्षमार्ग नहीं। वचन में देखें जो शब्द मैं बोलता हूँ क्या आगम के अनुसार बोलता हूँ ? सत्य बोलता हूँ, हितकारी बोलता हूँ, प्रिय बोलता हूँ क्या वे मोक्षमार्ग में साधक सहायक हैं? और जिन वचनों से मेरा हृदय संतप्त होता है दूसरों का हृदय भी संतप्त होता है वे वचन मोक्षमार्ग में बाधक हैं, जिन वचनों से दूसरों को व स्वयं को शीतलता मिले वे वचन मोक्षमार्ग में सहायक होते हैं।

ऐसी वाणी बोलिये मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे आपहुँ शीतल होय॥

ऐसी वाणी बोलिये जिससे आपका अहंकार नष्ट हो जाये, विनम्रता आ जाये, सहजता-सरलता आपके रग-रग में आ जाये। ये वचन मोक्षमार्ग के साधक हैं। मुनिराज हितमितप्रिय वचन बोलते हैं-

भ्रम रोग हर जिनके वचन मुखचन्द्र तैं अमृत झरें।

हितमितप्रिय वचन बोलने की आज्ञा है मुनिमहाराज के लिये। मुनिराज, अप्रिय, अहितकारी, परशु, निंद्य वचन नहीं बोल सकते, दूसरे के मन को चुभ जायें ऐसे वचन नहीं बोल सकते। चेष्टायें भी षट्काय जीवों का पालन करते हुये करें जिससे किसी को बाधा न हो। ईर्या, ऐषणा आदि समिति का पालन हो, वचन गुप्ति, भाषा समिति, सत्यधर्म का पालन करें और मन को नियंत्रण करना है अपने मन को विषय-कषायों में न जाने देना, मन को असद् प्रवृत्ति से बचाना मन किसी का अनर्थ न करना चाहे इसलिये अनर्थदण्ड का पहले ही त्याग कर दिया, अनर्थदण्डों से विरक्ति। महानुभाव ! जितनी भी मन वचन काय की क्रिया को करने से यदि मोक्षमार्ग के प्रतिकूल प्रवृत्ति होती है तो उन सभी क्रियाओं को छोड़ देना। यदि क्रियाओं को नहीं छोड़ोगे तो मोक्ष मार्ग तुम्हें छोड़ देगा। जो जीव मोक्षमार्ग को स्वीकार करके संसार मार्ग को छोड़ देता है तो वह मोक्षमार्ग उसे मोक्ष में पहुँचा देता है और जो यदि संसार मार्ग को नहीं छोड़ता है वह संसार में फंसता चला जाता है, दोनों मार्गों पर एक साथ नहीं चला जा सकता।

इसलिये आचार्य महोदय कह रहे हैं **'मया'**-मेरे द्वारा मोक्ष मार्ग में प्रतिकूल प्रवृत्ति हो गयी हो। कैसे हो गयी हो? तो मोक्षमार्ग में प्रतिकूल प्रवृत्ति दो-तीन कारणों से होती है, या तो कषाय के कारण या इन्द्रिय विषयों के कारण या बुद्धि भ्रष्ट हो जाने के कारण या प्रमाद के कारण, इनमें से कोई भी एक कारण आ जाये तो मोक्षमार्ग से प्रतिकूल प्रवृत्ति हो जाती है इसीलिये इनसे बचना है ये ऐसे शत्रु हैं जो हमारी आत्मा की निधि को लूटते रहते हैं। मोक्षमार्ग में मुक्तिरूपी सामायिक के साथ ऋजुता, सरलता, मृदुता, क्षमाभाव, शुचिता, संयम, त्याग, तप आदि भाव तो रह सकते हैं किंतु क्रोधादि के भाव उस सामायिक के साथ नहीं रह सकते यदि उनमें से कोई एक भाव आ गया तो सामायिक चली जाती है। जैसे सूर्य के अस्त होते ही फूल मुरझाने लगते हैं ऐसे ही समायिक जाते ही गुण मुरझा जाते हैं।

एक बुराई के आते ही क्रोधरूपी अंधकार आ गया या मान, मायाचारी रूप अंधकार आ गया तो सामायिक चली गयी। एक समय में सामायिक की प्रवृत्ति होगी या असामायिक की। उपयोग एक ही रहेगा। **''एक म्यान में दो खड्ग देखे सुने न पाग''।** चलो कदाचित् एक म्यान में दो खड्ग कभी हो जायें किंतु एक आत्मा में सामायिक की प्रवृत्ति और असमायिक की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। शुभोपयोग रूप समय पापरूप नहीं होगा, पाप रूप है तो शुभ नहीं होगा। पहले दूसरे तीसरे गुणस्थान में अशुभोपयोग होता है घटता हुआ, 4-5-6 में शुभ उपयोग बढ़ता हुआ, 7वें से आगे का शुद्धोपयोग और 13-14 में शुद्धोपयोग बढ़ता हुआ। इस प्रकार उपयोग एक समय में एक ही होता है, दो हो नहीं सकते।

महानुभाव ! यहाँ आचार्य कह रहे हैं यदि मैंने कषाय के आवेग में विमुक्ति मार्ग के प्रतिकूल प्रवृत्ति की हो, यदि मैंने इन्द्रिय विषयों के वशीभूत होकर चाहे स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हो, चाहे रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर, चाहे घ्राण, चक्षु, कर्ण इन्द्रिय के वशीभूत होकर के, चाहे अपने मन को वश में न करने से मन के वशीभूत होकर के जो कोई प्रतिकूल प्रवृत्ति की हो तो हे जिनेन्द्र देव ! वह सब मैंने दुर्बुद्धि से ऐसी प्रवृत्ति कर ली। **'दुर्धिया'**-खोटी बुद्धि के द्वारा कषाय में आकर के मैंने ऐसा पाप कर दिया। जब भी व्यक्ति अशुभ में प्रवृत्ति करता है, धर्म के मार्ग से प्रतिकूल चलता है, न्याय से प्रतिकूल चलता है चाहे उसने मर्यादा का उल्लंघन किया, नीति का, धर्म का उल्लंघन किया समझो उसने तो दु:खों को ही प्राप्त किया। व्यक्ति सत्ता को प्राप्त करके, सुख को प्राप्त करके, पद को प्राप्त करके, पुण्य के फल को प्राप्त करके आज पुण्य के फल का पर्दा डालकर के पीछे पाप करता है किंतु उदय में तो वे फल आते ही हैं। कई बार ऐसे व्यक्तियों को भी देखा जो धर्म के क्षेत्र में बहुत गहरे घुसे थे, धर्म की सेवा की किन्तु वह सेवा धर्म की भावना से नहीं की कुछ और भावना से की।

पूजा प्रतिष्ठा के लिये की या अपने पद का दुरुपयोग किया अहंकार में आकर देव, शास्त्र, गुरु की अविनय की उसका परिणाम ये निकला कि वही पीढ़ी जो लाखों करोड़ों की मालिक थी आज वह 2000 रु. की नौकरी की तलाश में है। लोग कहते हैं महाराज हमने तो धर्म की सेवा की फिर हमारे जीवन में ऐसा समय क्यों आया? धर्म की सेवा कहाँ की वह तो तुम्हारा बहाना था, धर्म की आड़ में तो तुमने पाप कमाये अन्यथा पाप का फल क्यों मिलता, तो कई बार व्यक्ति धर्म की आड़ लेता है क्योंकि खुलेआम तो पाप कर नहीं सकता धर्म की आड़ लेकर के, पुण्य की आड़ लेकर के, अच्छे कामों की आड़ लेकर के पाप आसानी से कर सकता है क्योंकि पर्दे के पीछे पाप हो सकते हैं। लोगों की दृष्टि पीछे नहीं जाती कि क्या हो रहा है। जिसके पास पर्दा नहीं है वह पाप कम कर पायेगा, खुले आम पाप कम कर पायेगा, जितना बड़ा पर्दा उसके पीछे उतने बड़े पाप की संभावना हो सकती है, जितना छोटा पर्दा उसके पीछे उतने छोटे पाप हो सकते हैं। महानुभाव ! जिसने भी पाप किया उसे फल अवश्य मिला। पाप किसी का बाप तो होता नहीं जो क्षमा कर दे, पाप तो निष्पक्ष न्यायरूप से फल देने वाला होता है।

चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं-चारित्र की शुद्धि का जो कुछ भी मुझसे लोप हो गया है चाहे देशव्रत, चाहे महाव्रत, चाहे समिति का मैंने जो सही पालन नहीं किया, अपनी बात करने के लिये शास्त्र के वचनों को दबा दिया, अपनी प्रतिष्ठा-यश बढ़ाने के लिये दूसरे की निंदा भी कर दी और दोष निकाल दिये। दूसरे को गिराने वाला कभी उठ नहीं सकता। यदि व्यक्ति कुंआ खोदता है तो स्वयं नीचे उतरता जाता है और शिखर बनाता है तो ऊपर उठता चला जाता है। ऐसे ही जो दूसरों

के लिये अच्छा सोचता है वह स्वयं अच्छा होता चला जाता है, बुरा सोचता है तो पहले स्वयं बुरा बन जाता है। व्यक्ति की सर्वश्रेष्ठ निधि उसका सद् चारित्र है। चारित्र का पालन करना, उसका रक्षण करना प्रत्येक भव्य जीव का कर्त्तव्य है।

एक राजा ने काष्ठकला से निपुण कारीगरों को एकत्रित कर एक अभूतपूर्व लकड़ी के महल का निर्माण करवाया। दैवयोग से उसके उद्घाटन के दो दिन बाद ही लकड़ी के महल में आग लग जाती है। क्षण भर में सारा महल धूँ-धूँ कर जल जाता है। नगर के प्रजाजन यह देखकर आश्चर्य में पड़ जाते हैं कि काठ का महल जल जाने से राजा को थोड़ा भी दु:ख नहीं हुआ। कुछ समय बाद एक बड़ा तूफान आया राजमहल के सामने खड़ा एक अशोक वृक्ष आँधी से धराशायी हो गया। जब यह खबर नगर में फैली, तो जनता इस दृश्य को देखने एकत्रित होने लगी। धराशायी अशोक वृक्ष के पास राजा को बैठकर आँसू बहाते हुये सभी ने देखा, तो सभी आश्चर्यचकित रह गये। प्रजाजन यह करुण दृश्य देखकर द्रवित हो उठे। तभी एक वृद्ध सज्जन से रहा नहीं गया और राजा से इस रहस्य को पूछने का साहस कर ही बैठा।

वृद्ध ने राजा से बड़े विनम्र होकर कहा-''हे नरश्रेष्ठ राजन् ! आपके द्वारा लाखों की लागत से बनवाये गये काष्ठमहल के जल जाने पर भी आप दु:खी नहीं हुए, फिर इस वृक्ष के धराशायी होने पर आप इतने दु:खी क्यों हो रहे हैं, इतना ज्यादा शोक क्यों मना रहे हैं? राजा बोले-''अगर मैं चाहूँ तो काष्ठमहल को और अधिक कुशल कारीगरों को लगाकर एक या दो माह में बनवा सकता हूँ लेकिन प्रकृति द्वारा निर्मित 80 वर्ष पुराने अशोक वृक्ष को फिर से लगाने की स्थिति मेरी नहीं है। एक या दो तो क्या, 50 वर्षों में भी ऐसा वृक्ष मैं उत्पन्न नहीं कर सकता। महल में थोड़े से व्यक्ति रह सकते हैं, पर इसकी छाया से न जाने कितने राहगीरों को ग्रीष्म ऋतु में गर्मी से राहत मिलती थी। राजा का उत्तर सुनकर वृद्ध निरुत्तर हो जाता है। वह समझ जाता है कि राजा की दृष्टि अशोक वृक्ष रूपी चारित्र अर्थात् स्व पर है। यदि चारित्र की विराधना या हानि होती है तो शोक करने योग्य है, क्योंकि चारित्र का ह्रास होना असली ह्रास है। दूसरी ओर काष्ठ का महल पुद्गल है, बनना व नष्ट होना इसका स्वभाव है, अत: इसमें दु:ख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिये साधक रत्नत्रय को धारण कर पूरी दृढ़ता से अपने व्रतों का निरतिचार पालन करता है और सदा आत्मस्वरूप में लीन रहने का प्रयास करता है और यदि मिथ्याचरण हो जाए तो प्रायश्चित्तादि के माध्यम से आत्मशुद्धि करता है।

यहाँ कह रहे हैं-हे प्रभु ! चारित्र की शुद्धि का जो कुछ भी मुझसे लोप हो गया है वह **तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो** ! मैंने कई बार क्रोध, मान, माया, लोभ के वशीभूत होकर इन्द्रिय विषयों में आसक्त होकर जो दुष्कृत्य किया हे जिनेन्द्र देव ! मैं अपने हृदय का सत्यहाल तुमसे कह रहा

हूँ मैंने कई बार पाप किये हैं, हुये हैं और कई बार पाप होते हैं मेरे वे पाप मिथ्या हो जायें क्योंकि पापों का फल मैं जानता हूँ, पापों का फल तो ऐसा है जैसे किसी को अपराध की सजा दी जाये किसी को खोलते तेल की कढ़ाई में डाल दिया जाये, तेजाब में डुबो दिया जाये, अग्नि की ज्वाला में पटक दिया जाये ऐसे पाप के फल मैं नहीं चाहता।

मैं नहीं चाहता कि मेरे प्राण मेरे शरीर में से तड़प-तड़प कर निकलें, मैं नहीं चाहता कि मुझे पद्दलित जिंदगी, आँसू पूरित जिंदगी जीनी पड़े। हे प्रभु ! मैं आज आपके सामने आँसू बहा लूँगा, आपके पैर पकड़ के क्षमा माँग लूँगा। मैं आज अपनी आलोचना करता हूँ, मैं आज अपने पापों को देखता हूँ, जैसे राजा श्रेणिक ने सप्तम नरक की आयु बांधी थी किन्तु भगवान् की भक्ति करने से, क्षमा मांगने से सप्तम नरक से पहले नरक तक रह गयी पहले नरक में भी बहुत कम 84000 वर्ष की रह गयी। ऐसे ही अपनी आलोचना करने का, निंदा करने का, प्रायश्चित लेने का फल क्या होता है? फल यही होता है कि पाप प्रकृतियों का अनुभाग और स्थिति घट जाती है। पुण्य प्रकृतियों का स्थिति अनुभाग बढ़ जाता है इसलिये प्रत्येक समय श्रावक हो या श्रमण जब भी कभी आँख बंद कर बैठने का अवसर मिले तो अपनी आत्मा को देखने का प्रयास करें कहें मैंने जो पाप किया है वह मेरा पाप मिथ्या होवे।

हे भगवन् ! मुझे पापों से बचा लो, बस इतना भी करते जायेंगे तो पक्का मानना आपकी आत्मा पापों से अवश्य ही मुक्त हो जायेगी और जो आत्मा पापों से मुक्त हो जाती है नियम से वह आत्मा संसार से भी मुक्त हो जाती है।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

आत्मशुद्धि का उपाय-आलोचना

विगत दिन हमने द्वात्रिंशतिका ग्रंथ के छटवें काव्य को देखा जिसमें आ. महोदय ने बताया था कि यदि मैंने मोक्षमार्ग के प्रतिकूल प्रवृत्ति की हो, प्रतिकूल प्रवृत्ति हो सकती है कषाय के आवेश में, इन्द्रिय विषयों में अत्यासक्ति होने से या पाप कर्म के तीव्र उदय से अथवा बुद्धि के भ्रष्ट हो जाने से दुर्बुद्धि या खोटी बुद्धि हो जाने से, प्रमाद वश, अज्ञानतावश संभव है कोई पाप हो जाना, संभव है न्याय मार्ग से कदम का चलायमान हो जाना, संभव है मर्यादा का उल्लंघन हो जाना। किंतु जिनेन्द्र देव के चरणों में नमस्कार करते हुये भावना भायी थी कि शुद्ध चरित्र का जो मुझसे लोप हो गया है तो हे जिनेन्द्र देव ! वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे, उसी बात को और आगे कहते हैं।

सप्तम काव्य को आचार्य महोदय कह रहे हैं-

विनिन्दनाऽऽलोचन गर्हणैरहं, मनोवचः काय कषाय-निर्मितम्।
निहन्मि पापं भव दुःख कारणं, भिषग्विषं मन्त्र गुणैरिवाखिलम्॥७॥

चारों कषायों से वचन-मन-काय से जो पाप है,
मुझसे हुआ हे नाथ वह, कारण हुआ भव-ताप है।
अब मारता हूँ मैं उसे आलोचना निन्दादि से,
ज्यों सकल-विष को वैद्यवर, है मारता मन्त्रादि से॥7॥

अन्वयार्थ-(**यथा**) जिस प्रकार (**भिषक्**) वैद्य/मान्त्रिक (**मन्त्रगुणैः**) मन्त्रों के अवलम्बन से (**अखिलम्**) सम्पूर्ण (**विषम्**) विष को (**इव**) नष्ट कर देता है, (**तथा**) ठीक उसी प्रकार (**अहम्**) मैं (**विनिन्दना**) निंदा के द्वारा (**आलोचनगर्हणैः**) आलोचना के द्वारा और गर्हा के द्वारा (**मनोवचःकाय कषायनिर्मितम्**) मन, वचन, काय और कषाय से निर्मित/उपार्जित (**भवदुःखकारणं**) संसार के दुःखों के कारण भूत (**पापं**) पाप कर्मों को (**निहन्मि**) नष्ट करता हूँ।

चार प्रकार के लोग होते हैं-एक वे जो दूसरों की निंदा करते हैं, दूसरे वे जो अपनी और दूसरों की दोनों की निंदा करते हैं, तीसरे वे जो अपनी निंदा करते हैं, चौथे वे जो न अपनी और न दूसरों की किसी की भी निंदा नहीं करते।

जो सदैव दूसरों की निंदा करते हैं वे अधमपुरुष कहलाते हैं। अपनी प्रशंसा दूसरों की निंदा करने से नीच गोत्र का बंध होता है और जो अपनी भी व दूसरों की भी निंदा करते हैं वे गुणों से रहित हैं, वे किसी की प्रशंसा करना जानते ही नहीं। तीसरे वे जो सिर्फ अपनी निंदा करते हैं

दूसरों की प्रशंसा करते हैं, वे उत्तम है किंतु सर्वोत्तम वे हैं जो कभी किसी की निंदा नहीं करते और अपनी निंदा करने की भी उन्हें आवश्यकता नहीं, अर्थात् जो आत्मा में निमग्न हो गये, उस समय न अपनी निंदा न दूसरों की निंदा, न अपनी प्रशंसा न दूसरों की प्रशंसा। तो सर्वोत्तम तो वे हैं जो निंदा, गर्हा, आलोचना से रहित हैं किंतु जो वहाँ तक नहीं पहुँचे किन्तु सामायिक में पहुँचना चाहते हैं तो सामायिक में पहुँचने का पथ बता रहे हैं।

सामायिक में मन तब लगेगा, जब मन के विकल्प निकल जायें, जब पैर में कांटा लगा हो और सामने थाली में अच्छे से अच्छा भोजन भी आ जाये किंतु पैर में लगा हुआ कांटा जो कष्ट दे रहा है उससे उत्तम व्यंजनों का स्वाद चला जाता है। यदि शरीर में कहीं बहुत बड़ा फोड़ा हो गया हो और जो वस्तु तुम्हें खाने में बहुत अच्छी लगती है वह तुम्हारे सामने रख दी जाये तो कष्ट के कारण तुम उस वस्तु का आनंद नहीं ले पाओगे, यदि आप व्याकुल हैं, पीड़ित हैं, शरीर में कुछ वेदना है तो उस समय सुंदर-सुंदर वस्त्र आभूषण पहना दिये जायें तो वे तुम्हें शांति नहीं दे पायेंगे।

इसलिये सबसे पहले अशांति के कारणों को दूर कीजिये। धर्मध्यान तब तक नहीं होता जब तक अधर्म ध्यान चलता है। अधर्म ध्यान के मुख्य रूप से दो भेद हैं आर्तध्यान व रौद्रध्यान। आर्तध्यान- रौद्रध्यान तीव्रता लिये हुये पहले, दूसरे, तीसरे गुणस्थान में होता है। चौथे गुणस्थान में आर्त्तध्यान है, रौद्रध्यान भी है किन्तु धर्मध्यान का एक पाया प्रारंभ हो गया। आज्ञाविचय नाम का धर्मध्यान आ गया और पंचम गुणस्थान में पुनः दो पाये धर्मध्यान के आ गये, रौद्रध्यान कम हो गया। चौथे गुणस्थान में भी रौद्रध्यान में कमी आ गयी आर्त्तध्यान में तो नहीं आयी, 5वें गुणस्थान में रौद्रध्यान तो बहुत अल्प रह गया, आर्त्तध्यान भी बहुत कम हो गया। 6वें गुणस्थान में पहुँचे रौद्रध्यान सम्पूर्ण चला गया, आर्त्तध्यान में से निदान नाम का आर्त्तध्यान छोड़कर के तीन रह गये किंतु उनका काल भी अल्प रह गया और तीव्रता भी नहीं रही, अनुभाग भी कम हो गया। पुनः 6वें गुणस्थान में धर्मध्यान का एक पाया और आ गया, 6वें व 7वें गुणस्थान में घूमने वाले योगी चौथे धर्मध्यान को भी प्राप्त कर लेते हैं। 8वें गुणस्थान से शुक्ल ध्यान प्रारंभ हो जाता है। 8,9,10, 11 वें गुणस्थान में पहला शुक्ल ध्यान, 12वें में दूसरा, 13वें में तीसरा और 14वें में चौथा। कोई-कोई आचार्य ऐसे भी मानते हैं कि दशवें गुणस्थान तक धर्मध्यान है और ग्यारहवें से शुक्लध्यान प्रारंभ होता है, उनका कहना है कि दशवें गुणस्थान तक कषाय रहती हैं तब तक धर्मध्यान है कषाय निकल जाने पर ही परिणाम शुक्ल होते हैं।

महानुभाव ! यहाँ कह रहे हैं-**विनिन्दना**-निंदा के द्वारा 'वि' विशेषण लगा दिया विशेष निंदा के द्वारा ऐसी निंदा जो भव को विगत करने वाली है, ऐसी निंदा तो अनादि काल से खूब की

जिससे आपके संसार का संवर्धन हुआ, अशांति बढ़ी, संक्लेशता बढ़ी किंतु ऐसी निंदा आपने नहीं की जिससे आपके दु:ख कम हो जाते। अपनी गलती भगवान् के सामने कहने से विकल्प शांत हो जाते हैं, मन शांत हो जाता है। अपनी गलती पर पश्चाताप कर लिया जाये, आँसू बहा लिये जायें तो मन हल्का हो जाता है, कुछ महिलाओं की आदत होती है गा-गाकर रोने की जो ऐसे रो लेती हैं उन्हें जीवन में कभी हार्ट अटैक नहीं होता, पुरुष गा-गाकर रो नहीं सकता, जो पुरुष गा-गाकर अपनी गलती कहकर रो ले तो उसे भी अटेक नहीं पड़े किन्तु पुरुष को लगता है मेरी बेज्जती हो जायेगी, वह गुम-सुम पड़ा रहेगा, वह आँसू भी कम से कम निकालता है, मन में टेंशन रखता है इसलिये डायबिटीज का अनुपात पुरुषों में ज्यादा मिलेगा महिलाओं में कम। महिलाओं में हार्ट अटैक कम मिलेगा पुरुषों में ज्यादा। तो कहा अपनी निंदा करना। हाय रे ! मैंने ऐसा क्यों कर दिया

हा ! दुट्ठ-कयं हा ! दुट्ठचिंतियं भासियं च हा ! दुट्ठं।
अंतो-अंतो डज्झमि पच्छत्तावेण वेदंतो।।-प्रतिक्रमण

ऐसे निंदा करते हैं वे योगी साधक-

दव्वे खेत्ते काले भावे च कदा वराह सोहणयं।
णिंदणगरहण जुत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं।।-प्रतिक्रमण

अथवा

खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ति मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झं ण केण वि।।-प्रतिक्रमण

अथवा और भी आलोचना कर रहे हैं-

मैंने एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवों को उद्दापन किया, परतापन किया, सताया, मारा, पीटा या कुछ भी किया तो हे जिनेन्द्र देव ! मेरे वे सब दोष मिथ्या हों। आचार्यों ने चाहे श्रमण हो या श्रावक दोनों के लिये कहा प्रतिक्रमण बोल-बोल करके करो। मौन से प्रतिक्रमण नहीं किया जाता है, मौन से चिंतन किया जाता है, मौन से मन ही मन में अपने दोषों पर विचार किया जाता है, किंतु प्रतिक्रमण में ''तस्स मिच्छा मे दुक्कडं'' मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। ये शब्द आने ही चाहिये।

महानुभाव ! बोलने से बात निकलती है, कई बार व्यक्ति जब तनाव में ज्यादा रहते हैं तो डिप्रेशन में चले जाते हैं, वह अवसाद की स्थिति आ जाती है क्योंकि वे अपने मन की बात को नहीं निकाल पाते, उनके लिये मनोचिकित्सक कहते हैं कि तुम्हारे मन में जो कुछ भी है उसे कहो, गर कहते जाओगे तो हल्के होते जाओगे, न कहोगे तो वास्तव में पागल जैसे हो जाओगे। गंदगी

को जितनी जल्दी बाहर निकाल दो उतना ही अच्छा रहता है, इसलिये अपने चित्त में भी कोई गंदगी पड़ी है, कोई विकल्प पड़ा है, जो बार-बार चुभ रहा है उसे बाहर निकाल दो। अपने मित्र से जाकर कह दो, मित्र गर सच्चा होगा तो तुम्हें उस तनाव से निकाल सकता है, यदि सच्चा नहीं हो तो एक सच्चा मित्र बनाकर के रखो।

किसी भी गुरु महाराज के पास जाओ उनसे मित्रता कर लो अपनी बात एक छोटे से बालक की तरह से कह दो। जैसे छोटा बालक स्वस्थ रहता है, मस्त रहता है, व्यस्त रहता है अपने काम में, खेलने में, टेंशन में नहीं आता। वह बालक इतना सरल चित्त होता है कि माँ के पास जाकर कहेगा-माँ मैं स्कूल गया था, उसने मुझे पीटा था, मैंने उससे कुछ नहीं कहा था फिर जब उसने पीटा तो मैंने गाली दी थी, सब बातें जैसी हुईं वैसी बताता है उसके मन में कोई छल कपट नहीं रहता। बालकवत् जिसका चित्त हो जाता है वह आलोचना करने में समर्थ हो जाता है इसलिये कहते हैं बालकों में भगवान् होते हैं अर्थात् बालक जैसा चित्त होता है तो भगवान् बन सकते हैं, भगवान बनने के लिये बालक जैसी सरलता, सहजता चाहिये और मीरा जैसा पागलपन चाहिये।

मीरा जब अपने प्रभु परमात्मा में लीन हो गयी तो दुनिया उसे पागल कह रही है पर उसे लग रहा है मुझे सब कुछ मिल गया, तो महानुभाव ! कहने का आशय यह है कि जब चित्त में सरलता सहजता होती है तभी व्यक्ति अपने दोषों को कह पाता है।

आप कहेंगे महाराज श्री ! जब हमारे पास कोई विश्वस्त नहीं है तो हम क्या करें? हमसे कोई मित्रता नहीं करना चाह रहा हो तो क्या करें? कमरे में बंद हो जाओ दीवार की तरफ मुंह कर लो, दीवार को सुनाओ मैंने आज ये काम गलत कर दिया, मैं दुष्ट हूँ, नीच हूँ। महाराज ! दीवार को सुनाते-सुनाते यदि कोई और सुन ले तो ? वह तो मुश्किल कर देगा पागल कहेगा। कोई बात नहीं ज्यादा हो तो एक कोरा रजिस्टर लो और रात में दिन में नींद नहीं आती है तो लिखने बैठ जाओ, अपनी जितनी गलती हैं उनको लिखो अंदर के जितने विकल्प हैं सब निकलकर के स्वाहा हो जायेंगे।

संसार में आज सही के रोग कम हैं भ्रम के रोग ज्यादा हैं और भ्रम रोग सबसे बड़ा रोग है इसकी दवाई डॉक्टरों के पास भी नहीं है, माँ-बाप के प्रति भ्रम, पत्नी, भाई-बहिन, पुत्र आदि के प्रति भ्रम, अड़ौसी-पड़ौसी, मित्र के प्रति भ्रम जिसके प्रति भी एक बार भ्रम बन जाये, उस भ्रम की जड़े बहुत गहरी होती हैं। अपने भ्रम की वह पुष्टि करता जाता है, जब भ्रम बैठ जाता है तो उस भ्रम रोग को दूर करने की औषधि कहीं मार्केट में मिलती नहीं।

भ्रम रोग हर जिनके वचन, मुख चन्द्र तैं अमृत झरें॥

भ्रमरूपी रोग को दूर करने के लिये तो मुनि महाराज के वचन ही काम आते हैं, तभी उस रोग का निदान हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता।

दो व्यक्ति किसी दुकान पर दूध पीने गये। उस दूध की कढ़ाई में छिपकली गिर गई। गिरते ही दुकानदार ने उसे निकाल दी। एक व्यक्ति ने यह देख लिया उसने तो दूध नहीं पिया किन्तु दूसरे व्यक्ति ने दूध पी लिया। जब उसने पहले व्यक्ति से दूध ना पीने का कारण पूछा तो उसने कहा इसमें छिपकली गिर गई थी अब तो उसे भ्रम हो गया कि छिपकली तो मेरे पेट के अंदर चली गयी, अब तो बहुत मुश्किल है। वह रोने लगा, चिल्लाने लगा, तड़पने लगा डॉ. आये कहा कुछ नहीं है, यदि तुम्हारे मुंह में जाती तो तुम्हें एहसास होता। वह बोला हाँ मुझे अहसास हुआ, अरे भाई तुम छिपकली निगल ही नहीं सकते यदि सही की छिपकली होती तो ये वास्तव में मर गया होता, जहर फैल गया होता। अब क्या हुआ-वह सोच-सोच कर बीमार पड़ गया खूब डॉ. वैद्य हकीम आये किंतु कोई ठीक न कर पाया, पेट में तो नहीं पर उसके मन में छिपकली घुस गयी।

एक डॉक्टर आया बोला मैं देखता हूँ-एक बाल्टी रखी उसके सामने, उसमें पहले ही मिट्टी डलवा दी और एक प्लास्टिक की छिपकली डलवा दी। उसने कहा-मैं तुम्हें अभी उल्टी करवाता हूँ अगर छिपकली होगी तो निकल जायेगी, उस डॉक्टर ने क्या किया उसके पेट पर गीला कपड़ा रखकर के कंघा फेरता रहा और पूछा कुछ अहसास हो रहा है। वह बोला हाँ-हाँ छिपकली रेंग रही है, ठीक है अभी निकलती है और पुनः उसे खूब सारा पानी पिलाया और कुछ ऐसी चीज सुंघाई जिससे उल्टी हो जाये और जैसे ही उल्टी आयी तो उस उल्टी में मिट्टी में सब मिक्स हो गया। लकड़ी से देखा कहा-ये तो नहीं है, बोला हाँ ये ही छिपकली है मेरे तो प्राण बच गये, बहुत अच्छा हुआ। सब डॉक्टर कह रहे थे कि नहीं है, अरे जब मैं अपने पेट में अनुभव कर रहा हूँ तो कैसे कह दूँ कि नहीं है। अनुभव की बात कभी झूठी नहीं होती देखा सबने, जब थी तभी तो निकलकर आ गयी, डॉक्टर ने कहा-तुम ठीक कह रहे थे, बाकी सभी झूठे थे। क्योंकि भ्रम रोग को दूर करने के लिये कोई दूसरा उपाय था नहीं। ऐसे ही जिनके मन में भ्रम पैदा हो जाता है किसी भी वस्तु, व्यक्ति के प्रति तो उसे निकालने का कितना भी प्रयास करो बात उलझती चली जायेगी। अगर शांति से बैठ गये तो हो सकता है धीमे-धीमे भ्रम खत्म हो जाये।

तो महानुभाव ! ''विनिन्दनाऽऽलोचनगर्हणैरहं''-विशेष निंदा की जाती है आत्मा की साक्षी में किन्तु अपनी आत्मा की निंदा करता कौन है? निंदा वही करता है जो अपने दोषों को देख लेता है। देखो-आलोचना जब बोल-बोल कर की जाती है अपनी ही साक्षी में तो वह आत्मनिंदा कहलाती है और जब गुरु की साक्षी में की जाती है तो 'गर्हा' कहलाती है और गुरु के सामने या अपनी साक्षी में सामान्यतः अपने दोषों का निवेदन किया जाता है तो आलोचना कही जाती है।

आलोचना कौन करता है ? अपनी साक्षी में अपने दोषों को कौन खोलता है? प्रभु की, गुरु की साक्षी में कौन बोलता है? आलोचना तब होती है, जिसके पास लोचन हों। लोचन किसे कहते हैं? 'आँख को' आँख हो तो तुम कह सकते हो अरे ! मेरे पैर में गंदगी लग गयी, जब आँख से दिखेगी तभी तो कहेंगे, जिसकी आँख ही नहीं है तो वह गंदगी कहाँ से देखेगा। आँख नहीं है तो वह अपनी गंदगी की निंदा कर नहीं सकता। जिसके पास सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की आँख हैं वही अपनी आलोचना कर सकता है, जब लोचन नहीं हैं तो आलोचना कहाँ से। पहले आ लोचन के पास। किसके पास? जब लोचन आ जायेंगे तेरे पास तो कर्मों का विमोचन भी हो जायेगा। बिना आलोचना के कर्मों का विमोचन नहीं। इसलिये सम्यग्दृष्टि व्यक्ति ही निंदा, गर्हा, आलोचना करता है। मिथ्यादृष्टि दूसरों की निंदा करता है अपनी नहीं। वह सदैव प्रत्येक घटनाक्रम में दूसरों की गलती ढूंढता है और सम्यग्दृष्टि घटनाक्रम में अपनी गलती खोजता है, वह आत्मनिंदा करता है। सम्यक्दृष्टि के आठ अंग हैं।

संवेओ णिव्वेओ, णिंदण गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा, अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते।।वसु.श्रा.49

आचार्य वसुनंदी स्वामी जी ने ये आठ गुण सम्यग्दर्शन के दिये। जिसमें निंदा भी एक गुण है। यदि निंदा आत्मा की नहीं कर रहा है तो समझो वह सम्यग्दृष्टि नहीं। दूसरे की निंदा कर रहा है तो समझो मिथ्यादृष्टि। क्योंकि दूसरों की निंदा करने वाला नीच गोत्र का बंध करता है और नीच गोत्र का बंध पहले-दूसरे गुणस्थान तक होता है। दूसरे की निंदा जब-जब भी कोई करे, उसके अविद्यमान दोषों को वह कह रहा है तो समझ लेना उस समय वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। सम्यग्दृष्टि क्या करता है-वह दूसरों की गलती देखता है, उसके पास जाता है कहता है भाई साहब मुझे आपकी ये गलती पसंद नहीं आयी, आप चाहें तो सुधार लें। मुझे हर्ज नहीं है तुम्हारे हित के लिये कहने आया हूँ, तो सम्यग्दृष्टि सीधे तो उससे कह देता है पर उसकी निंदा दूसरे से नहीं करता, वह जानता है जहाँ पर घाव है वहाँ पर दवाई लगाओ तो ठीक हो जायेगा, घाव है पैर में और दवाई लगाई सिर में तो पैर का घाव ठीक नहीं होगा, सिर में एक नया घाव और पैदा हो जायेगा। ऐसे ही निंदा करने वाला व्यक्ति अपनी क्षति करता है, अपनी आत्मा की क्षति करता है, दूसरे की क्षति करता है। जिसकी गलती देख ली उससे नहीं कहा उसकी क्षति हो रही है और जिससे जाकर के कह दिया उसका मन खराब कर दिया उसकी क्षति हो रही है, स्वयं अपने समय का दुरुपयोग करके खुद की क्षति कर रहा है। इसलिये हमें किसी की निंदा नहीं करना चाहिये। जो निंदा करते हैं वे मोक्षमार्ग के द्वारा छोड़ दिये जाते हैं।

महानुभाव ! सुबह-शाम अपने दोषों की विशेष निंदा गर्हा अवश्य करनी चाहिए।

विशेष निंदा पर की नहीं अपनी। विशेष निंदा कहें या विगत निंदा अर्थात् निंदा से रहित बनने के लिये। ऐसी निंदा करो जिससे तुम संसार में कभी निन्दनीय ही नहीं रहो, किसी की भी दृष्टि में। लोचन अर्थात् आलोचन, आलोचना वही करता है जिसके पास लोचन होते हैं। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान रूपी दो लोचन जिसके पास हैं वही अपनी आलोचना कर सकता है, मिथ्यादृष्टि कभी अपनी आलोचना नहीं करता, यदि आपके मन में ये भाव कभी आता है कि हे भगवान् ! मुझसे ऐसा अपराध, गलती दोष हो गया है और मैं इसकी गर्हा-आलोचना निंदा करता हूँ, गुरुदेव के समक्ष जाकर के मैं अपनी गलती ज्यों की त्यों कह दूँगा, प्रायश्चित ले लूँगा तो समझ लेना आप सम्यग्दृष्टि हैं और जिसके मन में अपनी आलोचना करने की, निंदा करने की भावना पैदा नहीं होती वह मिथ्यादृष्टि है और आत्मनिंदा करने की भावना है तो वह सम्यग्दृष्टि है।

आलोचना भी गुरु के सामने ऐसे नहीं करना कि हँसते जा रहे हैं और कहते जा रहे हैं, अरे ! फिर तुम्हें पश्चाताप कहाँ हुआ, कहाँ आलोचना का भाव आया तुम्हारे मन में। भिखारी भी जब भीख माँगता है तो उसकी भाषा होती है, मुद्रा होती है, यदि वह आकर के तुम्हारे सामने कहे-ऐ सेठ-निकाल पैसे मैं तेरे पास भीख माँगने आया हूँ। तो सेठ क्या कहेगा-तेरा दिमाग तो ठीक है, भीख कोई पुलिस वाले का ऑर्डर नहीं है या टेक्स नहीं जो निकालकर रख दी जाये। भिखारी की भाषा और पुलिस वाले की भाषा एक हो सकती है क्या? किसी अधिकारी की भाषा या आपके सेवक की भाषा एक हो सकती है क्या? भगवान् के सामने, गुरु के सामने प्रायश्चित लेने के लिये गये, हँसते, खिलखिलाते हुये तो कहाँ है तुम्हारी निंदा गर्हा। कहाँ है तुम्हारा आलोचना-प्रतिक्रमण? कहाँ है तुम्हारी आत्म शोधन की प्रक्रिया और क्या कोई गुरुदेव तुम्हें ऐसे प्रायश्चित दे देंगे? अनाड़ी होंगे तो भले ही दे दें किंतु मैं समझता हूँ समझदार होंगे तो कहेंगे-अभी तुम्हारी शुद्ध आलोचना नहीं हुई पहले शुद्ध आलोचना करो।

आचार्यों के लिये कहा है-पहले तीन बार आलोचना सुननी चाहिये, उसके बाद चौथी बार में प्रायश्चित दें। प्रायश्चित लेने वाला प्रायश्चित क्यों ले रहा है कि सामने वाले पर रौब जमा सके, मैंने गलती की तो क्या हुआ, प्रायश्चित ले लिया न या दिखाने के लिये कि देखो ये तो छोटी-छोटी गलती तक का प्रायश्चित लेता है कितना पाप भीरु है या गुरु की दृष्टि में अपना स्थान पाने के लिये प्रायश्चित लिया या इसलिये जिससे प्रायश्चित शास्त्र को जान सकूँ, इन सभी कारणों से लिया गया प्रायश्चित वास्तविक प्रायश्चित नहीं होता है ये छल होता है। प्रायश्चित जल की तरह से आत्मा को शुद्ध करने वाला था, तुमने प्रायश्चित में दोष लगाकर के गंदा पानी कर लिया, आत्मा शुद्ध कैसे होगी।

आलोचना का अर्थ मैं तो ऐसा समझता हूँ-लोचन का काम देखने का होता है तो अपनी आत्मा को देखना और आत्मा में क्या-क्या कमी है कहाँ-कहाँ हमारी मन वचन काय की प्रवृत्ति

में कमी रह गयी है उसे देखना है और देखने में समझदार व्यक्ति वह है जो देखकर के सुधार ले। आलोचना तभी होती है जब सही सोच हो और सही सोच आती है सम्यक्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के साथ, तत्त्वचिंतन के साथ, भेद विज्ञान के उपरांत, सही सोच आती है अंतरंग में प्रकाश होने के उपरांत। गुरु के पास जाकर यूँ ही बिना आलोचना के भावों के साथ, बस ऐसे ही कह दो कि प्रायश्चित दे दो, तो प्रायश्चित कोई प्रसाद है क्या ? पहले अपनी आलोचना करो, कितनी गलती है क्या दोष है कहो तो सही और कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति की गलती कम होती है किंतु आलोचना इतने सदोष तरीके से की जाती है कि वह आलोचना का ही प्रायश्चित दिया जाता है, गलती हो सकता है क्षम्य भी कर दी जाए। आचार्य महोदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखकर, गलती को देखकर तब प्रायश्चित देते हैं, किंतु आलोचना तत्काल में देखते हैं कि आलोचना कैसे की जा रही है, उससे उसका चित्त देखा जाता है कि वह उसे शुद्ध करना चाहता है या नहीं।

प्रायश्चित तो अपने चित्त को शुद्ध करने के लिये, व्रतों में लगे दोषों का प्रक्षालन करने के लिये है। व्रतों में जहाँ कहीं भी मलिनता आयी है उन्हें धोने के लिये है। प्रायश्चित अनागत या वर्तमान की गलती का नहीं प्रायश्चित तो अतीत की गलती का होता है। जो कर्ममल आत्मा पर छा गया है उस कर्ममल का प्रक्षालन करना प्रायश्चित है। वर्तमान में ऐसा प्रयास करना है कि आत्मा पर कर्मों की धूल जमे ही नहीं जैसे कोई जौहरी रत्नों को साफ करता रहता है। सर्राफ अपने सोने को पोंछता रहता है यहाँ तक कि सब्जी बेचने वाला भी साफ करता है कि धूल न जमे, बाहर से वस्तु चमचमाती रहे। आज के अधिकांश व्यक्ति बाहर की चमक पर मरने वाले होते हैं अंतरंग के गुणों को देखने वाले बहुत कम होते हैं। सम्यग्दृष्टि उसका नाम है जो अंतरंग की गुणनिधि को देखे। बाहर की दृष्टि, द्रव्य दृष्टि रहती है वह सम्यग्दृष्टि नहीं होता।

तो तत्काल में सफाई करने का नाम है-प्रतिक्रमण जैसे ही गलती हुयी "तस्स मिच्छा मे दुक्कडं। लघुशंका शौच आदि भी जब साधु जाते हैं तब तुरंत ही शुद्धि के उपरांत कायोत्सर्ग करते हैं 'तस्समिच्छा मे दुक्कडं'। छींक, खाँसी, जम्हाई आती है तुरंत ही तस्स मिच्छा मे दुक्कडं कहते हुये कायोत्सर्ग करते हैं। यहाँ तक कि कहीं जाना है तो नि: सहि-नि:सहि कहकर जाते हैं लौटकर आने में अ:सहि-अ:सहि कहते हैं। मार्ग में चार कदम भी चलें तो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं और ईर्यापथ प्रतिक्रमण करते हैं यदि मुझे दोष लगा हो, ईर्या समिति में। दो शब्द भी बोले मन में ही कहते हैं तस्स मिच्छा मे दुक्कडं भाषा समिति का उल्लंघन हुआ, सत्यमहाव्रत का यदि उल्लंघन हुआ जाने-अनजाने में तो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं। यदि आहार करने गये, आहार करके जैसे ही पाटे पर बैठे तुरंत ही वहाँ पर सिद्ध भक्ति करने के साथ-साथ तस्स मिच्छा मे दुक्कडं-आहार चर्या में कोई दोष लगा हो, एषणा समिति का पालन नहीं किया हो, बत्तीस अंतराय का पालन

नहीं किया हो, एक भुक्ति, स्थिति भोजन में कहीं दोष लगा हो या 46 दोषों को नहीं टाला और भी कोई मल दोष लगे हों, भाव अशुद्ध हुये तो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं। वहीं पर तत्काल ही धूल झाड़ कर साफ कर दो। तो प्रतिक्रमण वर्तमान के लिये होता है और प्रायश्चित अतीत में जो धूल जम गयी है उसे खरोंच कर साफ करो। चित्त की शुद्धि ही नहीं होगी तो सामायिक ही नहीं होगी, इसलिये प्रतिक्रमण करना बहुत जरूरी है और क्षमा माँगना बहुत जरूरी है और जब निर्मल भाव होते हैं तभी सामायिक में शांति मिल सकती है चित्त स्थिर हो सकता है।

महानुभाव ! शुद्धि चित्त की भी हो केवल शरीर की नहीं। शरीर की चमक को जमाना देखता है, अंतरंग की गुणवत्ता को नहीं देखता। बाहर की चमक देखने से संतुष्टि नहीं होती, क्योंकि यदि उसमें गुण नहीं है तो वह त्याज्य है और बाहर से यदि उतनी सुंदर और आकर्षक नहीं है अंदर में गुणवत्ता है तो ग्राह्य है। यही बात किसी प्रज्ञ, विद्वान्, मनीषी मंत्री ने राजा से कही-किंतु राजा ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। राजा ने कहा-सुंदरता मेरे लिये पहले ग्राह्य है मंत्री ने कहा-महाराज ! सुंदरता को आप इतना स्थान न दें, सौंदर्य गुणवत्ता से निखरकर आ जाता है और दोषों के साथ सौंदर्य भी मलिन हो जाता है सोने की लंका में रहने वाला रावण, यदि रावण पापिष्ठ है तो सोने की लंका भी त्याज्य है और झोपड़ी में रहने वाली शबरी, उसकी भावना पवित्र है तो वह झोंपड़ी पवित्र है, वह चाहे कंटकाकीर्ण मार्ग ही क्यों न हो तब भी ठीक है। किंतु राजा की समझ में नहीं आया और भी उदाहरण दिये कहा कि महावीर स्वामी को चंदन बाला के वह उड़द की दाल के छिलके स्वीकार हैं किंतु किसी महल में कसाई के यहाँ बनने वाले 56 प्रकार के व्यंजन स्वीकार नहीं हैं। फिर भी राजा संतुष्ट नहीं हुआ।

मंत्री ने अब उसे प्रत्यक्ष उदाहरण से समझाने का प्रयास किया, गर्मी का समय था, राजा बहुत हारा-थका था, राजा ने कहा थोड़ा पानी चाहिये। सेवक को बुलाया, तो महामंत्री ने सेवक को स्वर्ण के कलश में पानी लेकर भेजा, जैसे ही राजा ने वह रत्नजड़ित गिलास पकड़ा पानी को देखकर नाक मुँह सिकोड़ी, फिर भी होठों से लगाया एक घूंट भी नहीं पीया और गुस्से में आकर गिलास को फेंक दिया, धूर्त हो, मूर्ख हो, मुझे इस तरह का पानी पिलाते हो। सेवक ने क्षमा माँगी तभी दूसरा सेवक आया बोला मेरे पास मिट्टी की सुराही का पानी है और उसने मिट्टी के कुल्हड़ में उस सुराही का पानी राजा को दिया, राजा ने पिया, बहुत ही ठंडा व स्वादिष्ट पानी था राजा ने एक नहीं तीन-चार कुल्हड़ पानी पी लिया और कहा वाह ! शांति मिल गयी। इतने में ही महामंत्री उपस्थित हुआ बोला-महाराज मैं आपसे पूछना चाहता हूँ सेवक का क्या कसूर था, उसने रत्नजड़ित गिलास में आपको पानी दिया स्वर्ण कलश में भरा वह जल, आपने फेंक क्यों दिया? राजा ने कहा-मंत्री जी आप समझते नहीं गर्मी का समय है, मैं थका हारा आया मुझे ठंडा पानी चाहिये था। महाराज ! गिलास स्वर्ण का था, रत्नजड़ित था फिर भी। अरे मंत्री मुझे सोने से कुछ

नहीं चाहिये था मुझे तो ठंडा पानी चाहिये था पर महाराज आपने जीवन में कभी कुल्हड़ से पानी नहीं पिया आप तो सदैव सोने-चांदी के बर्तनों में ही आहार-जल ग्रहण करते हैं आज आपने मिट्टी की सुराही वाला पानी पी लिया। राजा बोला-वह पानी ठंडा था, स्वादिष्ट था, स्वास्थ्य के लिये उपयोगी था, औषधिरूप था, पीते ही लगा कि जैसे अमृत मिल गया हो।

मंत्री बोला-महाराज यही तो मैं आपको बताना चाह रहा था। आपकी दृष्टि कुल्हड़ पर तो नहीं थी, मिट्टी की सुराही पर नहीं थी, आपने क्या देखा-पानी की गुणवत्ता देखी और उसे स्वीकार कर लिया और सेवक को पुरस्कार भी दे दिया। ऐसे ही जो व्यक्ति वास्तव में ही गुणी है, प्रज्ञ है, मनीषी है, आत्मज्ञ है वह तो गुणवत्ता देखकर के ही व्यक्ति को सम्मान देते हैं और जो व्यक्ति आत्मा तक पहुँच ही नहीं पाये उन्होंने किसी के शरीर के सौंदर्य को देखकर सम्मान किया तो समझो उसकी दृष्टि नगरनारि से ज्यादा नहीं है। नगर नारि बाहर का सौंदर्य देखती है, यदि हम भी ऐसा करते हैं तो धार्मिक नहीं हैं।

यदि व्यक्ति में गुणवत्ता है तो कैसा भी रूप हो क्या फर्क पड़ता है किंतु आज के जमाने में व्यक्ति बाहर ज्यादा देखता है। फिर भी ये ध्यान रखना कितना ही जमाना बदल जाये धर्म कभी लुप्त नहीं होता, किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में कम-ज्यादा तो होता है किन्तु धर्म का पूर्णतया अभाव नहीं होता। धर्म के मर्म को समझने वाले ही सत्कर्म में अग्रसर होते हैं और जिन्होंने धर्म के मर्म को नहीं समझा, केवल चर्म को ही धर्म का आधार मान लिया है वे भ्रम में पड़कर के श्वभ्र (नरक) को प्राप्त होते हैं, किंतु जो धर्म के मर्म को समझकर के अंदर से नरम हो जाते हैं जिनके परिणाम धर्ममय होते हैं वे शिवशर्म को प्राप्त करते हैं। यथार्थ मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं।

महानुभाव ! ये मर्म समझ में आता है अपनी गलती देखने से। ''मैं प्रत्येक घटनाक्रम में स्वयं की गलती खोजने की कोशिश करूँगा'' ये सुबह-शाम बोलना चाहिए। जो अपनी गलती ढूंढ़ने की कोशिश करता है उसे दूसरा कभी कोई उसकी गलती बताता नहीं और वह यदि नहीं खोज पाता है तो पूछ लेता है किंतु जो अपनी गलती खोजता नहीं, पूछता नहीं तो सामने वाले को टोकना पड़ता है भाई साहब ! आपकी ये गलती है क्षमा करना पहले आप इसे सुधारो। सामने वाला कब टोकता है जब अति हो जाती है यदि टोकने से नहीं मानता है तो फिर आदेश देना पड़ता है, फिर भी नहीं मानता है तो दण्ड देना पड़ता है। जो स्वयं ही अपनी गलती को देखने व सुधारने में समर्थ हो उसे दण्ड की आवश्यकता कहाँ।

तो महानुभाव ! हम सभी देख रहे हैं कि साधक कितनी चित्त की शुद्धि करता है, अपनी निंदा-गर्हा-आलोचना विशेष रूप से करता है। जो व्यक्ति जानता है मेरा आत्मारूपी वस्त्र गंदा हो

गया है वही साफ करने का प्रयास करेगा, जिसने अपने आत्मारूपी वस्त्र को गंदा स्वीकार किया ही नहीं, वह चाहे कितना ही गंदा हो जाये वह उसे साफ करेगा ही नहीं। जो स्वच्छ, शुद्ध, पवित्र है वह गंदे वस्त्र वालों के बीच नहीं बैठेगा। जिसने शुद्धि को पहचान लिया है वह अशुद्धि को त्यागेगा। जिस तरह की आत्मा गंदी है वह पुनः वहीं फेंक दी जाती है। नारकीवत्, गंदी है तो नरक में फेंक दी जाती है, तिर्यंचवत् है तो तिर्यंचगति में फेंक दी जाती है। जिसकी शुद्ध है वह अरिहंत व योगियों में जाकर विराजमान हो गयी।

महानुभाव ! आत्मा को शुद्ध करने का तरीका है-निंदा-गर्हा-आलोचना। आगे कहा-

निहन्मि पापं भव दुःख कारणं, भिषग्विषं मन्त्र गुणैरिवा-खिलम्॥

पाप बहु दुःख का कारण है **''पापं बहु दुःख कारणं''** ये सूक्ति है। सुबह-शाम, उठते-बैठते ये सूक्ति बोलना-कि मैंने मन से, वचन से, काय से कोई पाप किया 'पापं बहु दुःख कारणं'। छोटा पाप किया, बड़ा पाप किया मेरी आत्मा बंधी। झूठ बोल गया-हे भगवान् मुझसे आज मिथ्या भाषण हो गया-'पापं बहु दुख कारणं'। पाप बहुत दुःख का कारण है इसलिये 'निहन्मि' मैं उसका नाश करता हूँ, मारता हूँ। किसको? जिस व्यक्ति ने तुमको मारा है उसको? नहीं अपितु जिस पाप ने तुमको मारा है उस पाप को मारता हूँ। यदि बाप ने गाल पर थप्पड़ लगा दिया तो बाप के गाल तक पहुँचने का दुःसाहस मत करना कि थप्पड़ क्यों मार दिया, वरन् अपने दोष को देखना कि उन्होंने मुझे सुधारने के लिये थप्पड़ मारा है, मैं अपनी गलती को मारूँगा। मैंने झूठ बोला था, चोरी की, मैंने कुकृत किया, पिता जी ने तो वात्सल्य भाव से, करुणा दया बुद्धि से मुझे सुधारने के लिये थप्पड़ मारा है मुझे उनके गाल तक नहीं पहुँचना है मुझे पाप की जड़ तक पहुँचना है मैं पाप को मारूँगा, पाप से बदला लेकर रहूँगा, ये पाप ही मुझे अनादि काल से भव-भव में रुलाता है, दुःखी करता है और जो मिथ्यादृष्टि है वह कहता है मैं तो बाप को देख लूँगा, माँ को देख लूँगा, भाई को देख लूँगा।

सम्यग्दृष्टि कहता है-'पापं बहु दुःख कारणं'' इसलिये मैं पाप का नाश करता हूँ। पापों को बनाने की तीन फैक्ट्री हैं एक फैक्ट्री का नाम है मनोद्योग-मन के उद्योग में सबसे ज्यादा पाप कर्म पैदा किये जाते हैं, दूसरी फैक्ट्री है वहाँ पर न ज्यादा रॉ मेटीरियल है न कोई ज्यादा मशीनें हैं न कोई ज्यादा लेबर है लाइट भी कभी-कभी आती है वह है वचन की फैक्ट्री। वचन उद्योग उसमें भी पाप पैदा होते हैं किंतु बहुत कम। तीसरी फैक्ट्री है जंगल में जाकर के झाड़ झंकड़ में कभी एकाध व्यक्ति पहुँच गया तो पहुँच गया। मशीन चल गयी तो चल गयी, लाइट कभी आ गयी तो आ गयी वह है शरीर की फैक्ट्री उसमें सबसे कम काम होता है। तो सबसे ज्यादा माल कहाँ तैयार होता है-मन की फैक्ट्री में। मन की फैक्ट्री यदि थोड़ी भी बंद हो जाये तो बहुत काम चल जाता है, शरीर की और वचन की फैक्ट्री कितनी भी बंद कर लें, आँख बंद करके बैठ गये, चलो विषयों

का सेवन नहीं कर रहे शरीर से पाप बहुत कम होते हैं न के बराबर, वचन से थोड़े ज्यादा होते हैं किंचित् और मन से तो थोक के भाव में पाप होते हैं। मन की फैक्ट्री तो ऐसी है जिसमें पापों का रॉ मेटीरियल सबसे ज्यादा स्पीड से आता है। ऐसे ही मन से पाप नष्ट भी बहुत जल्दी होता है इसलिये जो निंदा-गर्हा आलोचना मन से की जाती है तो मन से पाप जाते भी बहुत हैं। पापों का संग्रह चाहे मन से किया हो या थोड़ा सा वचन से किया हो या कहीं काय वाली फैक्ट्री से माल आया हो, वह आत्मा को सताता ही है।

इनमें मूल कारण है कषाय। वह कषाय तीनों फैक्ट्रियों का मालिक है। कषाय रूपी डायरेक्टर के रहने से तीनों फैक्ट्रियों में पाप का निर्माण होता है और जब तीनों फैक्ट्रियों पर प्रशम भाव बैठ जाता है, संयम रूपी डायरेक्टर बैठ जाता है तो तीनों जगह पुण्य रूपी माल का प्रोडेक्शन होता है। आगे कहा-उन्हें (कषायों को) कैसे मारता हूँ, बहुत अच्छा उदाहरण दिया **भिषक्**-अर्थात् वैद्य, मंत्र तंत्र करने वाला तांत्रिक जैसे सर्प या बिच्छू के डसने पर उसके जहर को नष्ट करने के लिए **''गुणैरिवाखिलम्''** सम्पूर्ण जहर को वह अपने मंत्र की शक्ति से मारता है। अकेला मंत्र काम नहीं करता, निमित्त भी चाहिये यदि सर्प ने डस लिया है तो उस विष को उतारने के लिये संसार में कोई भी मंत्र हो सबसे पहले गरुड़ पक्षी का चित्र बनाया जाता है तब सर्प का जहर उतारा जाता है।

एक बार शांतिसागर जी महाराज के पृष्ठ भाग पर फोड़ा हो गया था, वह ठीक नहीं हुआ तो बाद में एक वयोवृद्ध व्यक्ति आया उसने कहा ये तो हाथी फोड़ा है सिंदूर से पीठ पर शेर का चित्र बनाया और शेर का चित्र बनाते ही हाथी फोड़ा सिकुड़ गया और दवाई लगाई तीन दिन में ठीक हो गया।

मंत्र क्या है-प्रशमभाव मंत्र है, समताभाव, मैत्रीभाव, कारुण्य भाव मंत्र है। ये संसार विष को नष्ट करने के बीजाक्षर हैं। सम्यग्दर्शनादि मुख्य बीज हैं, इसके बिना वह विष दूर होता ही नहीं, संसार का जो जहर चढ़ा है, कषायरूपी सर्पों ने जो काट लिया है उसका जहर चढ़ गया है या विषय रूपी बिच्छूओं ने काट लिया है या मिथ्यात्व रूपी भुजंग काला नाग जिसकी दृष्टि में ही आशीर्विष है दृष्टि विष है आँख खोलकर देख ले तो व्यक्ति वहीं भस्म हो जाये, फुंकार मार दे तो 100 हाथ दूर खड़ा व्यक्ति भी जलकर भस्म हो जाये, ऐसा भयंकर मिथ्यात्व का जहर उसे दूर करने के लिये सम्यक्रूपी बीजाक्षर काम करता है। अज्ञान के विष को दूर करने के लिये मुख्य बीजाक्षर सम्यग्ज्ञान है। असंयम के विष को दूर करने के लिये मुख्य बीजाक्षर सम्यक्चारित्र है और छोटे-छोटे बीजाक्षर उसमें लगे हैं। प्रशम भाव, संवेग, आस्तिक्य, कारुण्य आदि अथवा पाँच व्रतों को, सात शीलव्रतों को पालने वाली भावनायें, समाधि की भावनायें ये सब संसार के विष को दूर करने वाले मंत्र के बीजाक्षर हैं।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

दोषों का परिमार्जक-प्रतिक्रमण

महानुभाव !

यहाँ हम 7 काव्यों को देख चुके हैं, 8वें काव्य को देखने का प्रयास करेंगे। यह अष्टम काव्य बहुत महत्वपूर्ण है, यदि इसे नहीं समझा तो अष्टगुणों की प्राप्ति असंभव है, इस काव्य को समझे बिना आठ कर्मों का नाश असंभव है। इसे समझे बिना संसार के कष्ट नष्ट नहीं हो सकते। बहुत इष्ट है यह काव्य।

इस काव्य में हम व्रतों की शुद्धि के संबंध में देखेंगे। यह काव्य स्पष्ट संकेत कर रहा है कि दोष कैसे-कैसे हैं, कैसे व्रतों में दोष लगते हैं उसकी प्रमार्जनीय क्या है। पहले थोड़ी गंदगी आयी, फिर ज्यादा गंदगी आयी और धीमे-धीमे वस्तु का अस्तित्व ही नष्ट हो गया। पहले वस्तु इतनी खराब नहीं हुई, चलेगी, दूसरी बार वस्तु में खराबी आ गयी और तीसरी बार में वस्तु अग्राह्य हो गयी और चौथी बार में वस्तु का अस्तित्व ही नष्ट हो गया। जैसे माना कि शुद्ध स्वच्छ स्वादिष्ट खीर है उस खीर में स्वाद नहीं आ रहा, वस्तुयें सब डाली हैं किंतु वस्तुओं की मात्रा कम ज्यादा हो जाने से स्वाद बिगड़ गया तो खीर का मात्र स्वाद बिगड़ा है उसे खाया जा सकता है, अच्छा स्वाद नहीं आया कोई बात नहीं। दूसरी खीर ऐसी है जिसमें स्वाद ही नहीं है ऐसा लग रहा है कि खीर है या रावड़ी। मिठास आदि स्वाद ही नहीं आ रहा, उसको वह खा रहा है वह खीर खीर नाम को भी लजा रही है, तीसरे कटोरे में खीर रखी है उसमें थोड़ी सी भूल हो गयी शक्कर के स्थान पर नमक डल गया अब तो खीर को खाना भी मुश्किल है, चौथे कटोरे में खीर रखी है उसमें कंकड़-पत्थर आदि पड़े हैं उसे तो खीर ही नहीं कहा जा सकता उसे तो फेंक देना चाहिये। खीर में एक मुट्ठी धूल पड़ गयी तो वह खीर नहीं कचरा हो गयी।

ऐसे ही हमारे व्रतों में कब-कब कहाँ-कहाँ दोष लगते हैं उन दोषों के बारे में हम यहाँ 8वें काव्य में जानेंगे, क्योंकि विद्वत्वर दौलत राम जी कहते हैं-

पहले दोष को जानोगे तभी तो उनसे बचोगे और बन पाओगे निर्दोष, विगतदोष। तो दोषों को नष्ट करते जाना ही गुणों की प्राप्ति है, जितने दोष नष्ट हो जाते हैं उतने गुण प्राप्त हो जाते हैं। हम अपनी आत्मा में से एक-एक कर्म को नष्ट करते जायें तो हमारी आत्मा में एक-एक गुण प्रकट होता जायेगा, हम एक-एक शत्रु को मित्र बनाते जायें, शत्रुता को मारते जायें शत्रु मर जायेगा मित्र उत्पन्न हो जायेगा, शत्रु को मारने से शत्रुता नहीं मरेगी किंतु शत्रुता को मारने से शत्रु भी मर जाता है। शत्रुता में ही मित्रता की स्थापना कर दो। तो यहाँ पर दोषों को समझना है, दोष शत्रु हैं, उनका निराकरण करना है।

किसी वृक्ष पर काँटे लगे हैं और कोई कांटे को वहाँ से तोड़कर फेंक दे तो उसी स्थान पर फूल खिल जाता है। पहले कांटा होता है बाद में वह फूल बन जाता है यदि कांटा नहीं तोड़ा तो

फूल नहीं बनेंगे जितने ज्यादा कांटों को तोड़ दिया उतने ज्यादा फूल निकलकर के उसमें आ जायेंगे, ऐसे ही हमें दोषों को पहले देखना है क्योंकि दोष हमारी निधि को नष्ट करते हैं। अच्छी बात ये है कि हम तो काँटों को निकाल रहे हैं फूल तो अपने आप पैदा हो रहे हैं यदि पुष्प अलग से चिपकाये जायें तो पुष्प टिकेंगे नहीं काँटों को निकालना जरूरी है ऐसे ही दोषों को जब तक नहीं निकाला जाये तब-तक गुण उत्पन्न होते नहीं। **'एक पंथ दो काज'।**

तो यहाँ पर व्रतों की शुद्धि के लिये 8वाँ काव्य नितांत आवश्यक है। इस पाठ के बिना सामायिक का ठाट-बाट अनुभव में नहीं आ सकता। चाहे किसी को प्राप्त हो जाये राजपाट किन्तु वह राजपाट भी आत्मा का ठाट-बाट नहीं दे सकता इसलिये हमें यहाँ 8वाँ काव्य समझना है। सभी के व्रत निर्मल हों। चाहे कोई राजा हो या सेवक यदि स्वच्छ शुद्ध वस्त्र पहनकर आया हो तो अच्छा लगता है, गंदे वस्त्र, मलिन वस्त्र जिसमें बदबू आ रही हो तो सामने वाला उसे अपने पास नहीं बिठालना चाहता। ऐसे ही निर्मल व्रत सभी के द्वारा प्रशंसनीय व पूज्यनीय होता है तथा जो व्रत सदोष होता है वह नि:संदेह उपेक्षनीय हो जाता है। यहाँ कहा-

अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं, जिनातिचारं सुचरित्रकर्मण:।
व्यधामनाचारमपि प्रमादत:, प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये॥८॥

जिनदेव ! शुद्ध-चारित्र का, मुझसे अतिक्रम जो हुआ,
अज्ञान और प्रमाद से व्रत का व्यतिक्रम जो हुआ।
अतिचार और अनाचरण जो-जो हुये मुझसे प्रभो,
सबकी मलिनता मेटने को, प्रतिक्रमण करता विभो॥8॥

अन्वयार्थ-(**जिन**) हे जिनेन्द्र ! (**अहं**) मैंने (**सुचरित्र कर्मण:**) समीचीन चारित्र की क्रिया के विधान का (**विमते:**) अव्यवस्थित बुद्धि से (**प्रमादत:**) व प्रमाद से (**यत्**) जो (**अतिक्रमं**) अतिक्रमण किया हो (**व्यतिक्रमं**) व्यतिक्रम किया हों, (**अतिचारम्**) अतिचार (**च**) और (**अनाचारम् अपि**) अनाचार भी (**व्याधां**) किया हो/लगाये हों (**तर्हि**) तो (**तस्य**) उसकी (**शुद्धये**) शुद्धि के लिये (**अहं**) मैं (**प्रतिक्रमम्**) प्रतिक्रमण (**करोमि**) करता हूँ।

छटवें काव्य में देखा था कि अज्ञानता व प्रमाद के कारण, इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति करने से जो भी हमने दोषों का संचय किया है या अक्षविषय और मन के द्वारा दोषों का संचय किया है अथवा मन, वचन, काय द्वारा दोषों का संचय किया है। दोषों का संचय नि:संदेह दुर्गति का कारण है और गुणसंचय सुगति का हेतु है, सोपान है। व्यक्ति कोष का संचय करता है, परिग्रह का संचय करता है वह भी दुर्गति का पात्र है क्योंकि कोष दोष का कारण है किंतु जब व्यक्ति होश में आता है तब गुण संचय करता है, गुणों का प्रादुर्भाव अपनी चेतना में करता है तो वह नियम से सुगति का कारण है। मन वचन काय ये पुण्य कर्म के संचय (आश्रव) के हेतु भी हैं और ये पाप कर्म के आश्रव के हेतु भी हैं।

महानुभाव ! यहाँ पर बता रहे हैं कि हे जिनेन्द्र देव ! मेरे व्रतों में दोष कैसे-कैसे लगते हैं। मैंने अपने व्रतों में अतिक्रम लगाया हो। आप कहते हैं-अतिक्रमण कर रहे हैं यदि तुम सरकार के नियमों का अतिक्रमण अर्थात् मर्यादा का उल्लंघन करोगे तो क्या होगा? सरकार की दृष्टि में आप दण्डनीय होंगे। अतिक्रमण को तुम अपना अधिकार नहीं बना सकते, अपनी मर्यादा में रहो। यहाँ तक कि सरकार कहती है जो तुम्हारा है उसमें से भी छोड़ो 200 गज आपके पास जगह है तो कम से कम 30 प्रतिशत छोड़नी पड़ेगी आप उसमें बना नहीं सकते 60 गज फ्री छोड़कर चलो। तो अपने में से भी छोड़ना बताया है यह सरकार ने लॉ आज बनाया है किन्तु हमारे यहाँ तो ये लॉ अनादि काल से बना हुआ है, कितना भी कमाओ लेकिन न्याय पूर्वक कमाये हुये धन में से 25% दान करो तो आपका जीवन सुखी और शांत होगा।

तुम 100% कमाके पूरा का पूरा स्वयं खाना चाहोगे तो सुख से जीवन में जी नहीं पाओगे ये बात ध्रुव सत्य है। तुम्हारे कमाये हुये धन पर 25% तुम्हारा हिस्सा है, 25% पर तुम्हारे वृद्ध माता-पिता का हिस्सा है, 25% पर पुत्रादि का हिस्सा है और 25% पर धर्म का हिस्सा है। यदि तुमने माता-पिता का भी हड़प लिया, बच्चों का भी हड़प लिया, धर्म का भी हड़प लिया तो ऐसा खाकर के तुम स्वस्थ नहीं रह सकते। माता-पिता को 25% दिया नहीं उनकी दुआयें तुम्हें लगेंगी नहीं तो सुख शांति कहाँ से मिलेगी। भले ही तुम करोड़ों-अरबों कमाओ क्या फर्क पड़ता है यदि तुमने 10 रु. भी कमाए और ढाई रु. ईमानदारी से माता-पिता के लिये खर्च किया है तो तुम्हें अशांति नहीं मिलेगी। 25% निकालकर माता-पिता का कर्ज चुका दिया, माता-पिता ने तुम्हारे लिये किया तुमने चुका दिया उनके ऋण से उऋण हो गये, अन्यथा तुम पर कर्ज रहेगा।

25% स्वयं के शरीर के लिये लगाओ खाने-पीने में जिससे धर्म ध्यान कर सको और नैतिक कर्म कर सको। 25% अपने बच्चों को दो, वह तुम अपने बच्चों को कर्ज दे रहे हो, यदि 25% धन भी दिया है, समय भी दिया है तो बच्चे भविष्य में तुम्हारे काम आयेंगे, निःसंदेह सेवा करेंगे किंतु करेंगे तभी जब तुमने 25% माता-पिता की सेवा में लगाया है। तुम सोचो कि माता-पिता का हम कुछ नहीं करें वे छोटे भाई के पास चले जायेंगे, हम तो अपना ही खर्च नहीं चला पा रहे हैं तो बेटे भी भविष्य में तुम्हारे साथ ऐसा ही करेंगे, इसलिये यदि तुम अपने माता-पिता की सेवा करोगे तो तुम्हारे बेटे भी तुम्हारी सेवा करेंगे। भले ही अपने बच्चों के लिये तुमने थोड़ा कम भी खर्च कर दिया हो सही मानना तुम्हारा पुण्य कहीं जायेगा नहीं तुम्हारा सगा बेटा सेवा नहीं करेगा तो कोई दूसरा आकर के तुम्हारा बेटा बनकर तुम्हारी सेवा करेगा, तुम्हें फल नियम से मिलेगा। तो कमाई के 25% पर पहला अधिकार है माता-पिता का।

शिष्य भी योग्य हो जाता है तो पहले गुरु के चरणों में जाता है कहता है गुरुदेव ! आपकी कृपादृष्टि आपका प्रसाद सब आपका है क्या करना है, कैसे करना है, मुझे नहीं मालूम। ऐसे ही जब गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है तो कहता है माता-पिता से, मुझे नहीं मालूम आपने व्यापार

दिया, आपने पढ़ाया लिखाया, मैं यह कमाई करके लाया हूँ आप इसे रखें मुझे नहीं पता क्या करना है। तो कम से कम 25% पर तो उनका अधिकार है। द्वितीय हिस्सा तुम्हारे लिये है, तीसरा हिस्सा बाल-बच्चों का है वह आपके भविष्य के सुखी जीवन के लिये है और भविष्य में बच्चों में अच्छे संस्कार डालने के लिये भी है और अगला 25% धर्म के लिये निकालो।

इस 25% में से 1 भी पैसा मैं अपने हिस्से नहीं लूँगा, लोग कहते हैं मंदिर का द्रव्य खाने में, मंदिर की बोली लेकर चुकाया नहीं तो निर्माल्य का दोष लगता है। वह निर्माल्य सेवन वाला नरक जाता है, लूला, लंगड़ा, बहरा, काना होता है, इतना ही नहीं आचार्य महोदय कहते हैं यदि वास्तव में तुमने 25% धर्म का नहीं निकाला है तो भी तुम निर्माल्य का सेवन करते हो, वह निर्माल्य सेवन करने वाला सुखी कैसे रह सकता है? ऐसे भी व्यक्ति हैं जो 25% से भी ज्यादा दान करते हैं, जितना दान करते हैं उतना ही बढ़ता जाता है और जो धर्म का खाता जाता है उसकी आय घटती चली जाती है। उसका पैसा मारा जाता है चाहे तुम कुछ भी कर लेना, कितने ही ईमानदारी से चलना किंतु पैसा तुम्हारा वसूल हो ही नहीं पायेगा। जब धर्म नहीं है तो सुख शांति कहाँ से आयेगी। धर्म का फल सुख है, माता-पिता की सेवा उनका आशीर्वाद शांति है, बच्चों की सेवा भविष्य का इंशोरेंश है (बीमा) है।

तो महानुभाव ! हम देख रहे थे अतिक्रम-यदि हमारे व्रतों में अतिक्रम लगा है अर्थात् छोटा दोष, 'व्यतिक्रम' थोड़ा दोष और बढ़ गया, 'अतिचार' हमारे व्रत का एक देश खण्डन ही हो गया, 'अनाचार'-हमारा पूरा व्रत ही नष्ट हो गया। हे जिनेन्द्र देव ! "सुचरित्रकर्मणः" मैंने अच्छे चरित्र में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार आदि दोष लगाये जो कुछ भी प्रमादवश, अज्ञानतावश, कषाय के आवेश में किया तो उस सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। प्रतिक्रमण अर्थात् तात्कालिक दोषों का तुंरत ही परिमार्जन कर देना। यदि क्रोध की अग्नि जली तो तुरंत ही क्षमा का जल डाल दो तो आपकी आत्मा तरोताजा रहेगी अन्यथा सड़ जायेगी। अपने आचरण की, आत्मा की सुरक्षा करना जरूरी है। तो सबसे पहले जो छोटा सा दोष लगता है उसे अतिक्रम कहते हैं। फिर जब दोष थोड़ा ठहर गया बढ़ गया तो वह कहलाता है व्यतिक्रम, विशेष अतिक्रम हो गया पुनः वह और ज्यादा हो गया घात करना ही प्रारंभ कर दिया तो अतिचार, पूरा नष्ट हो गया तो अनाचार। फलों पर थोड़ी सी धूल जमी माना कि अतिक्रम, धूल ज्यादा जम गयी जीव पड़ने लगे व्यतिक्रम, यदि कहीं किसी ने छेद कर दिया, उसके अंदर कीटाणु चले गये, फल सड़ने लगे तो अतिचार, फल फेंकने लायक हो गया तो अनाचार। तो व्रतों पर पहली बार धूल आयी तो चमक नष्ट हुयी ये है अतिक्रम, धूल ज्यादा जम गयी उसका स्वरूप ही सही दिखाई नहीं दे रहा है तो व्यतिक्रम और यदि व्रत का एक हिस्सा कट गया अतिचार और पूरा व्रत नष्ट हो गया तो अनाचार।

इस प्रकार दोषों के चार भाग हैं क्रम-क्रम से लघु दोष उसको यदि नहीं संभाला तो बड़ा दोष, उसे भी नहीं संभाला तो बहुत बड़ा दोष उसे नहीं संभाला तो और बड़ा दोष। जैसे कोई शत्रु पक्ष है, शांति से राजा व प्रजा जी रही थी, शत्रु पक्ष का दूत आया कहा-हमारे राजा ने कहा है आप हमारी आधीनता स्वीकार करो नहीं तो अच्छा न होगा। दूत का आना-अतिक्रम।

पहले दूत आया, अब सेनापति मंत्री आदि पत्र लेकर आये, कहा इस पत्र पर हस्ताक्षर करें और हमारे महाराज की अधीनता स्वीकार करें, अन्यथा युद्ध के लिये तैयार हो जाइये यह कहलाया-व्यतिक्रम। इस पर भी राजा सावधान नहीं हुआ तो शत्रुपक्ष की पूरी सेना ने आकर के घेर लिया, नगर को गुलामी में बांध लिया, कहा-अभी हस्ताक्षर करो हमारी आधीनता स्वीकार करो हम तुम्हारे देश को छोड़कर चले जायेंगे यह है-अतिचार और राजा नहीं माना उसे बंदीगृह में डाल दिया, राजा को मार दिया, प्रजा खण्डित कर दी, अपनी ध्वजा फहरा दी, गद्दी पर अपना राजा बैठा दिया तो यह हो गया अनाचार।

ऐसे ही हम व्रतों के बारे में भी सोचें। व्रत भी यकायक पूरा नष्ट नहीं होता है। उसमें थोड़े-थोड़े दोष लगते रहते हैं तो वह बढ़ जाता है, उसकी परवाह नहीं की तो और बढ़ जाता है पुनः व्रत नष्ट हो जाता है। कभी भी जीवन में बुरी आदत आती है तो एक साथ नहीं आती धीमे-धीमे पैर फिसलता है। महानुभाव ! ये चार बातें-अतिक्रम, व्यतिक्रम अतिचार और अनाचार इन चार बातों से जो भी दोष लगा हो तो हे जिनेन्द्र देव ! उन सबके लिये प्रतिक्रमण करता हूँ।

अतिक्रमण किया है इसलिये प्रतिक्रमण करना जरूरी है जो अतिक्रमण नहीं करता उसे प्रतिक्रमण नहीं करना पड़ता, दण्ड नहीं भोगना पड़ता है। मर्यादा में रहने वाले को कभी दण्ड नहीं भोगना पड़ता। प्रतिक्रम-जो क्रम है उसके प्रति लौटकर के पुनः रिवर्स हो जाओ, जहाँ से चले थे वहाँ से दुबारा चलना प्रारंभ करो, जितनी सीमा रेखा के बाहर चले गये पुनः लौटो अपनी सीमा रेखा के पास। आ लौट चलें निज घर की ओर। पक्षी प्रातःकाल घोंसले से निलकता है, दाना चुगने जाता है, घूमने जाता है। शाम को लौटकर अपने घर आ जाता है आप लोग भी प्रातःकाल भगवान् के चरणों में माथा झुकाकर व्यापार, ऑफिस कहीं भी जाते हैं शाम को पुनः लौटकर अपने घर आ जाते हैं, ऐसे ही आपने मन से, वचन से, काय से कोई पाप किया, अपनी मान मर्यादा का उल्लंघन किया तो शाम को लौटकर अपने घर आ जाओ शाम को आलोचना पाठ आदि पढ़ो। नहीं पढ़ा तो भगवान् से कहो-कि हे भगवान् आज दिनभर में मुझसे जो कुछ भी मन-वचन-काय से गलती हुई, दोष लगे, चाहे कषाय के आवेश में, अज्ञानता से, प्रमाद से तो हे भगवान् ! क्षमा करना। मेरी आत्मा का स्वभाव गलती करना नहीं है पाप करना नहीं है यह कहलाता है 'प्रतिक्रमण'। 'तस्समिच्छा मे दुक्कड़ं' इस प्रकार कहने से कि हे भगवान् मेरा यह दुष्कृत् मिथ्या हो पाप प्रक्षालित होते हैं। इस प्रकार 8वाँ काव्य यहाँ पूर्ण हुआ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

पाप के कोष-चार दोष

यहाँ आचार्य अमितगति द्वारा रचित द्वात्रिंशतिका एक ऐसा लघुकाय ग्रंथ है जिसमें हमें हमारी आत्मा की निधि प्राप्त हो सकती है यदि हम सम्यक्त्व की आँखों से देखें तो। जिनके पास आस्था के नेत्र नहीं, विश्वास, भक्ति और श्रद्धा के नेत्र नहीं हैं विनय और समर्पण के नेत्र नहीं हैं तो इस ग्रंथ में उसे सिर्फ अक्षरों का समूह दिखाई देगा। सफेद कागज पर सिर्फ काले अक्षर दिखाई देंगे। जमाना ही ऐसा आ गया है, आप लोग भी सफेद कागज पर काले पेन से लिखते हैं। नीले हरे लाल पेन से लिखते हैं। पहले जमाना वह था जब काली पट्टी पर सफेद खड्डी या चौक से लिखा जाता था। पहले जीवन में श्यामपट पर धवलता से अक्षर उकेरे जाते थे आज तो जीवन की धवल भूमिका पर, धवल धरातल पर श्यामवर्ण वर्तिका के द्वारा अक्षर स्थापित किये जाते हैं। इसीलिये व्यक्ति बचपन में जितना धवल होता है बड़ा होते-होते वह श्याम होता चला जाता है।

केश भले ही धवल होते चले जाऐं किंतु व्यक्ति का चित्त ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों चित्त में होशियारी आ जाती है वास्तव में उसमें धवलता के संस्कार तो आ ही नहीं पाते। तो बता रहे थे कि पूर्व काल में श्याम पट्ट पर लिप्यासन पर धवलवर्ण वर्तिका द्वारा वे अक्षर जिनका कभी क्षर न हो उनकी स्थापना की जाती थी। अक्षर ज्ञान श्रुत ज्ञान को भी कहते हैं और अक्षर ज्ञान केवलज्ञान को भी कहते हैं ये दो ज्ञान ही अक्षर ज्ञान कहे जा सकते हैं। मति ज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान अक्षर ज्ञान नहीं हैं। श्रुत ज्ञान 'अक्षरज्ञान' इसलिये है क्योंकि अक्षर के बिना वह श्रुतज्ञान चलता ही नहीं और केवल ज्ञान 'अक्षरज्ञान' इसलिये है क्योंकि एक बार आत्मा में प्रकट हो जाये तो पुन: कभी क्षर (नष्ट) नहीं होता।

महानुभाव ! हमारा यह परम सौभाग्य है जो यहाँ हम जिनेंद्र वाणी का श्रवण कर रहे हैं। भाग्य, सौभाग्य, परमसौभाग्य ये तीनों शब्द अपने आप में अलग-अलग व्याख्या कर रहे हैं।

भाग्य-भाग्य वह है जो भागने के योग्य हो। कहाँ से-जो कर्म की, संसार की जेल से भागने के योग्य है वह भाग्यवान् है या भव्य कहो। और जो भागने के योग्य तो था किंतु भाग नहीं रहा तो वह भाग्यशाली नहीं है, किन्तु वह भाग्यवान्, जिनके पास 100 अंक हैं ऐसे गुरुदेव के चरणों में आ जाता है तो वह 'सौ' भाग्यवान् बन जाता है।

गृहस्थ के पास ज्यादा से ज्यादा 99 अंक हो सकते हैं 100 नहीं। दो अंक उसके पास होते हैं और दो अंकों की सबसे बड़ी संख्या होती है-99। दो अंकों में आज तक किसी ने 100 नहीं किये। 100 जब भी होंगे तीन अंक बनाने ही पड़ेंगे, दो अंक में 100 कोई बना ही नहीं सकता, इसीलिये व्यक्ति दो अंकों में बढ़ते-बढ़ते 99 तक बढ़ता चला जाता है और 99 के चक्कर में

अटक कर रह जाता है 100 तक नहीं पहुँच पाता। उसकी शर्त ये है कि मैं तीसरा अंक लूँगा नहीं और 100 अंक करके रहूँगा। ऐसे 99 के चक्कर में फँसे हुये अनंतानंत जीव नीचे टपक गये और फिर से चलना प्रारंभ करते हैं।

महानुभाव ! साधु के पास तीन अंक हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। श्रावक के पास दो हैं-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान। कदाचित् पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक के पास एकदेश चारित्र है किन्तु उसका विशेष महत्व भी नहीं है आचार्य शर्ववर्म स्वामी जी ने कातंत्ररूपमाला में लिखा कि श्रावक के पास एकदेश व्रत है। बारह अविरति में से ग्यारह तो ज्यों के त्यों मौजूद हैं एक ही तो कम किया है त्रस हिंसा का त्याग और एक कम करने का आशय है जैसे किसी कुत्ते का कान काट दिया तो वह कुत्ता शेर नहीं बन गया कुत्ता-कुत्ता ही रहेगा। ऐसे ही श्रावक ने 12 विरति में से एक कम भी कर दी 11 तो अभी भी बचीं, विरति तो वह अभी भी है किन्तु मुनिमहाराज के जीवन में 12 की 12 विरति छूट गयीं वे महाव्रती बन गये।

तो महानुभाव ! श्रावक के पास कितने अंक हैं-2 अंक, और दो अंकों की सबसे बड़ी संख्या 99 और साधु के पास 3 अंक और तीन अंकों की सबसे छोटी संख्या 100 होती है। श्रावक कितना भी ऊँचा बढ़ जाये किंतु वह 99 से आगे नहीं बढ़ता और साधु कितना भी नीचे आ जाये यदि साधुता उसके अंदर है तो 100 से नीचे नहीं जा सकता। तो जब वह 99 अंक वाला भाग्यवान् श्रावक 100 अंक वाले साधु के चरणों में माथा टिका देता है तो वह भाग्यशाली बन जाता है। जब तक 100 के अंक में अपना माथा नहीं टिकायेगा तो ऐसा भाग्यशाली पुण्यात्मा श्रावक जीवन में कभी सौभाग्यशाली नहीं बनेगा। जिन्हें भी सौभाग्यशाली बनना हो तो वे भाग्यशाली 100 अंक वालों के चरणों में अपना माथा टिका दें तो वह सौभाग्यशाली बन जायेंगे।

और जहाँ पर हम कह रहे हैं 'परमसौभाग्य'। सौभाग्य ही नहीं परम सौभाग्य। 'परम' इसलिये लगा दिया कि वे भाग्यशाली श्रावक केवल सौभाग्य शाली नहीं हैं उन्होंने केवल गुरु के चरणों में माथा नहीं टिकाया अपितु उन गुरुराज, मुनिराज के श्रीमुख से जिनराज की कही हुई वाणी को भी सुन रहे हैं इसलिये परम सौभाग्यशाली हैं। जिनराज से भी आपका संबंध हो गया वाणी के माध्यम से, मुनिराज के सामने बैठे ही हैं और सौभाग्य तुम्हारा इतना है कि घर-मोह-माया को छोड़कर आप यहाँ तक आ सके।

महानुभाव ! परम सौभाग्य है अमित गति आचार्य के इस द्वात्रिंशतिका ग्रंथ को यहाँ पढ़ रहे हैं। द्वात्रिंशतिका में द्वा-दोनों लोकों को सफल सार्थक करने वाला एवं त्रिंशतिका-त्रिंशत-देव, इन्द्र को कहते हैं इन्द्र आदि के वैभव को भी त्रिंशत करने वाली ये विद्या दोनों लोकों में कल्याण करने वाली है और दोनों लोकों में कल्याण सिर्फ यदि होता है तो रत्नत्रय से होता है। इसके बिना

उभयलोक में कल्याण नहीं होता। हो सकता है बाह्य सम्पत्ति से आपका यह भव सुखी बन जाये किंतु अगले भव को सुखी बनाने की गारण्टी चल सम्पत्ति में नहीं है वह धन संपत्ति तो इस लोक में भी नष्ट हो सकती है। यदि दोनों लोकों में इन्द्र के समान वैभव भोगना चाहते हो तो पुनः तीन को रत्नत्रय को प्राप्त करना है और रत्नत्रय का मूल है 'सामायिक'। चाहे श्रावक का रत्नत्रय है एकदेश। सामायिक छोड़ दी तो उसका रत्नत्रय भी नष्ट हो गया और साधु का भी रत्नत्रय का मूल है तो सामायिक। साधु ने यदि सामायिक छोड़ दी तो उसका भी रत्नत्रय नष्ट हो जायेगा।

कल बताया था कि व्रतों में चार प्रकार के दोष लगते हैं। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। चाहे दोष छोटा हो या बड़ा दोष तो दोष है। अपराधी दण्ड का पात्र होता है, छोटा अपराध करने वाला भी अपराधी है बड़ा अपराध करने वाला भी अपराधी है, अच्छा कार्य करने वाले को पुरस्कार दिया जाता है, यदि सामान्य कार्य किया है तब पुरस्कार की आवश्यकता नहीं। महानुभाव ! पुरस्कार प्राप्त करना पुरुष का कर्त्तव्य है, पुरु का अर्थ होता है-'श्रेष्ठ'। 'पुरुगुणभोगे सेदे' जो श्रेष्ठ गुणों को भोगने वाला होता है, वह पुरुष होता है और अपने अर्थ को, प्रयोजन को जो सिद्ध करने में समर्थ होता है ऐसा पुरुष पुरुषार्थी कहलाता है, इसलिये चारों पुरुषार्थ पुरुष के लिये बनाये हैं।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। जिसके एक किनारे का नाम धर्म है, अंतिम किनारे का नाम मोक्ष है, दोनों के बीच में अर्थ और काम की नदी बहती है। दोनों किनारों पर खड़ा व्यक्ति दलदल में फंसता नहीं है। अर्थ जल की तरह से है तो काम मिट्टी की तरह से है। अर्थ और काम दोनों मिलते हैं तो कीचड़ बन जाती है और उस कीचड़ में संसारी प्राणी फंस जाते हैं, अधिकांश प्राणी अर्थ और काम के दलदल में फंसे हुये हैं, किन्तु जो प्राणी अर्थ की मात्रा बढ़ जाने से यदि उस अर्थ का परमार्थ में दान करते हैं तो पानी की अधिकता होने से तैर करके धर्म के समीप या मोक्ष के समीप में आ सकता है या फिर काम की कीचड़ सूख गयी हो, विरक्त हो गया संसार-शरीर-भोगों से काम से भी विरक्त हो गया, जिसके अर्थ और काम सूख गये हैं ऐसा व्यक्ति भी मोक्ष के किनारे पर पहुँच सकता है। किंतु अर्थ और काम की कीचड़ में फंसा व्यक्ति धर्म और मोक्ष के किनारे तक पहुँच नहीं सकता।

धर्म के किनारे पर बैठा हुआ व्यक्ति यदि संयम की या रत्नत्रय की नाव में बैठ जाये अर्थ और काम को छूये नहीं तो सीधे मोक्ष के किनारे पर पहुँच जाता है। किंतु संसार के अधिकांश प्राणी या तो अर्थ के बहाव में बहते जा रहे हैं या काम की कीचड़, मिट्टी में दबे, फंसे पड़े हैं। जो काम में एक बार फंस गया तो काम में फंसे व्यक्ति का मन राम में नहीं लगता। जो दाम के अर्जन करने में लगा हुआ है तो अपने परिणामों को शाममय (समतामय) नहीं कर सकता। अनादि

काल से काम-अर्थ का पुरुषार्थ किया, धर्म-मोक्ष पुरुषार्थ की ओर दृष्टिपात भी नहीं किया, जो व्यक्ति धर्म पुरुषार्थ के किनारे पर खड़ा हो जाता है, खड़े होकर के उस नदी को निहारता है, देखता है नदी किनारे सामने सूखा-सूखा दिखाई दे रहा है पानी दिखाई नहीं दे रहा है, पानी कम है वहाँ दलदल है वह फंस जायेगा, जहाँ पानी की धार है वहाँ बह जायेगा, इसलिये जहाँ पानी की धार अच्छी होती है, वहाँ से रत्नत्रय की नाव में बैठता है और उस किनारे पर पहुँच जाता है।

तो महानुभाव ! धर्म अर्थ काम मोक्ष ये 4 पुरुषार्थ हैं, और ये पुरुष के द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं, हर पुरुष के द्वारा ये पुरुषार्थ किया जाना संभव नहीं है। जो श्रेष्ठ हैं वे ही चार पुरुषार्थों का सेवन कर सकते हैं। जो पुरुष दीन, हीन, दरिद्र, गरीब हैं वे न तो धर्म कर सकते हैं, न उनके पास पाप के उदय में अर्थ पुरुषार्थ (धन) होता है, न उनके पास उचित मात्रा में भोगों की सामग्री होती है। और न ही वह हीन पुण्यात्मा जीव मोक्ष पुरुषार्थ के लिये दीक्षादि ग्रहण कर सकता है। पुण्यात्मा श्रेष्ठ पुरुष ही चारों पुरुषार्थों का सेवन करता है और पुनः मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि कर लेता है। चारुदत्त का जीवन चरित्र आपने देखा होगा बाल्यावस्था से धर्म पुरुषार्थ में संलग्न रहा, किंतु माता-पिता ने मोह में आकर शादी कर दी 10-5 दिन निकल गये किंतु चारुदत्त ये भी नहीं जानता कि विषय क्या कहलाते हैं, जब चारुदत्त की सास अपनी बेटी से मिलने के लिये आयी, बेटी से पूछा-यहाँ सुख से तो हो? बेटी ने कहा-माँ क्या सुख है जब से शादी हुयी है पति ने मेरा मुँह भी नहीं देखा ! अरे ये कुंवर कैसा है यदि विषयों का सेवन नहीं करना था तो शादी क्यों की। उसकी माँ (चारुदत्त की) को उलाहना दिया, तुम्हारा बेटा नपुंसक है क्या? विषयों का सेवन क्यों नहीं करता।

चारुदत्त की माँ ने अपने देवर रुद्रदत्त से कहा-ये चारुदत्त बड़ा धर्मात्मा है इसको संसार के विषयों में रमाओ, रुद्रदत्त उसे वेश्या के यहाँ ले गया। वहाँ उसे मादक पदार्थ खिला पिला दिया जिससे वह वसंततिलका के सौन्दर्य में इतना आसक्त हो जाता है कि 12 साल तक वहीं पर रहा, पिता का बहुत समाचार गया किंतु तब वह नहीं आया, उससे कहलवाया कि उसके पिता बहुत बीमार है, चारुदत्त ने कहा मैं नहीं आ सकता मैं न वैद्य हूँ, न हकीम बाद में समाचार भिजवाया तुम्हारे पिता की मृत्यु हो गयी, चारुदत्त कहता है अब-जब मृत्यु हो ही गयी तो मैं जाकर क्या करूँगा दाह संस्कार कर दो मैं नहीं आ सकता, चारुदत्त के पिता ने सोचा अब ये आयेगा नहीं उन्होंने संन्यास ले लिया।

मोह की प्रबलता तो देखो पत्नी से कहते हैं-अगर चारुदत्त धन मंगाये तो मना नहीं करना, जब तक घर में है तब तक भेज देना पुनः जाकर दीक्षा ले ली। घर से धन आता रहा। इतना धन

आया कि बाद में महल आदि भी बिक गया यहाँ तक कि उसकी पत्नी के कंगन भी आ गये। यह देख बसंततिलका की माँ बसंतसेना ने वसंततिलका से कहा-वेश्या का काम है जब तक पुरुष धन रखता है तब तक उसे प्यार करना अब तू इसे छोड़ दे, और उसे बोरे में बंद करवा कर गटर में डलवा दिया। गटर में सूअर उसको चाट रहा है वह सुबह-सुबह कहता है, वंसततिलके मुझे सोने दो नींद आ रही है। गश्त लगाने वाले ने प्रात:काल के पहर में देखा आवाज कहाँ से आ रही है। तो गटर में बोरा पड़ा देखा, बोरा खुलवाया चारुदत्त निकला, पूछा-मैं यहाँ कैसे आया, घर गया देखा महल-कोठी तो कुछ है ही नहीं, वे तो गिरवी रखे हुये हैं, पूछा कहाँ है मेरी पत्नी और माँ, बताया गया वे तो झोंपड़ी में रहते हैं, उनके पास गया, माँ ने देखा-देखकर रोने लगी, पत्नी भी विलाप करने लगी कि मैंने इनकी शिकायत माँ से की, माँ ने सास से कहा-सास ने देवर से कहा-इससे ये वेश्या में आसक्त हो गये। अब 12 साल बाद मिले, मैंने अच्छा नहीं किया जो मैंने किया उसका फल मुझे भोगना पड़ा।

चारुदत्त भी बहुत पश्चाताप करता है मैंने 12 साल पापों में व्यतीत कर दिये, मैं तो धर्मात्मा था, मैं तो विषय भोगों को जानता भी नहीं था। चाचा मुझे छल से ले गये और उच्छृंखल हाथी से बचने के लिये वेश्या के घर में छिपने के लिये घुस गये यह सब उनकी पहले से की गयी पूर्ण तैयारी थी, अब वह कहता है माँ मैं धर्म से भ्रष्ट हो गया था, मैं आपको इस झोंपड़ी में रहते देख नहीं सकता, एक नगर श्रेष्ठी की माँ होकर आपकी ये स्थिति। वह व्यापार करने के लिये रत्नद्वीप जाता है सात बार लौटकर आ रहा था, सात बार उसका जहाज फट गया किंतु उसने हिम्मत नहीं तोड़ी, मरते-मरते बचा किंतु हार नहीं मानी, धन कमाया घर आया पुन: थोड़े समय बाद गृह त्यागकर तपश्चरण किया मुनि बनकर घोर साधना कर सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त किया।

महानुभाव ! चारुदत्त ने पहले धर्म पुरुषार्थ का सेवन किया, फिर काम पुरुषार्थ में लग गया, फिर अर्थ पुरुषार्थ के लिये विदेश गया पुन: मोक्ष प्राप्ति के लिये दीक्षा ली। तो पुरुषार्थ श्रेष्ठ पुरुष ही कर सकता है नीच पुरुष उत्तम पुरुषार्थ नहीं कर सकता।

आज 9वें काव्य में अतिक्रम व्यतिक्रम आदि की परिभाषा बता रहे हैं-

क्षतिं मनः शुद्धिविधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शील-व्रतेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचार मिहातिसक्तताम्॥९॥

मन की विमलता नष्ट होने को 'अतिक्रम' है कहा,
औ शीलचर्या के विलंघन को 'व्यतिक्रम' है कहा।
हे नाथ विषयों में लिपटने, को कहा अतिचार है,
आसक्त अतिशय-विषय में रहना महाऽनाचार है।।9।।

अन्वयार्थः-(**प्रभो**) हे स्वामिन् ! (**इह**) इस लोक में (**मुनिपुङ्गवाः**) गणधर परमेष्ठी (**मनःशुद्धिविधेः**) मन की शुद्धि की विधि के (**क्षतिम्**) नष्ट होने को (**अतिक्रमम्**) अतिक्रम (**कथ्यते**) कहते हैं (**शीलविधेः**) शील की प्रवृत्ति के (**विलङ्घनम्**) उल्लंघन करने को (**व्यतिक्रमम्**) व्यतिक्रम कहते हैं (**विषयेषु**) पञ्चेन्द्रिय के विषयों में (**वर्तनं**) प्रवृत्ति करने को (**अतिचारं**) अतिचार कहते हैं (च=और) (**अतिसक्ततताम्**) अत्यधिक आसक्त होने को (**अनाचारम्**) अनाचार (**वदन्ति**) कहते हैं।

क्षतिं-नष्ट होना, किसका नष्ट होना **मनःशुद्धि**-मन की शुद्धि का जब भी कोई व्रत, नियम, संयम आदि लेते हैं, पुण्य कार्य या धर्म की क्रिया करते हैं तो उससे विशुद्धि बढ़ना चाहिये, यदि धर्मकार्य, व्रत उपवास करते हुये, पुण्यक्रिया करते हुये परिणाम विशुद्ध नहीं हो रहे हैं, विशुद्धि का अभाव हो रहा है तो समझो हमारे व्रतों में अतिक्रम लग रहा है। क्योंकि यदि आप धूप में बैठे और शरीर को ताप न लगे, सर्दी दूर न हो तो धूप का क्या प्रयोजन? आपने व्रत किया था विशुद्धि के लिये और वह नहीं बढ़ी, इसका आशय कहीं दोष लग रहा है अन्यथा कोई भी धर्म की, पुण्य की क्रिया करने से अंतरंग में आनंद आना चाहिये। अतिक्रम का आशय है **क्षतिं मनः शुद्धिविधेरतिक्रमं**-मन की शुद्धि की विधि का नष्ट हो जाना अतिक्रम है।

दूसरा-**व्यतिक्रमं शील व्रतेर्विलंघनम्** आपने कोई भी व्रत, नियम, संयम लिया, पूजा भक्ति पाठ किया, विशुद्धि तो नहीं बढ़ी सो नहीं बढ़ी, किन्तु अब परिणाम अशुद्ध होने लगे, संक्लेशता बन रही है तो यह हो गया व्यतिक्रम। आपकी जो विशुद्धि बढ़ना चाहिये वह तो नहीं बढ़ी किन्तु मलिनता का आना व्यतिक्रम है और **प्रभोतिचारं विषयेषु वर्तनं**-अब क्या किया? जो शील चर्या का विलंघन किया वह तो किया किन्तु अब विषयों में प्रवृत्ति हो गयी अर्थात् आपने पूजा तो की, पूजा का एक अर्घ बोला एक छोड़ दिया, तो हुआ अतिचार। व्रत तो आपने किया किंतु व्रत करते समय जल ले लिया। भोजन तो नहीं किया पर जल ग्रहण कर लिया तो ये अतिचार है और यदि आपने पूरा भोजन ही कर लिया तो? फिर तो व्रत पूरा टूट ही गया। सोचा था उपवास करूँगा उपवास करने पर आनंद आना चाहिये, यदि आ रहा है तो उपवास सार्थक है, यदि विशुद्धि नहीं बढ़ रही तो व्रत तो है पर सदोष है और विशुद्धि नहीं बढ़ी संक्लेशता बन गयी तो, अतिक्रम के साथ व्यतिक्रम भी लग गया, व्रत तो अभी भी है किंतु पुण्य उसका कुछ कम हो गया, अब आपकी संक्लेशता बन रही थी, शक्ति नहीं रही तो व्रत में पानी पी लिया तो अतिचार लगा लिया, इससे तुम्हारे व्रत का फल थोड़ा और कम हो गया और आपने पूरा भोजन ही कर लिया अनाचार हो गया, पूरा व्रत ही टूट गया।

ऐसे एक बैल जिसने नियम लिया मैं खेत में मुँह नहीं मारुँगा घर जाकर ही चारा चरूँगा। वह रास्ते में जा रहा है हरा खेत दिखाई दिया, खेत को देखकर मन में विचार आया हरी-हरी घास

चर लूँ तो अच्छा रहेगा, ये हो गया अतिक्रम। पुनः वह खेत की ओर कदम बढ़ाता है तो क्या हुआ व्यतिक्रम इसके उपरांत बाड़ी को तोड़कर पैर आगे बढ़ा दिया तो हुआ अतिचार और घास ही खाना प्रारंभ कर दिया तो अनाचार।

इस प्रकार कहा कि अतिक्रम तो मन की विशुद्धि का ह्रास, व्यतिक्रम-सामान्य परिणामों से भी ज्यादा कमी आ जाना, अतिचार-व्रत का एक देश खण्डित हो जाना, अनाचार-पूर्ण खण्डित हो जाना। ये चार प्रकार के दोष नवमें काव्य में आचार्य महोदय ने परिभाषा के रूप में बताये हैं।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

जीवणं होदि सामण्णं, वियारो सुट्ठु भण्णदे।
सयायारो दया पुण्णं, तच्चाणि सक्किदीइ हु॥१०॥

अर्थ:-सदाचार, दया, पुण्य निश्चय से आर्य-संस्कृति के तत्त्व हैं। आर्यों का जीवन सामान्य होता है और विचार उच्च कहे जाते हैं।

-अज्ज-सक्किदी

(आचार्य श्री वसुनंदी मुनि)

क्षमा करें माँ सरस्वती

महानुभाव ! संसार सागर से पार करने वाली विद्या, कला, युक्ति सामायिक है। बिना सामायिक के आज तक संसार के किसी भी व्यक्ति ने सुख और शांति को प्राप्त नहीं किया। सामायिक है-आत्मा में विद्यमान अपने वैभव को प्राप्त करने की कला। सामायिक है अपनी आत्मा में गुणों को प्रकट करने का उपाय, सामायिक है समस्त दु:ख के कारणभूत कर्मों को शमन करने की विधि। सामायिक की कला जिसके पास आ गयी, कोई भी कर्म, कोई भी व्यक्ति, उसका बाल-बांका नहीं कर सकता। सामायिकशील व्यक्ति शाश्वत गुणों का अनुभव करने वाला है, कर्म कालिमा उसका क्या कर सकती है जिसके पास सूर्य जैसा दिव्य प्रकाश हो, पुन: सूर्य के प्रकाश के सामने कोई व्यक्ति कपड़ा डालकर आड़ कर दे तो उससे क्या अंधेरा कर पायेगा, ऐसे ही जिसके चित्त में समतामय परिणाम जाग्रत हो चुका है। जिसके चित्त में कषायों का शमन हो चुका है, जो विषय-वासनाओं से परांगमुख है, जो अपनी आत्मा के प्रति जागरूक है ऐसे व्यक्ति अपने निजी वैभव को प्राप्त कर पाते हैं। किन्तु जो व्यक्ति सदैव पर वस्तुओं का पर व्यक्तियों का मुँह ताँकते रहते हैं उनका जीवन मुँह तांकते-तांकते ही निकल जाता है और केवल एक भव नहीं ऐसे अनंत भव निकल जाते हैं किन्तु आत्मा की निधि से साक्षात्कार नहीं हो पाता।

महानुभाव! बहुत पुण्य का उदय होता है जब व्यक्ति सामायिक जैसी प्रमुख क्रिया को करने में समर्थ हो पाये। मैं समझता हूँ विश्व में अरबों लोग हैं किन्तु आप जानिये कि सामायिक करने वाले कितने लोग हैं ? प्रभु परमात्मा की भक्ति करने वाले कितने लोग हैं ? जितने भी जैन हैं उनमें से भी सामायिक को करने वाले उसे समझने वाले कितने लोग हैं? सामायिक है ही उत्कृष्ट चीज जिसे हर कोई व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। चाहे कोई भी ग्राम हो, नगर हो, मौहल्ला हो, कॉलोनी हो कम से कम 2-4 दुकान तो वहाँ पर सब्जी की होंगी ही, सब्जी-फलों के ठेले वहाँ पर होंगे, एकाध दुकानें परचून की वहाँ पर नियम से होगी ही होगी किंतु ये बताईये सोने-चाँदी की दुकानें कितनी होंगी ? सर्राफे की दुकान छोटे-छोटे गली मौहल्लों में तो एक भी नहीं मिलेगी, छोटे-छोटे ग्रामपुर और मौहल्ले में नहीं मिलेगी, बड़े-बड़े शहरों में मिलेंगी और वह भी दो-चार दुकानें। नगरों में महानगरों में 10-20 दुकानें मिल जायेंगी। यदि जिस नगर में 50 दुकानें सोने-चाँदी की होती हैं तो संभव है मुश्किल से एक या दो दुकान रत्नों की हों। इतने बड़े जयपुर में रत्नों की दुकान हजार की तादात में नहीं होंगी और सही रत्नों का काम करने वाले तो 10-5 व्यक्ति ही होंगे।

जैसे रत्नों की दुकान बहुत कम होती हैं ऐसे ही सामायिक की चर्चा, सामायिक की चर्या, सामायिक का आनंद, सामायिक का चिंतन, सामायिक का अनुमोदन, सामायिक का विवेचन,

सामायिक का पठन, श्रवण, मनन इत्यादि कार्य करना भी कठिन है। रत्नों को धारण करने वाले व्यक्ति बहुत कम होंगे। अल्टरनेट कितने ही मिल जायें किंतु आर्टीफीशियल नाम सामायिक का नहीं हो सकता, वह तो रिअल धर्म है, ये आत्मा की परिणति है आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का परिणमन है इसलिये सामायिक जैसी रियल अवस्था को प्राप्त करने वाले व्यक्ति बहुत दुर्लभ हैं, कठिन हैं। आ. गुणभद्र स्वामी जी ने आत्मानुशासन में लिखा है-चौथे काल में भी धर्म की चर्चा करने वाले लोग तो ज्यादा थे किन्तु धर्म की चर्या करने वाले लोग कम थे। आज पंचमकाल में तो धर्म की चर्चा करने वाले भी कम हैं और फिर चर्या करने वाले कितने बचेंगे? जब चर्चा करने वाले बहुत थे तब चर्या करने वाले बहुत कम थे आज तो धर्म की चर्चा करने वाले भी कम हैं।

सामायिक तो ऐसी चीज है जिसे हर कोई व्यक्ति नहीं पचा सकता, शुद्ध घी पहली बात तो मिलना मुश्किल है, मिल जाये तो हर व्यक्ति पचा नहीं सकता। आज जमाना रिफाइन्ड का है महानुभाव ! ऐसे ही शुद्ध सामायिक पाठ को आ. अमितगति जी जिन्होंने आत्मा के वैभव को बटोरने और बांटने में निस्सीम गति की, जिन्होंने अमितगति की है अपने सुख का अनुभव करने में, जो आत्मा की गहराईयों में बैठकर के आत्मा का अनुभव करने वाले और आत्मा के समुद्र में गोते लगाकर के रत्नों की मुट्ठी भर कर लाये और संसार के भव्य प्राणियों को लुटा दिये। महानुभाव ! 9 काव्य हम देख चुके हैं आज दशवें काव्य को विधिवत् देखते हैं-

यदर्थमात्रा-पदवाक्य हीनं, मया प्रमादाद्यदि किञ्चनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी, सरस्वती केवलबोधलब्धिम्॥१०॥

यदि अर्थ-मात्रा-वाक्य में पद में पड़ी त्रुटि हो कहीं,
तो भूल से ही वह हुई, मैंने उसे जाना नहीं।
जिनदेव वाणी ! तो क्षमा, उसको तुरत कर दीजिये,
मेरे हृदय में देवि ! केवलज्ञान को भर दीजिये॥10॥

अन्वयार्थ-हे भगवन् ! (**मया**) मेरे द्वारा (**प्रमादात्**) प्रमाद से (**यदि**) यदि (**यत्**) जो (**अर्थमात्रापदवाक्यहीनं**) अर्थ, मात्रा, पद और वाक्य से हीन (**किञ्चन उक्तम्**) कुछ कहा हो, तो (**मे**) मेरे (**तत्**) उस अपराध को (**क्षमित्वा**) क्षमा करके (**सरस्वती देवी**) सरस्वती देवी मुझे (**केवलबोधलब्धिम्**) केवलज्ञान रूपी लब्धि को (**विदधातु**) प्रदान करें।

सरस्वती माँ से क्षमा क्यों? ऐसा भी तो कह सकते थे विदधातु देव, हे केवलज्ञान रूपी देवता मुझे क्षमा करना, मेरी आत्मा में, मेरे हृदय में प्रत्येक प्रदेश में विराजमान हो जाना, देव शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया? जब केवलज्ञान शब्द नीचे कह रहे हैं तब भी। सरस्वती शब्द, देवी

कहा-दरअसल में बात ये है कि संसार में आज से नहीं अनादिकाल से ही माँ ममता की मूर्ति होती है, कोमल हृदया होती है, क्षमा जल्दी कर सकती है पुरुष इतनी जल्दी क्षमा नहीं कर सकता। कहीं कोई बात हो, पुरुष और नारी में विवाद हो जाये तो संभव है नारी बात को जल्दी मान लेगी पुरुष न मानेगा। वह अहंकार में जीता है नारी समर्पण में, विनम्रता में, प्रेम वात्सल्य में जीती है। वह बिना प्रेम वात्सल्य के जी नहीं सकती, पुरुष बिना अहंकार के जी नहीं सकता, पुरुष के पास जब तक कोई चीज अहंकार करने के लिये नहीं होगी उसका जीवन नीरस, शून्यवत् है और नारी जब तक अपना समर्पण न दिखा सके, प्रेम वात्सल्य न्यौछावर न कर सके तब तक वह जी नहीं सकती उसका जीवन भी शून्यवत् ही है।

एक शब्द आता है आ. कुन्दकुन्द स्वामी जी के साहित्य प्रवचन सार में कि नारियों में मायाचार पाया जाता है। उसमें दिया तीर्थंकर का आहार, विहार, तीर्थंकर का रुकना आदि सहज ही होता है कैसे होता है तो दिया है-

'मायाचारो इत्थीणं' जैसे स्त्री में मायाचारी पायी जाती है, किंतु मायाचारी से क्या अर्थ लेना-'मायाचार' शब्द प्राकृत भाषा का है। अभी तक जितने भी व्याख्याकार हुये प्रायःकर सभी ने मायाचार का अर्थ किया है-'छल कपट'। जैसे स्त्री में स्वाभाविक रूप से छलकपट पाया जाता है ऐसे ही स्वाभाविक रूप से तीर्थंकर का ठहरना, दिव्यध्वनि का खिरना, विहार आदि सब सहज ही होते हैं किन्तु प्राकृत भाषा का जो अध्ययन करते हैं उन्हें मालूम है माता शब्द को प्राकृत में लिखेंगे तो माया या मादा बनेगा, संस्कृत में मातृ और हिन्दी में माता तो 'मायाचारोइत्थीणं' यानि जैसे स्त्रियों में मातृत्व भाव पाया जाता है मायाचारी नहीं। ऐसी कोई स्त्री नहीं जिसमें मातृत्व भाव न पाया जाये चाहे वह वृद्धा ही क्यों न हो उसमें भी मातृत्व भाव है, चाहे युवती ही क्यों न हो उसमें भी मातृत्व भाव है, चाहे कन्या ही क्यों न हो उसमें भी मातृत्व भाव है।

एक छोटी बिटिया जो 5-6 साल की है वह भी अपने भाई से लाड़ करती है बड़ा भाई चाहे तमाचा लगा दे तब भी रोकर के बाद में प्यार करने लगेगी। छोटी बिटिया भी अपनी थाली का सामान भाई को दे देगी और भाई के हाथ में कोई चीज आ जाये तो मैं नहीं दूँगा, छीनने का प्रयास करेगा। जो ममत्व भाव, स्नेह भाव, प्रेमभाव एक स्त्री जाति में हो सकता है वह पुरुष जाति में नहीं हो सकता। तो मायाचारो इत्थीणं का अर्थ है-मातृत्व भाव। पुरुष का स्नेह अपनी पुत्री के प्रति होता है या स्वार्थवश जीवन साथी के प्रति होता है या विरले ही पुरुष के अंदर माँ के प्रति भक्ति की भावना होती है। किंतु फिर भी कितना भी उत्कृष्ट स्नेह पुरुष का हो चाहे बेटी के प्रति, पत्नी के प्रति या माँ के प्रति हो, चाहे बहिन के प्रति हो किंतु उसका प्रेम नारी के प्रेम के बराबर नहीं हो सकता। नारी का हृदय बहुत विशाल और उदार होता है। ऐसी नारी ही नहीं मिलेगी जिसका हृदय प्रेम से शून्य हो, मुश्किल है नारी कोई क्रूर परिणामी हो। फिर आप कहेंगे भ्रूण हत्या क्यों?

मैं समझता हूँ भ्रूण हत्या में 1% नारी भागीदार है 99% भागीदार पुरुष है, घर का माहौल है। यदि पुरुष कह दे कि गर्भ में जो भी जीव पल रहा है चाहे बेटी हो या बेटा मुझे वही स्वीकार है, तो कोई भी माँ बनने वाली नारी जो गर्भ के कष्ट को सहन कर रही है अपने गर्भ का वध क्यों करायेगी? यदि पुरुष नहीं चाहे तो नारी गर्भ का घात नहीं करा सकती। तो बात ये है नारी तो वास्तव में कोमल हृदया है कहीं-कहीं भावुकता में आकर पुरुष का सहयोग देकर नारी पाप में प्रवृत्त हो जाती है अन्यथा अकेली नारी पाप करने में असमर्थ होती है। कहीं न कहीं सहारा तो पुरुष का ही है। चाहे स्वपुरुष का हो या पर पुरुष का, कोई न कोई आश्रय को लेकर ही पाप में प्रवृत्त हो सकती है बिना आश्रय के नारी बड़े-बड़े पाप में प्रवृत्त नहीं हो सकती।

तो महानुभाव ! हम देख रहे थे कि सरस्वती शब्द क्यों कहा? तो संभव यही है यहाँ पर आचार्य महाराज कहना चाह रहे हैं कि नारी कोमल हृदय है। जल्दी क्षमा कर सकती है। बेटा अपनी गलती माँ से जाकर कहता है। माँ भी बहुत सारी गलती छिपा जाती है पति को बताती भी नहीं, पी जाती है, बेटे की गलती क्षमा कर देती है किंतु पुरुष के अंदर इतनी शक्ति नहीं है। ठीक है मुनि बनने के बाद अलग बात है क्षमा भाव धारण कर ले। गृहस्थी में रहकर के क्षमा भाव धारण करना, प्रेम की गंगा बहाना मुझे लगता है पुरुष के लिये बहुत कठिन काम है किंतु नारी के पास सदा ही अविरल गति से समता की, प्रेम की सरिता बहती रहती है, क्षमाभाव सदैव विद्यमान रहता है जैसे पुष्प में गंध सदैव रहती है वैसे ही नारी के पास प्रेमभाव, क्षमाभाव, करुणा भाव, दया भाव हमेशा रहता है, यहाँ इसलिये सरस्वती शब्द कहा।

और दूसरी बात हम एक और देखें-कि शास्त्रों में एक जगह तो ये आता है कि श्रद्धा से सब काम हो जाता है, अब यहाँ कह रहे हैं कि अक्षर मात्रा की गलती हो गयी हो तो भी क्षमा कर देना। अरे श्रद्धा से जब काम हो जाता है तो गलती कहाँ से हो गयी। श्रद्धा से कल्याण हो जाता हैं, आप पढ़ते भी है कि श्रद्धावान् अंजनचोर शुद्ध णमोकार मंत्र भी नहीं पढ़ पाया। "आणं ताणं कछु न जाणं सेठ वचन प्रमाणं" इतने से ही अपना कल्याण कर लिया आकाश गामिनी विद्या सिद्ध कर ली बाद में तपस्या करके केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया।

श्रद्धा से सब ही तिरें क्या साधु क्या चोर।
अंजन भयो निरंजना सेठ वचन के जोर॥

एक ओर तो यह बात कही जाती है, दूसरी ओर कह रहे हैं कि अक्षर मात्रा में जो गलती हो गयी तो क्षमा करें ऐसे ही उमास्वामी महाराज ने लघुता प्रकट की।

अक्षर मात्र पदस्वर हीनं व्यंजन संधि विवर्जित रेफं।
साधु भिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे॥

हर एक आचार्य ने ग्रंथ लिखने के बाद क्षमा याचना की है। चाहे छहढालाकार ने लिख दिया।

लघुधी तथा प्रमादतें शब्द अर्थ की भूल।
सुधी सुधार पढ़ें सदा जो पावों भव कूल॥

अपनी भूल को स्वीकार किया, क्षमा भाव को स्वीकार किया, तो महानुभाव ! कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसा क्यों किया? देखो ! श्रद्धा जब बलवती होती है तो उस समय शब्द अक्षर मात्रा की भूल नहीं देखी जाती है और श्रद्धा से फल की प्राप्ति होती है। यह बात बिल्कुल सत्य है, किन्तु श्रद्धा आज हमारी उतनी बलवती नहीं हो पा रही, श्रद्धा में भी कई बार डगमग हो जाती है, चंचलपना आ जाता है। कई बार शंका होने लगती है, शंका में कांक्षा भाव आ जाता है श्रद्धा में भी हमारी मूढ़ता दिखाई देती है, श्रद्धा उतनी निर्मल सुदृढ़ नहीं बन पाती। हम जैसा उच्चारण करते हैं उस प्रकार का आचरण हमारे जीवन में आने लगता है, दूसरी बात उच्चारण जब गलत होता है तो शब्द का अर्थ भी गलत निकाल लिया जाता है

आचार्य शिवकोटि जी महाराज ने भगवती आराधना ग्रंथ में आज से 1900 वर्ष पहले लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति पूरे द्वादशांग पर श्रद्धा करता है और एक अक्षर पर श्रद्धा नहीं करता तो वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि हो सकता है एक अक्षर से अर्थ का अनर्थ ही हो जाये। परिभाषा यह है कि जिसमें मोक्ष जाने की पात्रता होती है उसे भव्य कहते हैं और तुमने एक अक्षर 'अ' लगा लिया तो उसे अभव्य कहोगे। अर्थ का अनर्थ हो गया। कर्मों से रहित सिद्ध होते हैं और तुमने 'अ' लगा दिया तो एक अक्षर से ही अर्थ बदल गया। अकर्मः सिद्धः और सकर्मः असिद्धः आपने संधि करने में गड़बड़ कर दी सकर्मः सिद्धः ऐसा कर दिया। संधि करने पर अ निकालना था, जो सकर्म है वह असिद्ध है जो अकर्मा है वह सिद्ध है। एक अक्षर के गड़बड़ होने से सब गड़बड़ हो सकता है।

महानुभाव ! अक्षर तो ठीक है अक्षर के उच्चारण करने में भी गलतियाँ होती हैं। हिन्दी में सकार तीन होते हैं श, स, ष। तीनों का उच्चारण अलग-अलग होता है यदि उच्चारण करने वाला व्यक्ति सही उच्चारण नहीं कर पा रहा है तो अर्थ का अनर्थ होता है 'शुद्ध' इस शुद्ध को भी लोग शुद्ध नहीं पढ़ पाते। शुद्ध को भी अशुद्ध पढ़ते हैं।

एक बार एक पंडित जी शिखर जी की वंदना करने गये, जो संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे, वे यात्रा करके कुछ दिन वहाँ रहे। और रात्रि में संस्कृत की कक्षा लेते, वहाँ रहने वाले, कांवर उठाने वाले जो लोग थे वे भी पंडित जी की कक्षा में बैठते रात को संस्कृत सीखने। कुछ दिन बाद एक राजा यात्रा करने के लिये गया, राजा डोली में बैठकर यात्रा कर रहा था। कहार थक गये, तो राजा ने पूछा-'स्कंधं' बाधति। कंधे में बाधा हो रही है? कहार ने डोली उतारी कहने लगे स्कंधं

न बाधति राजन् यथा बाधति बाधते। आपने जो बाधति शब्द बोला है यह इतनी पीड़ा दे रहा है इतना तो मेरा कंधा भी पीड़ा नहीं दे रहा। अरे मतलब ? आपने कहा-स्कंधं बाधति-मेरा कंधा है तो दर्द तो मुझे ही होगा न, आपने परस्मनि पद का प्रयोग क्यों किया आत्मनि पद का प्रयोग क्यों नहीं किया? जिस क्रिया का फल सिर्फ कर्ता को मिलता है वहाँ आत्मनि पद में धातु का प्रयोग होता है परस्मनि पद में नहीं। आपने बाधति शब्द कहा है। ये शब्द मुझे इतनी पीड़ा दे रहा है जितना मेरा कंधा भी आपको ढ़ोने से पीड़ा नहीं दे रहा। विद्वान् वह है जो शब्द को ऐसे पकड़ लेता है राजा 'स्कंधं' बाधते' कहता तो ठीक है पर राजा ने क्या कह दिया बाधति। जैसे विप्रः पचते-ब्राह्मण भोजन पकाता है, स्वयं के लिये पका रहा होगा और पाचतः पचते नहीं पचतिः रसोईया पकाता है उसके बनाये भोजन को वह स्वयं भी खाता है दूसरे भी खाते हैं। जब क्रिया का फल कर्ता व दूसरे को मिलता है तो परस्मनि पद का प्रयोग होता है जब केवल फल कर्ता को मिलता है तो आत्मनि पद का प्रयोग होता है।

महानुभाव ! यदि एक भी अक्षर, शब्द मात्रा यहाँ वहाँ हो जाती है तो उससे बहुत सारे अर्थ के अनर्थ हो जाते हैं। इसलिये यहाँ पर उनकी क्षमा मांगते हैं हे देवि ! सरस्वती माँ मुझे क्षमा कर देना, यदि मैंने किसी की बात को आधी सुनकर के उल्टा अर्थ निकाला हो या जिनवाणी का कहीं अपलाप किया हो या मैंने अधूरी बात कही सुनी हो तो पुनः हे जिनवाणी माँ मुझे क्षमा करना। ज्ञानाचार के 8 भेद हैं। 8 प्रकार के सम्यग्ज्ञान के अंग होते हैं, जिनका पालन करने से ही वह सम्यग्ज्ञान शुद्ध होता है अन्यथा उसमें भी अतिचार लग सकते हैं। तो यहाँ पर मुख्यता हम देख रहे थे कि क्षमा माँग रहे थे और क्षमा कब माँगी जाती है जब कषाय मंद हो जायें, कषाय की तीव्रता होने पर व्यक्ति के हाथ जुड़ते नहीं हैं। जब तक व्यक्ति का चित्त धर्म से नहीं जुड़ता है तब तक व्यक्ति का हाथ नहीं जुड़ता है, जिसका मन धर्म से जुड़ गया उसके दोनों हाथ जुड़कर हृदय के सामने आ जाते हैं और जिसके हृदय में ही धर्म नहीं है उसके हाथ लटके रहेंगे और लटके हाथ की अंगुलियाँ अधोगति के लिये संकेत कर रही हैं और उठाकर के ऊपर कर लिये हैं तो स्वर्ग तक पहुँच गये और ऊपर उठा लिये तो सर्वार्थसिद्धि तक और ऊपर उठा लिये तो सिद्धालय तक।

हाथों के जोड़ने से मन भी धर्म से जुड़ता है। क्षमा भाव वही कर सकता है, जोड़ना उसी के पास है जिसके चित्त में सरलता है सहजता है। करुणा दया क्षमाशील व्यक्ति ही अपने को धर्म से जोड़ सकता है और धर्म भी उसी के चित्त में ठहर सकता है अन्यथा धर्म ठहर नहीं सकता। जिस प्रकार छलनी में पानी नहीं भरा जा सकता उसी प्रकार क्रोध मान माया लोभ वाले, उद्वेग वाले चित्त में धर्म का निर्मल जल नहीं भर सकते। जिसके मन में निःकांक्ष भाव है, सरलता है, अनुकम्पा है उसके चित्त में धर्म ठहरता है वह सज्जन व्यक्ति कहलाता है और सज्जन व्यक्ति की विशेषता यह होती है जो अधिक से अधिक व्यक्ति के साथ जुड़ जाये, अधिक से अधिक को

जोड़ सके। जो किसी से जुड़े नहीं, जोड़े नहीं वह दुर्जन है। सज्जन पानी की तरह से होता है पानी में पानी कितना ही मिलाते चले जाओ और दुर्जन पत्थर की तरह से होता है। पत्थर में पत्थर जुड़ता नहीं है। किसी कवि ने लिखा भी है।

सज्जन पे सौ-सौ चलें दुर्जन चलें न एक।
ज्यों जमीन पाषाण की ठोके ठुके न मेक॥

सज्जन व्यक्ति के साथ 100-100 व्यक्ति भी चले जाते हैं दुर्जन किसी के साथ नहीं बैठ सकता। वह कहता है मैं जहाँ बैठूँगा अकेला बैठूँगा दूसरा बैठ ही नहीं सकता। जिस तरह पाषाण की जमीन में लोहे की कील भी ठोकी नहीं जा सकती, किन्तु जल की धारा हो तो वह सबको अवगाहन स्थान देता है चाहे जल में धूल डालो या फूल डालो। किंतु पत्थर की चट्टान में जो कुछ भी डालोगे सब ऊपर ही रखा रह जायेगा अंदर वह पानी को भी स्थान नहीं देगा। तो दुष्ट व्यक्ति भी अच्छाई के बदले बुराई ही देगा। सज्जन व्यक्ति के पास बुरी भावना से भी गये तो भी वह आदर सत्कार करेगा और तुम्हें एक अच्छाई की ही शिक्षा देगा।

यहाँ पर आ. महोदय कह रहे हैं कि मुझसे कहीं भूल हो गयी हो तो हे जिनवाणी माँ ! तुम तो बहुत दयालु हो, मुझे क्षमा कर देना। ऐसी कौन सी माँ होगी जो अपने बेटे को क्षमा न कर पाये। अरे माँ तो सबको क्षमा करती है। जो कोई भी भूल हो गई हो तो मुझे क्षमा कर देना। क्षमा मांगने वाला व्यक्ति अक्षय पद को प्राप्त हो जाता है। क्षमा मांगने वाला कभी नष्ट नहीं होता और क्रोध करने वाला कभी शाश्वत जीवित नहीं रहता। क्रोध अग्नि है, अग्नि हमेशा जलती नहीं है अग्नि को कभी न कभी बुझना ही पड़ता है और कभी न कभी अहंकारी को झुकना ही पड़ता है किंतु क्षमाशील व्यक्ति को कभी नष्ट नहीं होना पड़ता वह शाश्वत रहता है चिरकाल तक रहता है इसलिये यहाँ पर क्षमा माँगने की बात कही है जो क्षमा माँगते हैं वही सही अर्थों में सच्चे धर्मात्मा हैं जो क्षमा नहीं मांग सकते, क्षमा नहीं कर सकते वे धर्मात्मा की कोटि में नहीं आते।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

बोधि से सिद्धि

महानुभाव ! आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी की कृति द्वात्रिंशतिका हम देख रहे हैं-आज 11वाँ काव्य देखेंगे जिसमें आचार्य महाराज ने सामायिक के उद्देश्य को प्रकट किया है। अभी तक देख रहे थे कि सामायिक क्या है? सामायिक की भूमिका क्या है? सामायिक का लक्षण क्या है? सामायिक का स्वरूप क्या है? सामायिक का आधार क्या है? सामायिक के पूर्व प्रतिक्रमण आदि करना क्यों आवश्यक है? अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार अनाचार आदि दोष क्या हैं? ये सब बताया। किंतु अब बता रहे हैं। सामायिक का उद्देश्य क्या है।

संसार में कोई भी पुरुष निरुद्देश्य कार्य करता है तो रथ्या पुरुष कहलाता है, पागल, मूर्ख कहलाता है। कोई भी कार्य आप करते हो तो आपके पास उसका कारण व हेतु है बिना कारण के कोई कार्य किया नहीं जाता। आप घर के बाहर भी निकले, किसी ने पूछा-कि आप कहाँ जा रहे हैं तो आप कहेंगे-मंदिर जा रहा हूँ, या ऑफिस जा रहा हूँ जहाँ भी जा रहे हो वह बता दोगे। यदि आपने कह दिया कि नहीं मैं तो ऐसे ही जाता हूँ तो भईया ! ऐसे ही कैसे ? कोई न कोई तो लक्ष्य होगा कहाँ पहुँचना चाहते हो। ऐसा कोई मूर्ख ही हो सकता है जो निरुद्देश्य कार्य करता है। यहाँ तक कि योगी मोक्ष की साधना भी करता है तो मोक्ष को मांगता भले ही नहीं है किन्तु उद्देश्य में मोक्ष रखता है।

'निरवांछ तपें शिव पद निहार'

तपस्या कैसे करते हैं-वांछा से रहित किन्तु 'शिव पदनिहार' दृष्टि 'सकल कर्म क्षयार्थं' दृष्टि मोक्ष के लिये है, सिद्धत्व के लिये है, अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करने के लिये है। ग्यारहवें काव्य में आचार्य महोदय ने कह दिया कि-हे प्रभु ! जब हमारा-तुम्हारा साथ हो गया तो अब 1 और 1 = 11 हो गये। या यूँ कहें आपके मिलते ही मुझे दस की प्राप्ति हो गयी और मैं परमात्मा बन गया।

इस काव्य को देखते हैं कि उनके कहने का तरीका क्या है-

बोधिः समाधिः परिणाम शुद्धिः, स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्य सिद्धिः।
चिन्तामणिं चिन्तितवस्तु दाने, त्वां वन्द्यमानस्य ममास्तु देवि!॥११॥

हे देवि ! तेरी वन्दना मैं कर रहा हूँ इसलिये,
चिन्तामणि सम है सभी वरदान देने के लिये।
परिणाम शुद्धि समाधि मुझमें बोधि का संचार हो,
हो प्राप्ति स्वात्मा की तथा शिवसौख्य की भव पार हो॥11॥

अन्वयार्थ-(**देवि**) हे सरस्वती देवी ! (**चिन्तितवस्तुदाने**) इच्छित वस्तु के देने में (**चिन्ता-मणिम्**) चिन्तामणिरत्न के समान (**त्वाम्**) आपको (**वन्दमानस्य**) वन्दन करने वाले (**मम**) मुझको (**बोधिः**) ज्ञान (**समाधिः**) समाधि (**परिणामशुद्धिः**) परिणामों की पवित्रता, (**स्वात्मोपलब्धिः**) अपने आत्मा की प्राप्ति और (**शिवसौख्य-सिद्धिः**) मोक्ष-सुख की सिद्धि (**अस्तु**) होवे।

इस पंक्ति में आचार्य महोदय ने अपनी भावनाओं को शब्दों में प्रार्थना का रूप देकर के प्रस्तुत किया है। प्रार्थना के साथ-साथ प्रकृष्ट अर्थना भी की है। प्रकृष्ट अर्थना वह कहलाती है जिसका कभी हमारी आत्मा से अभाव न हो। जिस वस्तु को प्राप्त करके अनंतकाल तक रख नहीं सकें, उस वस्तु की याचना, कामना, वांछा वह अर्थना और प्रार्थना में नहीं आती, याचना में आती है वह मांगी जाती है किन्तु जो वस्तु हमारे पास अनंतकाल तक रहे वह अर्चना और प्रार्थना से प्राप्त होती है तो यहाँ पर जो भावना भायी है वह याचक की तरह नहीं, भिखारी बनकर झोली नहीं फैलायी। एक उत्कृष्ट प्रार्थी जैसे कोई विद्यार्थी अपनी पढ़ाई पूरी करके जॉब की तलाश कर रहा है, उसने अपने बॉस के आगे एप्लीकेशन लगायी तो वह प्रार्थी है। वह यदि योग्य है तो याचना नहीं करेगा कि साहब ! मुझे नौकरी दे दो, वह कहेगा मेरी ऐसी-ऐसी क्षमता है योग्यता है उसके अनुसार आपके यहाँ जॉब है तो मैं इसके लिये अप्लाई करता हूँ। प्रार्थना हमेशा उत्कृष्ट वस्तु के लिये और याचना हमेशा रिजेक्ट वस्तु के लिये की जाती है। जब भी भिखारी आता है तो वह आपसे कहता है साहब ! आपके फटे-पुराने कपड़े हों तो दे दो, रूखी-सूखी रोटी हो तो दे दो, भीख हमेशा रिजेक्ट माल की दी जाती है आज का जमाना अलग है जब भिखारी वस्तु न माँगकर पैसे मांगने लगे हैं।

प्रार्थना तो सलैक्ट वस्तु की, की जाती है। यहाँ पर आचार्य महोदय भगवान् से भीख नहीं माँग रहे कि आपने जो धन सम्पत्ति छोड़ी वह मुझे दे दो, ऐसे नहीं कह रहे। वे तो कह रहे हैं आपने अपनी आत्मा में जो-जो चीजें प्राप्त कर ली हैं वे वस्तुऐं मुझे भी मेरी आत्मा में प्राप्त हों। यदि मैं आपकी त्याज्य वस्तु को माँगूगा तो मैं भिखारी बन जाऊँगा और मैं आपकी चयनित वस्तु को माँगूगा जिसके लिये आपने साधना की, जिसके लिये आपने तीन लोक का वैभव ठुकरा दिया, जिसके लिये आप गृह परिवार छोड़कर के वन में बसे, इन्द्रियों को कसा, आत्मा में वास किया, उपवास किया फिर तीन लोक के समस्त वैभव को ही नहीं अपने कर्मों को भी दास बना लिया। उपवास से कर्म भी दास बन जाता है, मोक्ष भी पास में आ जाता है, संसार-शरीर-भोगों के प्रति उदास भाव आ जाता है। उपवास के साथ एक आस रहती है उपवास के पीछे एक गहरा विश्वास होता है। तो यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं कि मैं तुम्हारी रिजेक्ट वस्तु नहीं चाहता। मुझे तो

सलैक्ट वस्तु चाहिये, देना है तो दे दो वर्ना मैं अपने पुरुषार्थ से प्राप्त कर लूँगा। यदि मैंने पुरुषार्थ से प्राप्त कर लिया तो तुम्हारा गुणगान करने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है।

जो तपस्वी होता है, साधक होता है भगवान् के सामने प्रार्थना करता है, उपासक तो केवल उपासना करता है वह भगवान् से जिद्द नहीं करता, वह कहता है भगवान् मैं तो आपके चरणों में पड़ा हूँ मुझे जब भी मिलेगा आपके इन्हीं चरणों से मिलेगा, आपने ठुकरा दिया तो मेरा कहीं ठिकाना नहीं। साधक कहता है-देना है- मांग नहीं रहा, मेरी क्षमता है लेने की, देना नहीं है तो कोई बात नहीं मैं तपस्या करके आपके वैभव को प्राप्त करके बताऊँगा।

भक्त लोग भी भजन गाते हैं-देना है तो दीजिये जन्म-जन्म का साथ।

वह भक्त भी धमकी सी दे रहा है ये नहीं कि 4 क्षण का साथ दे दो, नहीं, देना है तो जनम-जनम का साथ दो वर्ना छोड़ो। हम अकेले ही ठीक हैं। हमें ऐसे साथी नहीं पकड़ने जो 4 कदम चलें और पाँचवें कदम पर छूट जायें, सात फेरे डालने वाली वह पत्नी भी देहरी के आगे नहीं जाती हमें साथी ऐसा बनाना है जो मरघट तक ही नहीं निजघट तक हमारा साथ दे। हमें ऐसी सहेली नहीं बनानी है जो पनघट तक ही साथ दे, ऐसा मित्र नहीं बनाना जो मरघट तक साथ दे हमें तो वह बनाना है जो हरदम साथ दे, न केवल मरते दम तक न केवल अंतिम श्वांस तक जब तक मेरी आत्मा की परिणति सिद्धत्व रूप में न हो जाये तब तक साथ नहीं छोड़ना है।

तो यहाँ पर आचार्य महोदय प्रार्थना की बात कह रहे हैं कि भगवान् मैं आपके पास भक्ति भावना से आया हूँ आप चाहो कि मुझे चक्रवर्ती का वैभव या सौधर्म इन्द्र की विभूति चाहिये, नहीं चाहिये, हजारों रानियाँ, देवांगनायें भी न चाहिये, सुंदर शरीर भी नहीं चाहिये तो क्या चाहिये? मैं अपनी भावना से भक्ति कर रहा हूँ, आप को देखकर मेरा परिणाम शुद्ध हो जाता है, हृदय कमल खिल जाता है, आपको देखकर मुझे निज का बोध हो जाता है, आपको देखकर मैं परमात्मा बनने की प्यास से भर जाता हूँ, आपको देखकर मेरी आत्मा की वीणा में संगीत आ जाता है, आपको देखकर मेरे चेतना के आकाश में सुख-शांति के बादल छा जाते हैं इसलिये भक्ति करने मैं आपके पास आया हूँ। यदि आपको देखकर मेरे आत्मगगन में ज्ञान का प्रकाश न हो तो आपको मैं सूर्य नहीं कहूँगा, यदि आपको देखकर मेरे चित्त को शांति न मिले तो मैं आपको चन्द्रमा न कहूँगा, यदि आपको देखकर मेरी आत्मा सुगंधित न हो तो मैं आपको पुष्प न कहूँगा यदि आपमें अवगाहन करने की शक्ति नहीं है जिसमें मैं डूब सकूँ तो मैं आपको समुद्र व नदी की उपमा नहीं दूँगा और यदि आपके माध्यम से मेरी आत्म वीणा के तार झंकृत नहीं होते हैं तो आप में संगीत नहीं है यदि आपकी आत्मा के सहारे मेरी आत्मा परमात्मा नहीं बन सकेगी तो मैं आपको परमात्मा भी नहीं कहूँगा। मैं तो परमात्मा उसे कहता हूँ जो सामान्य आत्मा को परमात्मा बना दे। जो सामान्य आत्मा को परमात्मा नहीं बना सकता वह काहे का परमात्मा?

एक गाँवपति जो होवे, सो भी दुःखिया दुःख खोवे।
तुम तीन भुवन के स्वामी दुःख मेटहुँ अन्तर्यामी॥

भक्त कहता है मुझे कहने की आवश्यकता नहीं है तुम वास्तव में केवलज्ञानी केवल दर्शन वाले हो, तो मेरे मन का हाल जान लो, मैं तुमसे क्यों कहूँ और तुम तीन लोक के नाथ हो मैं तुम्हारे शासन में रह रहा हूँ ईमानदारी से रह रहा हूँ मन से, वचन से, काय से रह रहा हूँ, जो कुछ है सो तुम्हारा है, इस शरीर का एक-एक रोम, एक-एक परमाणु, बाहर का पुद्गल वैभव तुम्हारा है, तुम्हारे शासन में रहकर के प्रजा बन करके मैं दुःखी कैसे रह सकता हूँ। किसी राजा के आधीन रहने वाली प्रजा सुखी नहीं होती है तो राजा सुयोग्य नहीं माना जाता और राजा फिर दुर्गति का पात्र होता है।

जास नृपति वश प्रजा दुखारी, सो नृपति अवश नरक अधिकारी।

ऐसा लोक में कहा जाता है। एक छोटा राजा भी अपनी प्रजा को सुखी करने के लिये स्वयं जंगल का वास स्वीकार कर लेता है, स्वयं घास की रोटी खाना स्वीकार कर लेता है, स्वयं नंगे पैर चलना स्वीकार कर लेता है, स्वयं ही अपनी प्रजा के दुःख को मिटाने के लिये तैयार रहता है। गाँव का मुखिया भी अपनी प्रजा का दुःख दूर करता है तुम तो तीन लोक के शासक हो, तुम्हारे दरपर मैंने माथा टिका दिया अब ये माथा मुझे उठाना नहीं आता। अब मैं कहीं जा नहीं सकता। यदि तुमने मेरी भावना पूर्ण नहीं की तो मेरा क्या बिगड़ता है।

मट्ठा बेचारा क्या बिगड़े, जब फाटे तो दूध

मैं तो बिगड़ा हुआ हूँ ही, मेरा और ज्यादा क्या बिगड़ेगा। मैं तो पापी, महापापी, नीच, दुष्ट, अधम हूँ जो कोई कहे सो कहता रहे किंतु मैंने आपके बारे में सुना था-

अंजन जैसे पापी तारे मेरो मन अकुलायो

ऐसी मैंने सुनी थी कि आपने अंजन जैसे पापी को तार दिया तो मैं आपके पास आया। आपके बारे में सुना है कि आप-'पतितपावन हो' पतितों को पावन करने वाले हो इसलिये मैं आपके चरणों की शरण में आ गया। ऐसा आपका विरद मैंने सुना है। यदि आप पतितों को पावन नहीं करोगे तो तुम्हारे पास कल से कोई नहीं आयेगा, मैं जाकर के सबसे कह दूँगा ये सब झूठी बातें हैं यदि आप वास्तव में पावन हो तो पतितों को पावन करो। मेरी योग्यता में कहीं कमी हो तो बताओ, मैं तो पापी हूँ और आप पापियों का उद्धार करते हो, पुण्यात्मा का उद्धार आप क्या करते हो वह तो अपना उद्धार स्वयं कर ही लेगा, वह तो साधना कर ही रहा है। मैं तो पापी हूँ इसलिये आपकी शरण में आया हूँ।

मेरे पापीपने में तो कोई कमी नहीं है? मैं तो पापिष्ठ, जड़बुद्धि, मायावी, लोभी, क्रोधी, मोही ये सब दोष मेरे अंदर हैं और आप ऐसे ही व्यक्तियों का कल्याण करते हैं तो करो कल्याण। यदि नहीं करते हो तो मेरा कुछ नहीं बिगड़ता है। 'अपनो विरद निहार के' अपनी महिमा देखना कहीं तुम्हारी महिमा में कमी न आ जाये। तुम्हारा यश अपयश में न बदल जाये। तो भक्त भावना के आवेश में आकर के कैसी-कैसी बात कहता है-यहाँ पर आचार्य महोदय भी अपनी भक्ति भावना को व्यक्त कर रहे हैं क्योंकि जब भक्ति की तीव्र धारा फूटती है तो उस धारा में पत्थर का माना कि अर्क निकल कर आता है। गर्म पत्थर के बीच रखा वह पानी जब फूटता है तो झरना ठंडा निकलता है। पत्थर ने ताप सही है तो पानी को शीतलता दी है पत्थर कितना भी मजबूत या कठोर है, पाषाण है किंतु उसके हृदय में पानी होता है।

नारियल कितना कठोर होता है किंतु उसके हृदय में पानी होता है। तो ऐसे ही हे भगवान्! आप बाहर से लगते हो निर्मोही किंतु वास्तव में आपके जैसा नवनीत हृदय तो किसी का हो ही नहीं सकता और आप तो माता की तरह से हो जैसे माँ अपने बेटे के लिये सब कुछ न्यौछावर कर देती है, आप तो अपने भक्तों के लिये सब कुछ देने को तैयार हो।

तो महानुभाव ! यहाँ पर आ. अमित गति स्वामी क्या भावना भा रहे हैं-

बोधिसमाधि परिणाम शुद्धि, स्वात्मोपलब्धि शिवसौख्य सिद्धिः

यहाँ पर ये पाँच चीजें माँगीं। पाँच चीजों में ऐसा मान लो कि पंचम गति माँग ली, पाँच चीजों में पाँच प्रकार के पापों को नष्ट करने की विद्या माँग ली, इन पाँच प्रकार की चीजों में संसार के पंचपरावर्तन को नष्ट करके असंसार की अवस्था माँग ली। इन पाँच चीजों से माना कि पंचम पारिणामिक भाव की प्राप्ति कर ली।

गुणभद्र स्वामी ने कहा-मांगो तो ऐसा मांगो कि दुबारा मांगने के लिये मुँह न खोलना पड़े और दूसरी बात कही-'मांगो उसी से, जो दे दे खुशी से, देते समय जिसकी आँखों में चमक हो। भौं तन जाये उससे न मांगो, अहंकार बताने वाले से, अहसान जताने वाले से या बदले की भावना रखने वाले से न मांगो। ऐसे मांगो जैसे माँ अपने बेटे को दूध पिलाकर के आनंदित होती है, जब बेटा माँ के सामने रोता है तो माँ का ही हृदय उसे दूध पिलाने का होता है, माँ दूध पिलाकर बेटे पर अहसान नहीं जताती और अपने अहंकार का पोषण नहीं करती। जितना आनंद बेटे को पीने में आता है उससे ज्यादा आनंद माँ को पिलाने में आता है, ऐसे ही मैं प्रभु परमात्मा से कहता हूँ कि यदि तुम्हें देकर आनंद आ रहा हो तो दे दो, ऐसा पात्र तुम्हें न मिलेगा। शिष्य योग्य होता है तो कहता है गुरु महाराज आप तो खूब परीक्षा ले लो, यदि आपकी कसौटी पर खरा उतर जाऊँ तो बस एक अक्षर भी छिपा करके नहीं रखना पूरा का पूरा अपने ज्ञान का अमृत मेरे इस घट में

उढेल देना। जब तक परीक्षा न करो तब तक कोई याचना, वांछा, कामना नहीं है। तो महानुभाव ! यहाँ पर आ. महोदय कह रहे हैं-

'बोधि समाधि'-बोधि किसे कहते हैं? बोधा-अर्थात् पागल, मूर्ख। जो बोधा है वह भगवान् से बोधि पाकर के बुद्ध बन जाता है और जिसके पास बुद्धत्व है उसके पास ही सिद्धत्व है, जिसके पास बुद्धि की उत्कृष्ट निधि है उसके पास सिद्धि की उत्कृष्ट निधि है। आ. महोदय ने सबसे पहले भावना भायी बोधि की। बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता का नाम है बोधि। बोध कहते हैं ज्ञान को किन्तु बोधि कहते हैं रत्नत्रय को। अलग-अलग हैं तो बोधि नहीं है एक साथ हैं तभी बोधि है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने क्या मांगा-

आरोग्ग बोहिलाहं दिंतु समाहिं च मे जिणवरिंदा।

हे जिनेन्द्र देव ! मुझे आरोग्य का लाभ हो, बोधि का लाभ हो, समाधि का लाभ हो। 'णाणलाहं'-ज्ञान का लाभ हो। ये भी कहा-भगवान् आप कुछ देते नहीं हैं किन्तु सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आपके अलावा कहीं मिलता नहीं है। आपके बिना कोई व्यक्ति क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता और बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन के क्षायिक ज्ञान नहीं आ सकता बिना क्षायिक ज्ञान के क्षायिक चारित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती।

ये सब आपके आधीन हैं, आपसे ही मिल सकते हैं इसलिये आचार्य महाराज ने सबसे पहला शब्द प्रयोग किया है वह है 'बोधि'। रत्नत्रय की प्राप्ति और रत्नत्रय की साधना इस भव में कर ली तो कोई बहुत बड़ी बात नहीं उसे अगले भव में ले जाना उसका नाम है समाधि। महाराज ! अगले भव में देव अवस्था में तो संयम होता ही नहीं है वहाँ तो अव्रती अवस्था है, किंतु जो भी साधना यहाँ पर की है पंचम गुणस्थानवर्ती, षष्ठम गुणस्थानवर्ती बनकर के उस साधना के संस्कारों को आत्मा में ढालकर अगले भव तक ले जाना है। वे संस्कार छूटे नहीं, संस्कार ऐसे डाल लो कि सपना भी आये तो उसमें भी यही लगे कि मैं मुनि हूँ। सपने में भी मेरा बोध जाग्रत है, स्वप्न में आहार लिया तो मुनि अवस्था में लिया, दिन के प्रकाश में लिया, मैं उपदेश दे रहा हूँ, स्वाध्याय कर रहा हूँ, सामायिक प्रतिक्रमण कर रहा हूँ ऐसा सपने में भी आये, तो ये संस्कार आत्मा में पड़ गए ये संस्कार अगले भव तक चले जायें उसका नाम है 'समाधि'।

समाधि को ऐसे भी कहते हैं आधि व्याधि उपाधि को छोड़कर समाधि की सिद्धि की जाती है। अपनी बुद्धि को समतामय कर लेना, विशेष बुद्धि की प्राप्ति, जिससे तत्त्व बोध होता है, रत्नत्रय में लीनता समाधि कहलाती है तो आचार्य महोदय भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं-मुझे अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति हो और फिर मुझे समाधि की प्राप्ति हो। मेरी आत्मा आत्मा में लीन हो जाये, संसार के किसी भी पदार्थ के प्रति मेरे मन में राग भाव न रहे, किंचित् भी द्वेष भाव न रहे। इस

प्रकार की भावना आ. महोदय यहाँ स्वयं भा रहे हैं। बोधि मायने-सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और समाधि मतलब-रत्नत्रय के संस्कारों को अगले भव में ले जाना समाधि है। अगले भव में ले जायेगा तो वह जीव देव बनकर भी अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करेगा, भगवान् के समवशरण में जाकर के भक्ति पूजा करेगा, पाप में नहीं लगेगा, नियोगवश देवांगनाओं के साथ है किंतु उसका मन करेगा कब ये देवायु पूर्ण हो और कब मैं मनुष्य बनकर मुनि बनकर मोक्ष को प्राप्त करूँ। अगली बात कही-

हे प्रभु जो बोधि और समाधि का भी प्राण है वह है **परिणामशुद्धिः**-मैं चाहे कोई भी क्रिया करुँ तप, व्रत, स्वाध्याय, भक्ति पूजा, स्तुति, दान, वैयावृत्ति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान कोई भी क्रिया क्यों न हो किंतु हे प्रभो ! मेरी प्रत्येक क्रिया परिणामों में विशुद्धि को लिये हो। परिणामों की निर्मलता को लिये हो। जिस क्रिया में परिणाम विशुद्धि नहीं हो, भावशुद्धि नहीं हो तो समझो वह क्रिया बोझ हो जाती है। इसलिये तीसरी बात आचार्य महाराज कह रहे हैं। हे भगवान् परिणामों की विशुद्धि हो। महानुभाव, आपको चिंता होती है कि दूध न बिगड़ जाये, मिठाई न बिगड़ जाये, फल सब्जी न बिगड़ जाये, कोई भी चीज बिगड़ न जाये उसकी बहुत चिंता रहती है किंतु कभी एक बार ये भी चिंता कर लिया करो कि हे भगवान् ! मेरे परिणाम न बिगड़ जायें। प्रातः काल सबसे मीठे शब्द बोल दो तो परिणाम नहीं बिगड़ेंगे। बहू सुबह सास के चरण स्पर्श कर आशीर्वाद ले ले, सास भी प्यार के दो शब्द कह दे, बेटा पिता के चरण छू ले, पिता भी पुत्र के सिर पर हाथ फेर दे तो तुम्हारा, तुम्हारे घर का माहौल व मन निर्मल बना रहेगा। मुझे लगता है उन्हें ही ऐसी बुद्धि आ सकती है जो भगवान् के सामने जा सकें, गुरु के सामने जा सकें आशीर्वाद ले सकें।

जिसने अपने माता-पिता का आशीर्वाद नहीं लिया, बड़ों की शुभ भावनायें नहीं लीं मुझे नहीं लगता कि वह भगवान् का, गुरु का, जिनवाणी माँ का आशीर्वाद ले पायेगा। महानुभाव ! जब आशीर्वाद मिलता है तो परिणाम निर्मल होते चले जाते हैं मन में लालसा, मायाचारी, लोभ नहीं करना पड़ता, अहंकार की बात नहीं आती अतः परिणामों की शुद्धि के लिये बड़ों का सद्भाव व आशीर्वाद जरूरी है। पहले तो निजघर की सद्भावना चाहिये, अन्तरआत्मा की सद्भावना चाहिए फिर जहाँ भी जाओगे वहाँ ही सद्भावनाओं का ढ़ेर तुम्हारे द्वार पर लग जायेगा। तो महानुभाव ! आचार्य महोदय भगवान् से कहते हैं कि हे भगवान् ! मुझे कुछ न चाहिये चाहे अमीर रहूँ या गरीब किसी भी अवस्था में रहूँ किंतु मेरे परिणाम खराब न हों। आप लोगों को लगता है मार्केट में सोना गिर गया, चाँदी गिर गयी, प्रोपर्टी के रेट गिर गये, सेनसेक्स गिर गया ये सब गिरने की चिंता करते हो और कोई कोई तो रोने लगता है मेरे पास ये सब चीज रखी थीं, इन सबके भाव गिर गये, किंतु तब आपकी आँखों में आँसू क्यों नहीं आते, जब तुम्हारी चेतना के भाव गिरते

हैं। तब पश्चाताप क्यों नहीं करते? कि सुबह तो मैंने पूजा-अभिषेक किया तब मेरे परिणाम अच्छे थे और अब मैं क्रोध कर रहा हूँ, मायाचारी कर रहा हूँ मेरे इतने परिणाम कैसे गिर गये। ऐसा मैं कैसे कर सकता हूँ।

मैं तो रत्नमहल में निवास करने वाला इस कीचड़, विष्टा में कैसे गिर सकता हूँ, भोगों-विषयों में कैसे गिर सकता हूँ। ऐसा कभी विचार मन में आया क्या ? यदि आ जाता तो तुम्हारे परिणाम गिरते नहीं और जिसके परिणाम नहीं गिरते हैं उस व्यक्ति को पूरा संसार मिलकर भी गिरा नहीं सकता। जब भी व्यक्ति नरक में गिरता है, निगोद में गिरता है, कहीं भी गिरता है अपने परिणामों के परिणामस्वरूप गिरता है। व्यक्ति उठता है तो अपने परिणामों से उठता है किंतु हाँ यह बात अवश्य है कि उठते समय उसके लिये कोई न कोई व्यक्ति उठाने में निमित्त भी हो जाता है, गिराने के लिये निमित्त की आवश्यकता नहीं है अपने परिणाम पर्याप्त हैं।

अगली बात कही **स्वात्मोपलब्धि**-हे जिनेन्द्र देव ! मुझे बाहर की कुछ भी उपलब्धि न चाहिये। बाहर की ऋद्धि-सिद्धि उपलब्धियाँ सब शरीर के साथ छूट जायेंगी मुझे तो मेरी आत्मा मिल जाये और कुछ न चाहिये।

एक व्यक्ति की छाया गायब हो गयी वह धूप में जाये, चाँदनी में जाये उसकी छाया गायब। लोग उससे डरने लगे इसके शरीर में भूत-प्रेतात्मा तो नहीं है भूतों की छाया नहीं पड़ती इसकी भी नहीं पड़ रही है, उसे सबने मिलकर गाँव के बाहर निकाल दिया। बेचारा दुःखी हुआ। पुनः किसी कारण से उसकी छाया पड़ने लगी उसे अपनी छाया मिल गयी छाया पाकर के खुश हो गया। उसकी छाया गायब हो गयी तो वह दुःखी हो गया सबके लिये तिरस्कार का पात्र हो गया निकाल दिया गया और छाया पाकर के खुश होता है और हमारी तो मूल आत्मा ही गायब हो गयी है हम तो छाया को पकड़कर बैठे हैं। हमारी तो आज तक आत्मा ही उपलब्ध नहीं हो पायी, हम आज तक आत्मा को जान ही नहीं पाये, शरीर को पकड़ कर बैठ जाते हैं आत्मा मानकर के। तो आचार्य महोदय कह रहे हैं हमें स्वात्मोपलब्धि हो जाये। जिसे आत्मा की उपलब्धि हो जाती है उसे नियम से **शिवसौख्यसिद्धिः** सिद्धत्व की सिद्धि, मोक्षसुख की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार की भावना किसके सामने भायी-**चिन्तामणिं चिंतित वस्तु दाने**-चिंतामणि रत्न की तरह से, कामधेनु गाय की तरह से, कल्पवृक्ष की तरह से, कामकुंभ घट की तरह से, पारसमणी की तरह से जो वरदान देने में समर्थ हो ऐसी हे देवि ! **त्वां वंद्यमानस्यममास्तु देवि !** हे माँ जिनवाणी ! आप ही चिंतामणि हो, आप ही पारसमणि हो, आप ही कामधेनु हो, कामघट (मंगलकलश) रूप हो, आप ही कल्पतरु हो ये सब आपके ही नाम हैं आपके चरणों में मैं हूँ। आपका हृदय जल्दी पिघल जाता है इसलिये इस अबोध बालक पर कृपा करें-

हे शारदे अब कृपा कर दे जरा तू,
तेरा उपासक खड़ा भव से डरा जो।
माता विलम्ब करना मत मैं पुजारी,
आशीष दो बन सकूँ बस निर्विकारी॥

माँ के सामने याचना की। हे माँ ऐसा आशीर्वाद दो कि मैं निर्विकारी बन जाऊँ। इसलिये जैन दर्शन में कोई भी साध्वी बन जाये चाहे आठ साल की ही हो हर साध्वी को आर्यिका माता जी कहा जाता है तो माँ वरदान देने में समर्थ होती है। जिनवाणी को भी माँ के रूप में पूजा है। जिनवाणी से कहा ये पाँच वस्तुएँ मुझे चाहिये-

बोधि, समाधि, परिणामशुद्धि, स्वात्मोपलब्धि, शिवसौख्यसिद्धि। चिन्तामणि रत्न की तरह से सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाली हे सरस्वती देवी ! हे केवलज्ञान वांगमय वाग्देवी ! श्रुत देवी, शारदा देवी मेरी भावना को पूर्ण करो और मेरे अंदर उस केवल ज्ञान को भर दो। मुझे सिद्धत्व की प्राप्ति हो। इस प्रकार की भावना आ. महोदय ने भायी।

इस तरह ग्यारहवाँ काव्य संक्षेप में पूर्ण हुआ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

विज्जुदं विणा सक्कं, ण तस्सुवयरणं कज्जं करेदुं।
तहा विणा जिणभत्तिं, मोहकम्मक्खयेदुं को वि॥२५॥

अर्थ:-जिस प्रकार विद्युत के बिना उसके उपकरण कार्य करने के लिए शक्य नहीं हैं उसी प्रकार जिनभक्ति के बिना कोई भी मनुष्य मोहकर्म को क्षय करने के लिए शक्य नहीं है।

-जिणवर-थोत्तं
(आचार्य श्री वसुनंदी मुनि)

परमात्मा का स्वरूप

महानुभाव ! यहाँ आचार्य अमितगति आचार्य की द्वात्रिंशतिका नामक वाग्गंगा प्रवाहित हो रही है, जिसमें कल हम देख रहे थे।

हे ज्ञानगंगे ! मैं आपके चरणों में एक उपासक, भक्त, पुजारी बनकर के इस आशा से बैठा हूँ कि मुझे जीवन में बोधि की प्राप्ति हो जाये। यह 'धी' तो संसार में सबके पास है, ये 'धी' संसार में भ्रमण कराने वाली है मुझे तो वो वाली 'धी' चाहिये जिसके माध्यम से निज वैभव की प्राप्ति होती है। एक वैभव वह है जो खुली आँखों से देखने में आता है, जो बिजली की चमक की तरह से देखते-देखते नष्ट हो जाता है, बिना पुण्य के उदय से उसे कोई भोग नहीं पाता है, दूसरा वैभव वो वैभव है जो आँख बंद करने से दृष्टि गोचर होता है। वह वैभव एक बार प्राप्त होने पर फिर कभी नष्ट नहीं होता, ऐसे वैभव को प्राप्त करने के लिये ऐसी बुद्धि चाहिये। तो 'बोधि' 'यह धी' न कहकर 'बोधि' कहा।

बोधि का फल है समाधि वह भी मांग लिया पुनः कहा बोधि और समाधि बिना परिणामों की विशुद्धि के असंभव है और परिणामों की विशुद्धि के साथ झलकता है आत्मा। जब बर्तन का जल शांत होता है तब उसमें अपना मुख दिखता है। गंदे चित्त में अपनी आत्मा का अवलोकन नहीं होता उसके लिये कहा 'स्वात्मोपलब्धि' जहाँ पर आत्मा की शुद्ध दशा, शुद्ध पर्याय अवलोकन में आ जाये, अनुभव में आ जाये तब निःसंदेह वह आत्मा परमात्मा की दशा को प्राप्त होती है, 'शिव सौख्य सिद्धि' शिवत्व को प्राप्त करने में समर्थ होती है। जहाँ सिद्धत्व प्राप्त है न केवल अकेला सौख्य, सिद्धत्व की दशा में प्राप्त होने वाले समग्र चेतना के गुण वहाँ प्रकट हो जाते हैं। सिद्धि का आशय ही है परम विजय, अंतिम विजय इसके आगे कोई लड़ाई नहीं, कोई द्वन्द नहीं। कोई अटकन, भटकन नहीं केवल अपना ही अपना साम्राज्य, जिसमें कोई हस्तक्षेप करने वाला नहीं। अतीत में झांकने की आवश्यकता नहीं जो झलक रहा है झलकने दो, किन्तु जब व्यक्ति पर वस्तुओं में डूबकर के पर वैभव को खोजता है निज के गुणों को भूलकर के पर में भटकता है और भटका ही नहीं पर में जाकर के अटकता है।

एक तो भटकन होती है-एक व्यक्ति जंगल में घूम रहा है सही रास्ता नहीं मिल पाया तो भटक रहा है। भटकता हुआ प्राणी आज नहीं तो कल सही रास्ते को प्राप्त कर सकता है, किंतु अटका प्राणी रास्ता प्राप्त नहीं कर पाता। भटक से ज्यादा खतरनाक है अटक। अटका कैसे? जैसे माना कि रास्ते में जा रहे थे रास्ते में पानी भरा है पुल टूटा हुआ है तो अटक करके रह गये, उससे भी ज्यादा खतरनाक होती है लटकन। कोई व्यक्ति लटका है-जैसे आपने संसार सुख दुःख दर्पण देखा होगा चित्र बना रहता है मंदिर में-जिसमें एक बरगद का सघन वृक्ष है एक आदमी उस शाखा

से लटका हुआ है नीचे कूप है जिसमें 4 सर्प और एक अजगर मुंह फाड़े पड़ा है, उस शाखा को काले और सफेद दो चूहे काट रहे हैं उस शाखा पर मधु का छत्ता है उससे शहद की मधुबिन्दु टपक रही है। वह संसारी प्राणी-भटका नहीं है, भटका प्राणी भटकते-भटकते सही रास्ते पर आ जाता है, अटका हुआ व्यक्ति भी जिसका रास्ता अविरुद्ध कर दिया है, वह भी देरी से सही रास्ता प्राप्त कर लेता है किंतु जो लटका हुआ है बुद्धि पूर्वक, वह और ज्यादा खतरनाक स्थिति है। अब वह मधुबिंदु के लोभ में लटका हुआ है, देख रहा है दिन और रात रूपी दो चूहे मेरी जीवन रूपी शाखा को काट रहे हैं अथवा कृष्ण पक्ष, शुक्लपक्ष रूपी दोनों चूहे मेरी जीवन रूपी शाखा को काट रहे हैं और शाखा टूटते ही मैं नीचे कुएँ में गिर जाऊँगा जिसमें चारगति रूपी चार सर्प और निगोद रूप अजगर ग्रसने को तैयार हैं। इतना ही नहीं कालरूपी हाथी अपनी सूंड में उस वृक्ष को लपेट करके हिला रहा है बार-बार वृक्ष हिलता है तो मधुमक्खियाँ उड़ती हैं शरीर से चिपक जाती हैं, काटती हैं, बहुत वेदना हो रही है और वह हाथी कब वृक्ष को पूरा उखाड़ दे कह नहीं सकते, चूहे कब डाली को काट दें कह नहीं सकते कब मेरा हाथ ढीला पड़ जाये, मधुमक्खियों के काटने से मेरी पकड़ ढीली पड़े और कब मैं नीचे गिर जाऊँ कह नहीं सकते किंतु ऐसी अवस्था में भी व्यक्ति लटका हुआ है बुद्धि पूर्वक। उस दशा में कोई करुणा से परिपूरित, करुणारूप सहचरी के साथ में संयम की साधना करने वाले कोई योगीश्वर, मुनीश्वर, महात्मा, संत उस प्राणी से कहते हैं भाई ! तू यहाँ क्यों लटका हुआ है उतर कर आ जा मैं तुझे आकाश से अधर में ले लूँगा और मेरे विमान में बैठ तुझे गन्तव्य तक मैं पहुँचा दूँगा। मेरी नाव में बैठ तो, तू उस किनारे पर पहुँच जायेगा जहाँ से पहुँचकर के पुनः वापस नहीं आया जाता किंतु वह व्यक्ति लटका हुआ है कहता है-गुरुदेव ! बस थोड़ी देर और बस एक बूंद और आने दो।

संसार में फँसा प्राणी भी कहता है महाराज मेरा मन करता है संयम धारण करने का, मन करता है दीक्षा लेने का, जिसका मन किसी कार्य को करने का करता है तो वह कहता नहीं, कहती है जुबान। मन तो फिर आगे बढ़ जाता है। जब मन में कच्चापन होता है, जब मन कहीं लटका हुआ है झूले की तरह से झूला लटका है डाली पर तो केवल लटकता हुआ इधर उधर होता रहता है वह कहीं पहुँचता नहीं। ऐसे ही संसारी प्राणी का मन कही पत्नी में अटका है, पत्नी और पुत्र दोनों के बीच लटका हुआ है। मन चाहे धन सम्पत्ति शरीर किसी भी एक के पीछे अटका होता है और दो में लटका होता है और नाना व्यक्तियों में रमण करता मन भटका होता है अटका हुआ मन एक में अटका है उसे एक बार ठोकर लगी तो उससे मन टूट जायेगा, जिस पत्नी में पहले मन आसक्त था, पत्नी का कोई कुकृत्य देख लिया और अटका हुआ मन छूट गया, दीक्षा के लिये चला गया, वैराग्य हो गया जैसे भृर्तहरि को हो गया।

तो महानुभाव ! भटका हुआ मन भी कहीं न कहीं रास्ता प्राप्त कर लेता है। राह में कोई राहगीर मिल जाये सही दिशा दिखा सकता है अटका हुआ मन भी किसी झटके से छूट सकता है। किंतु बुद्धिपूर्वक लटका हुआ, इसका तो बड़ा मुश्किल है। जब तक इसे कसकर के झटका न लगेगा तब तक लटका हुआ यह मन सही दिशा को प्राप्त न कर सकेगा। यह ज्यादा खतरनाक है।

महानुभाव ! आचार्य महोदय कह रहे हैं कि जो व्यक्ति सिद्धत्व को प्राप्त हो गया, अब समग्र गुण प्रगट हो चुके हैं। किसी भी प्रकार की भटकन, लटकन की जहाँ जगह ही नहीं वह सुख का धाम शिवधाम की मुझे प्राप्ति हो।

अगले काव्य में आचार्य महाराज कह रहे हैं सच्चे देव कौन हैं, कैसे उनकी भक्ति उपासना करना है-

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैः, यः स्तूयते सर्वनराऽमरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराण शास्त्रैः, स देव देवो हृदये ममास्ताम्॥१२॥

मुनिनायकों के वृन्द जिसको, स्मरण करते हैं सदा,
जिसका सभी नर अमरपति भी स्तवन करते हैं सदा।
सत् शास्त्र वेद पुराण जिसको सर्वदा हैं गा रहे,
वह देव का भी देव बस मेरे हृदय में आ रहे॥12॥

अन्वयार्थ-(**यः**) जो (**सर्वमुनीन्द्रवृन्दैः**) समस्त गणधरों के समूह के द्वारा (**स्मर्यते**) स्मरण किये जाते हैं (**यः**) जिनकी (**सर्वनरामरेन्द्रैः**) सम्पूर्ण चक्रवर्ती और देवेन्द्रों के द्वारा (**स्तूयते**) स्तुति की जाती है (**च**) और (**यः**) जो (**वेदपुराणशास्त्रैः**) वेद, पुराण और शास्त्रों के द्वारा (**गीयते**) गाये जाते हैं (**सः**) वह (**देवदेवः**) देवाधिदेव (**मम**) मेरे (**हृदये**) हृदय में (**आस्ताम्**) विराजमान होवें।

संसार में ऐसा पंचेन्द्रिय संज्ञी खोज पाना मुश्किल है जो किसी का स्मरण नहीं करता हो। मन है तो नियम से मन जहाँ रमण करता है उसका स्मरण नहीं करता किंतु जिससे दूर रहता है उसका स्मरण करता है। जिसके पास रमण है तो स्मरण नहीं है जहाँ रमण नहीं है उसका स्मरण है। योगी अपनी आत्मा में रमण करते हैं, किसी और का स्मरण करते हैं। रोगी रोग में रमण करता है तो किसी और का स्मरण करता है, भोगी भोग में रमण करते हैं तो किसी और का स्मरण करते हैं, वियोगी वियोग के क्षण में किसी और के पास बैठे हैं किन्तु स्मरण किसी और का करते हैं। कौन किसका स्मरण करता है, जो जिसका स्मरण करता है उसके अनुसार ही उसके जीवन में वैसे

कर्मों का बंध होता है। अच्छी वस्तु का स्मरण करने से चेतना शुद्ध होगी। अशुद्ध का स्मरण करने से आत्मा अशुद्ध होगी। योगीन्द्र का ध्यान करने से आत्मा को योगीन्द्र दशा की प्राप्ति होती है, पापात्मा का स्मरण करने से आत्मा में पाप आते हैं, पुण्यात्मा का स्मरण करने से आत्मा में परमात्म दशा के बीज अंकुरित होने लगते हैं।

तो यहाँ कहा-परमात्मा कौन है-**यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैः**-मुनियों के इन्द्र भी जिन सिद्धों का ध्यान करते हैं, अरिहंतों का ध्यान करते हैं, स्मरण करते हैं वह परमात्मा है। क्योंकि योगी परमात्मा के अलावा और किसी का ध्यान नहीं करते, आप भी याद करो, किंतु भोगियों को याद मत करो, रोगियों, वियोगियों, नियोगियों को याद मत करो, याद करो तो अपनी शुद्ध दशा का स्मरण करो, जिसने शुद्ध दशा प्राप्त कर ली है उसका स्मरण करो। जो शुद्ध दशा की ओर आपको ले जा रहे हैं, ले जा सकने में समर्थ हैं ऐसे महात्माओं का, जिनवाणी के वाक्यों का स्मरण करो। तो यहाँ पर बताया वह देवता, देवों का भी देव, परमदेव, अरिहंत देव, सिद्धदेव और कैसा है वह? **यः स्तूयते सर्वनराऽमरेन्द्रैः**-सभी बुद्धिमान् मनुष्यों ने और देवों ने, इन्द्रों ने मिलकर जिनकी स्तुति गायी है। गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान, मोक्ष कल्याणक मनाया। ऐसे अमरपति, नरपति, भूपति जिनकी भक्ति पूजा वंदना आदि करते हैं वह परमात्मा है। मूर्ख, पापों में आसक्त, विषयलम्पटी, चंचलचित्त वाला व्यक्ति उस परमात्मा की स्तुति नहीं गा सकता। वह स्तुति किसकी गायेगा? जो कंत है वह अपनी कान्ता की गायेगा कोई कान्ता कर रही है अपने कंत की तुम तो वास्तव में देवों के देव हो या कोई सेवक स्वामी की प्रशंसा कर रहा है। इसके माध्यम से तो उसके स्वार्थ की सिद्धि हो रही है। बढ़-चढ़ के बात तो खूब कही जाती है। स्तुति का आशय होता है।

गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः।।बृ. स्वयंभू स्तोत्र

थोड़े से गुणों को बढ़ा-चढ़ा कर कहना स्तुति है किंतु जब पंच परमेष्ठी की स्तुति गायी जाती है तभी वह स्तुति और स्तवन दोषों के नाश करने में समर्थ होता है यदि स्तुति संसारी प्राणियों की गायी जाती है, संसार का संवर्धन करने वाले, पापों का बंध कराने वाले, दुःखों के सागर में धकेलने वाले ऐसे व्यक्ति की स्तुति गायी जाती है तब संसार से मुक्ति की वांछा, कामना को फिर छोड़ देना चाहिये। वह तो असंभव है।

परमात्मा वही हो सकता है जिसको अमरपति, नरपति आदि मिलकर के अंतरंग में बैठकर के याद करते हैं। शांति में बैठकर ही परमात्मा को याद किया जा सकता है। जब-जब शांति में बैठे हो तब-तब परमात्मा की याद आती है और जब तक परमात्मा की याद नहीं आ रही तब तक समझो तुम्हें शांति है ही नहीं। संसारी प्राणियों को तो परमात्मा तब याद आता है जब दुःखों के बादल टूट पड़ें, जब भींगता है तब छाते की याद आती है और जब भीगता नहीं, धूप नहीं पड़ती

तब तक याद नहीं आती। जब दु:ख संकट आ जाता है तब परमात्मा की याद आती है, फिर अन्तरआत्मा से स्तुति निकलती है जब बेसहारा हो गया तब और किसी की नहीं भगवान् की याद आती है, जब तक सहारे दिखाई देते हैं पति-पत्नी-बच्चे बैंक बैलेंस दिखाई देते हैं तब तक प्रभु परमात्मा की स्तुति दिखाई नहीं देती। तो जो बुद्धिमान् मनुष्यों, नरेन्द्रों, सुरेन्द्रों द्वारा स्तुति को प्राप्त है वह परमात्मा है **यो गीयते वेद पुराण शास्त्रैः** जिसे अनादिकाल से वेद-विद् धातु से बना, 'वेद' यानि ज्ञान। चार वेद-प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग। इन वेदों के माध्यम से जिनका कथन किया जा रहा है। जिस शक्ति का कथन किया जा रहा है वह परम शक्तिशाली, परमज्योति पुंज, वह अकर्मा, वह जन्ममरण से रहित अपनी आत्मा के समस्त गुणों को भोगने वाला, संसार के एक भी परमाणु का जो भोग नहीं करे, न कर सके, ऐसा वह परमात्मा जिसकी महिमा वेदों में, पुराणों में, शास्त्रों में, स्मृतियों में सब में गायी जा रही है।

एक राजा ने अपने मंत्री से कहा आखिर ये परमात्मा क्या है? मंत्री ने कहा राजन् जो आत्मा परम अवस्था को प्राप्त हो जाती है वह परमात्मा कहलाता है। राजा ने कहा मंत्री जी मैं ये बातें नहीं समझता। मेरी समझ में नहीं आता मैं यह सब नहीं मानता। मंत्री बोला यदि आप मुझे क्षमा प्रदान करें तो मैं आपको समझा दूँगा। राजा ने कहा-ठीक है, मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ। संध्याकाल हुआ, वह मंत्री और राजा दोनों अपने-अपने घोड़ों पर सवार हुए। जंगल की सैर करने चले गए। सूर्य अस्ताचल की ओर था। जंगल में कोई दूर-दूर तक दिखाई नहीं दे रहा था। मंत्री राजा से कहता है ''महाराज ! आप और मैं एक खेल खेलेंगे।'' राजा ने पूछा ''कैसा खेल?'' बोला इस रस्सी से पहले आप मुझे बांधो मैं खुलने का प्रयास करूँगा, फिर मैं आपको बांधूँगा आप खुलने का प्रयास करना।

ठीक है, राजा ने मंत्री को बांध दिया। थोड़ी देर बाद मंत्री बोला ''राजन् ! अब मैं हार गया, मैं खुल नहीं पा रहा।'' राजा ने मंत्री को खोल दिया। अब बारी राजा के बंधने की थी। राजा पेड़ के साथ खड़ा हुआ। राजा तो सोच रहा था कि खेल-खेल रहे हैं। मंत्री ने राजा को कसके बांध दिया और एक डंडे से राजा की पिटाई करनी शुरू कर दी। बहुत जोर-जोर से मारने लगा। राजा कहता है ''अरे ! तुझे क्या हो गया, मेरे प्राण लेकर ही रहेगा क्या? राजा बहुत जोर से चिल्लाने लगा ''हे भगवान् ! अब तो आप ही मुझको बचा सकते हो, प्रभु बचाओ...। मंत्री रुक जाता है कहता है समझ गए आत्मा, परमात्मा क्या है या समझाऊँ? राजा बोला ''तेरा तो इरादा ही ठीक नहीं है। अगर क्षमा प्रदान नहीं की होती तो बताता।'' मंत्री बोला ''राजन् ! इरादा तो बस आपको समझाने का है। सुनिये, मैंने जिसको पीटा था वह था पुद्गल, जो चिल्ला रहा था वह थी आत्मा, जो चिल्लाहट की आवाज थी वह थी प्रार्थना और जिसको चिल्ला रहा था, पुकार रहा था वह था परमात्मा।

तो व्यक्ति दु:ख-कष्ट में जिसको पुकारता है, योगी जिसका ध्यान करते हैं, वह वीतरागी है, सर्वज्ञ है वही परमात्मा है। वह परमात्मा जो राग द्वेष से रहित वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी है, योगी जिसे आनंद में आनंदित होकर पुकारते हैं और नरपति इन्द्रपति सभी उसके चरणों में निवास करना चाहते हैं उसकी समीपता चाहते हैं। तो यहाँ कहा-जो वेद पुराण शास्त्रों में अनादिकाल से गाया गया है। **स देव देवो हृदये ममास्ताम्**-हे जिनेन्द्र देव ! मैं प्रार्थना करता हूँ, आपके लिये ही प्रार्थना करता हूँ, मैं आपसे मांगता हूँ और आपको ही माँगता हूँ। मेरे हृदय में वही देवों का देव विराजमान हो जाये। वह देवाधिदेव, वीतरागी अर्हंत सिद्ध देव जिसे फिर संसार में आना जाना नहीं, संसार से कुछ लेना-देना नहीं जिसके पास कोई बहाना नहीं, जिसका कोई खोजने का ठिकाना नहीं, जिसने अपने आप में ठिकाना पा लिया है। हम अभी तक अपना ठौर ठिकाना खोज नहीं पाये इसलिये आज तक हजारों ठिकाने बनाये किंतु एक भी काम में न आये। इसलिये यहाँ पर अब हम आपका ठिकाना अपने हृदय में, अपनी आत्मा में बनाते हैं। जिससे हमें भी अपना ठिकाना मिल जाये, यदि हमने आपके चरणों में ठिकाना बना लिया तो हमें अपना ठिकाना मिल जायेगा।

तो यहाँ बताया-वही सच्चा देव है जिसकी मुनियों के इन्द्र, मुनियों के नायक, मुनियों के आचार्य हमेशा स्तुति करते हैं, स्मरण करते हैं। सौधर्म इन्द्र आदि भी समवशरण में जाकर के 1008 नामों से स्तुति गाते हैं, चक्रवर्ती भी जिनकी स्तुति करता है, जिनके बारे में वेद पुराण शास्त्र अनादि काल से गाते आ रहे हैं वही परम शक्ति वही परम आत्मा मेरे हृदय में आकर निवास करे इस प्रकार की भावना यहाँ पर भायी है।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

तेरा प्रभु तुझ में बसा

इस द्वात्रिंशतिका ग्रंथ में आप काव्य नं. 13 देख रहे हैं। इस काव्य का संभव है हमारी और आपकी आत्मा से सीधा संबंध हो। इस तेरहवें काव्य में तुम्हारे परमात्मा के बारे में चर्चा है। अभी तक हमने संसार के सभी परमात्मा भगवानों के बारे में जाना-सुना-पढ़ा-विचार किया किंतु यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं कि तेरा परमात्मा जो है वह तुझ में ही छिपकर बैठा हुआ है।

ज्यों तिल मांहि तेल है ज्यों चकमक में आग।
तेरा सांई तुझमें बसा झाँक सके तो झाँक॥

तेरा परमात्मा कहीं बाहर नहीं है, तेरा परमात्मा तेरे अंदर वैसे ही है जैसे पुष्पों में सुगंध होती है, अग्नि में ऊष्णता होती है, दूध में घी होता है, घी में चिकनाई होती है, चकमक पत्थर में अग्नि होती है, अंध पाषाण में-कनक पाषाण में सोना होता है। जैसे जल में शीतलता होती है, हवा में गतिशीलता होती है, सूर्य किरणों में प्रकाश होता है ऐसे ही प्रत्येक आत्मा में परमात्मा का वास होता है। किंतु वह परमात्मा ऐसे प्रकट नहीं होता, उसे प्रकट करने के लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है। जैसे बीज में वृक्ष छिपा हुआ है, वैसे ही आत्मा में परमात्मा छिपा हुआ है। बीज को तोड़ने से वृक्ष नहीं मिलता, ऐसे ही आत्मा का विघात करने से परमात्मा नहीं मिलता। बीज को उचित भूमि में बोने से वह अंकुरित होता है, भूमि उचित नहीं हो तो बीज अंकुरित नहीं हो सकता।

ऐसे ही हमारी आत्मा जब धर्म के क्षेत्र में बो दी जाती है किंतु धर्म का क्षेत्र भी शुद्ध हो। जैसे किसान खेत को कई बार जोत लेता है तब बीज को बोता है ऐसे ही हमें भी अपने चित्त की भूमि को, आत्मा की भूमि को जोतना है फिर उसमें धर्म का बीज बोना है अथवा हमें बाह्य से शुद्ध धर्म प्राप्त करना है व शुद्ध धर्म के क्षेत्र में अपनी आत्मा का समर्पण कर देना है। बीज जब भूमि को समर्पित होता है भूमि उसे स्थल व आश्रय देती है और अपनी नमी देती है, उर्वरा शक्ति देती है, बीज नमी को पाकर के फूल जाता है ज्यों-ज्यों फूलता जाता है त्यों-त्यों उसमें अंकुरित होने की शक्ति पैदा होती है और अंकुर निकल कर बाहर आ जाता है। पुनः उस अंकुर का एक हिस्सा जमीन में रहता है और दूसरा हिस्सा जमीन के बाहर ऊपर आ जाता है। एक मूल जड़ बन जाती है दूसरा तना। पुनः बीज (मूल) के सहारे से वृक्ष वृद्धि को प्राप्त होता है। वृद्धि दोनों ओर होती है, ज्यों-ज्यों वृद्धि नीचे होती है, त्यों-त्यों वृद्धि ऊपर भी होती जाती है और पुनः वह खाद आदि पदार्थों का संग्रह करता है पुष्प आते हैं पत्र आते हैं।

ऐसे ही हमारी आत्मा जब कहीं धर्म का क्षेत्र मिलता है, किन्हीं साधु का सान्निध्य मिला और आपकी आत्मा वहाँ जाकर के थोड़ी नम्र हुयी, आर्द्र हुयी आनंद आया क्योंकि जब भी बीज

गीला होता है तो फूल जाता है ऐसे ही धर्म का अमृत पाकर के आत्मा फूलने लगती है कषायें दबने लगती हैं। जब कषायें दबती हैं, आत्मा फूलती है तो पुनः आत्मा अंकुरित होती है। अंकुर का नाम है संयम, त्याग, तप, वैराग्य, भक्ति, पूजा, स्तुति। वही आपकी अंतरंग की मुद्रा का परिणाम है। वह श्रद्धा से युक्त आत्मा संयम रूप में अंकुरित होती है। यदि किसी बीज में अंकुरित होने की शक्ति नहीं है तो वह बीज उत्तम भूमि को प्राप्त करके भी उत्पन्न न हो सकेगा ऐसे ही जिस आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति नहीं है ऐसा अभव्य जीव देव, शास्त्र, गुरु के सान्निध्य को प्राप्त करके भी संयमी, धर्मात्मा न बन सकेगा, न परमात्मा के मार्ग पर चल सकेगा।

उस जीव की भी पात्रता होनी चाहिये। अभव्य कभी सीझते नहीं हैं। वे कभी शुद्ध होते नहीं हैं। पत्थर को यदि पानी में भी डाल दिया जाये तो भी मुलायम नहीं होता, कठोर ही रहता है। ऐसे ही जो श्रोता पत्थर की तरह है कितना भी उपदेश सुन ले तब भी वह द्रवीभूत नहीं होता आर्द्र नहीं होता उसका चित्त दया से गीला नहीं होता किंतु कुछ श्रोता कपास की तरह से होते हैं वह कपास यदि एक बूंद भी गिरती है तुरंत उसे खोज लेती है। कुछ श्रोता ऐसे होते हैं जो एक मिनट में ही भावुक हो जाते हैं और आँखें गीली हो जाती हैं। किंतु रूई की तरह से जो श्रोता हैं वह भी सार्थक नहीं है। रूई बहुत जल्दी भीग जाती है बहुत जल्दी पानी को सोख लेती है थोड़ी देर बाद कहीं रख दो पानी निचुड़ कर सब नीचे चला जाता है और रूई पुनः सूख जाती है।

ऐसे श्रोता भी अपना कल्याण करने में असमर्थ होते हैं मुनिराज की सभा में आये भावुक हो गये संकल्प कर लिया कि मुझे भी मुनि बनना है, मुझे गृह त्याग करना है। इस भावुकता में आकर जिनके परिणाम बहुत जल्दी निर्मल हो जाते हैं आर्द्र हो जाते हैं किंतु स्थिरता नहीं रह पाती उस नमी को दीर्घकाल तक बनाये रखना बहुत कठिन होता है। तो दूसरे प्रकार के श्रोता अपना कल्याण करने में असमर्थ होते हैं। तीसरे प्रकार के श्रोता होते हैं बालू की तरह से। बालू में पानी चला जाता है बालू बहुत जल्दी पानी को सोख लेती है किंतु पानी बालू में जाकर के भी बालू को मुलायम नहीं कर पाता। बालू में पानी पड़ा हुआ है हो सकता है 24 घंटे में भी न सूखे, 2-4 दिन में भी पानी न सूखे, ऊपर से बालू सूखती जा रही है नीचे पानी है। किंतु वह बालू कभी मिट्टी की तरह से मुलायम नहीं हो सकती, तो ऐसा श्रोता भी जो ज्ञान की बात को अपने हृदय में रखता तो है जल्दी भूलता भी नहीं है किंतु इसका उसके ऊपर कोई असर नहीं होता वह तो ऐसा है खीर दूसरों को खिलाता है खुद नहीं खाता। जानता है, स्वाध्याय करता है अच्छी-अच्छी व्याख्या कर सकता है समझता है किंतु उसका मन पिघलता नहीं है उसकी कषाय मंद होती नहीं है तो ऐसा श्रोता भी अपना कल्याण करने में असमर्थ होता है।

चौथे प्रकार के श्रोता हैं जो मिट्टी की तरह से होते हैं मिट्टी के ढेले को पानी में डुबाओ और जल्दी से निकाल लो तो वह पानी का ढेला इतनी जल्दी पानी ग्रहण नहीं कर पायेगा, वह

पानी का अवशोषण करता है शनैः-शनैः। एक-एक बूंद पानी गिर रहा है तो पानी अंदर चला जा रहा है। एक बार मिट्टी गीली हो गयी तो घंटे दो घंटे चार घंटे तक सूखेगी नहीं और चिकनी या काली मिट्टी है उसको एक बार गीला कर दिया, तो दो चार दिन भी पड़ी रहे तो सूखेगी नहीं। ऐसे ही जो श्रोता एक-एक शब्द को शनैः-शनैः ग्रहण करता है तो वह अपना कल्याण करने में समर्थ होता है। जिसमें इतनी कोमलता आ जाये कि अपनी आत्मा को जैसा रूप देना चाहे वैसे दे सकता है। मिट्टी गीली होती है नाना प्रकार के आकार दिये जा सकते हैं और जब सूख जाती है तो आकार नहीं दे सकते। ऐसे ही जब आत्मा धर्मामृत से ऋजु हो जाती है, कोमल हो जाती है तो धर्म का भाव उत्पन्न होता है और यदि अंदर से कषाय तीव्र हो तो पुनः वह अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ नहीं हो पाता।

तो यहाँ पर आचार्य महाराज बता रहे हैं कि अपनी आत्मा को परमात्मा बनाना है, ये आत्मा परमात्मा बनेगी किंतु वही आत्मा परमात्मा बनेगी जिसमें भव्यता है वह भी तब बनेगी जब आत्मा को परमात्मा बनाने के जितने भी साधन हैं, सामग्री हैं, निमित्त हैं सब मिल जायें, एक भी कम होगा तो नहीं। यदि आपके पास कार के सब पार्ट डिसेंबल हैं तो गाड़ी में बैठ नहीं सकते उन्हें एसेंबल करके सेट करके आप गाड़ी चला सकते हैं। ऐसे ही आत्मकल्याण के लिये जो-जो साधन सामग्री है सब चाहिये। किन्तु परमात्मा बनने के लिये हमारी आत्मा को स्वयं संकल्प लेना पड़ेगा, संकल्प के साथ-साथ जो साधन आवश्यक हैं उसकी प्राप्ति करना भी जरूरी है यदि एक भी चीज कम रह गयी तो आत्मा परमात्मा न बन सकेगी। आज देखते हैं परमात्मा क्या है ? कैसे मिलेगा ? कैसे प्राप्त होगा ? वह परमात्मा हमारी ही आत्मा की शुद्ध दशा है, प्रत्येक जीव की शुद्ध दशा परमात्मा कहलाती है उसके बारे में आचार्य महोदय 13वें काव्य के माध्यम से कह रहे हैं-

यो दर्शनज्ञान सुख स्वभावः, समस्त संसार-विकार बाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः स देव देवो हृदये ममास्ताम्॥१३॥

जो अंतरहित सुबोध दर्शन और सौख्य स्वरूप है,
जो सब विकारों से रहित जिससे अलग भवकूप है।
मिलता बिना न समाधि जो परमात्म जिसका नाम है,
देवेश वह उर आ बसे मेरा खुला हृदधाम है॥13॥

अन्वयार्थ-(**यः**) जो (**दर्शनज्ञानसुखस्वभावः**) अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख रूप स्वभाव वाले हैं, (**समस्तसंसारविकार बाह्यः**) समस्त संसार के विकल्प से रहित हैं, (**समाधिगम्यः**) समाधि के गम्य हैं (**च**) और (**परमात्मसंज्ञः**) परमात्मा इस नाम से प्रसिद्ध

हैं, ऐसे (**सः**) वह (**देवदेवः**) देवाधिदेव अरिहन्त भगवान् (**मम**) मेरे (**हृदये**) हृदय में (**आस्ताम्**) विराजमान होवें।

हमारी और आपकी आत्मा का स्वभाव वास्तव में जानना देखना है, देखो और जानो, कोई भी प्रतिकूलता नहीं संसार के समस्त पदार्थों को जानो और देखो। कर्म से बंधोगे नहीं, यदि उस पदार्थ के प्रति राग और द्वेष की प्रवृत्ति की तो कर्म के बंध से बचोगे नहीं।

बंधना भी हमारे ऊपर है और न बंधना भी हमारे ऊपर है। संसार के कोई भी द्रव्य न हमें बांधते हैं, न कोई भी द्रव्य हमें मुक्त करते हैं, हमारी ही प्रवृत्ति कभी संसार संवर्धनी होती है और हमारी ही प्रवृत्ति कभी संसार विमोचिनी होती है। तो यहाँ बताया-परमात्मा वह है जो केवल ज्ञाता दृष्टा बन गया, जो सर्वदर्शी है और सर्वज्ञ है जो पूर्ण रूप से आत्मदर्शी है, आत्मज्ञ है जो आत्मा को सम्पूर्ण रूप से जानता है, प्रत्येक द्रव्य गुण और पर्याय के साथ पूर्ण रूप से देखता है, सबको युगपत् जान रहा है सभी चराचर पदार्थ उसके ज्ञान में झलक रहे हैं फिर भी अपनी आत्मा में लीन है, जो पर में लीन नहीं होता। जो पर में लीन हुआ तो विलीन हो गया नष्ट हो गया, उसने अपने अस्तित्व को जाना ही नहीं जो पर को छोड़कर के अपनी आत्मा में लीन हो गया निःसंदेह संसार के कर्मों से विलीन हो गया।

तो यहाँ कह रहे हैं-जो ज्ञाता दृष्टा है। यदि आपने ज्ञाता-दृष्टा बनने के अलावा कुछ और करने का दुःसाहस किया तो समझो या तो तुम्हें मार्ग में चलते समय फूल मिलेंगे या शूल। खड़े रहोगे देखते रहोगे तो कोई परेशानी नहीं। नदी किनारे बैठकर के समुद्र की लहरें जानो और देखो इससे भीगोगे नहीं। ऐसे ही संसार में रहकर के संसार को देखो और जानो तो कुछ बिगड़ने वाला नहीं है, संसार आपका बाल-बांका नहीं कर सकता। किंतु यदि आपने संसार में थोड़ी रुचि दिखाई, राग-द्वेष या उपेक्षा की तो संसार चिपक जाता है, संसार में आप फँस जाओगे। संसार में कुछ करना नहीं है, करोगे तो डूब जाओगे। कोई व्यक्ति नदी में डूब जाये अगर अच्छा तैराक है तो अपने हाथ पैर चलाकर आ सकता है नहीं तो हाथ-पाँव चलाने से डूब जाएगा, यदि अपने शरीर को छोड़, हाथ पैर छोड़ मुर्दा की तरह से पड़ा रहेगा तो समुद्र की लहरें उसे डुबा न पायेंगी, वह तैरता हुआ किनारे तक आ जाएगा। हम भी ज्ञाता-दृष्टा बनकर बैठ जायें तो संसार हमें डुबा नहीं सकता और यदि ज्ञाता-दृष्टा बनकर नहीं बैठ पायेंगे तो संसार का कोई भी प्राणी हमें उबार नहीं सकता।

दूसरी बात यहाँ कह रहे हैं-जो परमात्मा है वह सुख से युक्त है उसके पास किंचित् भी दुःख नहीं है संसारी प्राणी वे हैं जिनके पास दुःख है, जिनके पास किंचित् भी सच्चा सुख नहीं है। किंतु जिसका स्वभाव है सुख का भोग करना, अनंतशक्ति का भोग करना, ऐसा वह परमात्मा है और

कह रहे हैं-**समस्त संसार विकार बाह्यः**-परमात्मा वह है जो समस्त प्रकार के विकारों से बहिर्भूत है, रहित है। जिसमें एक भी विकार शेष है तब तक वह परमात्मा नहीं है। वह आत्मा दूषित है, परमात्मा कभी दूषित होता नहीं, जो आत्मा निर्दोष है वही वास्तव में परमात्मा हो सकती है, परमात्मा में जन्म, मरण, रोना, सोना, उठना, बैठना, कोई भी क्रिया प्रवृत्ति करना, क्रोधादि कषाय करना ये सभी विकारी भाव नहीं पाये जाते। अरिहन्त भगवान् परमात्मा हैं उनमें क्षुधा-तृषादि 18 दोष नहीं होते।

परमात्मा वह है जिसे भूख नहीं लगती, जिसे प्यास नहीं लगती, जिसे भय नहीं है इसलिये न उसके पास अस्त्र है, न शस्त्र है, न वस्त्र है। परमात्मा वह है जो किसी पर रोष नहीं करता, कुपित नहीं होता। परमात्मा वह है जिसमें किसी प्रकार का राग नहीं है, द्वेष नहीं है जिसे किसी से मोह नहीं है, जिसे किसी प्रकार की चिंता नहीं है। परमात्मा वह है जो कभी बूढ़ा नहीं होता, जिसे कभी रोग नहीं होता, पसीना नहीं आता, जो कभी खेद खिन्न नहीं होता। परमात्मा वह है जिसे किसी भी प्रकार का विस्मय या आश्चर्य नहीं होता। परमात्मा वह है जिसे कभी नींद नहीं आती, जिसका कभी जन्म नहीं होता, जिसमें उद्वेग नहीं होता। ये दोष जिसमें नहीं होते वह परमात्मा है।

ये विकार हैं और विकार आत्मा को परमात्मा नहीं बनने देते। परमात्मा व संसारी आत्मा में ये ही अंतर है, संसारी आत्मा विकारों से सहित है, परमात्मा विकारों से रहित है। संसारी आत्मा कर्मों से सहित है, परमात्मा कर्मों से रहित है। संसारी आत्मा विभाव पर्याय से युक्त है और परमात्मा स्वभाव पर्याय से युक्त है। संसारी आत्मा दोषों का पुंज है और परमात्मा गुणों का पुंज है, इसीलिये परमात्मा वह है जो समस्त संसार से रहित है और संसार की प्रत्येक दशा से रहित है। विकार भाव जो संसारी में संभव हैं, उन सब से रहित है। उन विकारों को जला दिया है।

समाधिगम्यः परमात्म संज्ञः-परमात्मा वह है जो समाधि के द्वारा प्राप्त किया जाता है। हर वस्तु को प्राप्त करने की अपनी अलग-अलग विधि होती है। यदि अनाज प्राप्त करना है तो खेती करनी पड़ेगी तब प्राप्त होता है, यदि दूध प्राप्त करना है तो गाय-भैंस पालना पड़ता है, उसे अच्छा चारा-घास देकर दूध प्राप्त किया जा सकता है। किसी वृक्ष का फल प्राप्त करना है तो उस वृक्ष का जल, खाद आदि से सिंचन करते हुये फल प्राप्त होता है। हर चीज का कोई तरीका है तो परमात्मा कैसे प्राप्त होता है-वह समाधि के द्वारा जाना जाता है, बिना समाधि के परमात्मा को जाना-देखा नहीं जाता और समाधि की प्राप्ति होती है सामायिक से। बिना सामायिक के परमात्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता, बिना सामायिक के परमात्मा को देखा नहीं जा सकता। जिसकी दृष्टि कमजोर हो गयी है, ऐसे व्यक्ति को बिना चश्मे के दिखता नहीं है उसी प्रकार सामायिक का चश्मा जब तक नहीं लगायेंगे तब तक परमात्मा दिखेगा नहीं।

जब भी सामायिक में बैठेंगे तभी परमात्मा को देखा जा सकता है। जब-जब वह परमात्मा को देख रहा है तब-तब उसकी सामायिक चल रही है। बिना परमात्मा को देखे सामायिक नहीं, बिना सामायिक के परमात्मा मिलता नहीं। तो वह परमात्मा समाधिगम्य है समाधि के द्वारा जाना जाता है देखा जाता है, अनुभव में आता है। आगे कहा 'परमात्म संज्ञः' उसी की संज्ञा परमात्मा की संज्ञा है जो दर्शन सुख ज्ञान वीर्य आदि स्वभाव से युक्त है, जो संसार के विकारी भावों से, वैभाविक परिणामों से रहित है और जो समाधि के द्वारा ही जाना जाता है अन्य प्रकार से नहीं जाना जाता वही परमात्मा है। परम वाग्मी, नैयायिक आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी आप्त का स्वरूप बताते हुए कहते हैं-

आप्तेनोच्छिन्न दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिनः।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥५॥रत्न.श्रा.

आप्त वह है जिसने समस्त दोषों को नष्ट कर दिया, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं, आगम की देशना देने वाले हैं हितोपदेशी हैं। नियम से उन्हें ही परमात्मा होना चाहिये अन्यथा आप्तपना सिद्ध नहीं होता। तो परमात्मा को देखने का एक ही उपाय है जो सर्वज्ञ है हितोपदेशी है, वीतरागी है इसके अलावा परमात्मा होता ही नहीं।

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते, सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया॥

जिसने रागद्वेष को जीत लिया वह वीतरागी बन गया, सब जग जान लिया अर्थात् तीनों लोक और अलोकाकाश को जान लिया देख लिया, वह सर्वज्ञ हो गया और सब जीवों को उपदेश देने से हितोपदेशी हो गया वह सच्चा देव है।

आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा देव कौन है-

अट्ठारस दोस-वज्जिये देवे

अट्ठारह दोषों से रहित सच्चा देव है। महानुभाव ! ये सच्चे देव की बात बताई। उसे ही परमात्मा की संज्ञा दे सकते हैं। चलो माना कि परमात्मा को जान लिया, मान लिया, पहचान लिया, अब क्या करें तब कह रहे हैं-ऐसा परमात्मा-**स देवदेवो हृदये ममास्ताम्** वह देवों का भी देव मेरे हृदय में विद्यमान रहे, केवल जानना पर्याप्त नहीं है, केवल मानना पर्याप्त नहीं है केवल पहचानना व देख लेना पर्याप्त नहीं है अपितु उस परमात्मा को अपनी आत्मा में विराजमान करना है इससे उस आत्मा के विकार न रहेंगे और परमात्मा की संगति में ये आत्मा भी परमात्मा हो जायेगा। ऐसा हो सकता है क्या कि ये आत्मा परमात्मा की संगति करे और परमात्मा हो जाये? हाँ हो सकता

है। कैसे हो सकता है ? किसी कुण्ड में अग्नि जल रही थी, लकड़ी बाहर रखी है, जब तक कुण्ड की अग्नि और लकड़ी अलग-अलग है तब तक दोनों अलग हैं। लकड़ी कुंड में पड़ जाये तो कोयलों के बीच में जो लकड़ी चली गयी वह भी कोयला बन गयी। ऐसे ही परमात्मा के बीच में तुम्हारी-हमारी आत्मा चली जाये तो वह भी परमात्मा की तरह से शुद्ध बन जायेगी, उसकी संगति से दोष नष्ट होते हैं।

तो कौन से देव को हृदय में विराजमान करने की संज्ञा दी। जिसकी परमात्म संज्ञा है। पतिदेव नहीं। कहीं कोई नारी कहे कि मैं अपने पति को ही देव मानती हूँ और अपने हृदय में स्थापित करती हूँ। ये लोक धर्म हो सकता है किन्तु यह अध्यात्म धर्म नहीं है, आत्मधर्म नहीं है यहाँ तो देव वह है जो परमात्म संज्ञा को प्राप्त है उसकी विशेषता दे दी।

तरुदेव-कोई वृक्ष को देवता मानते हैं, कूपदेव, शिलादेव या सूप और छलनी को देव माने तो उनकी यहाँ बात नहीं की। या देवगति के देव नहीं, व्यंतर, भवनवासी, ज्योतिषी आदि की भी बात नहीं की, अदेव की बात नहीं, कुदेव की बात नहीं, देव की बात नहीं, सम्यग्दृष्टि देव की भी बात नहीं, कोई यक्ष-यक्षणी या क्षेत्रपालादि की भी बात नहीं। यहाँ कहा है-'स देवदेवो' देवों का भी देव, देवाधिदेव, अरिहंत और सिद्ध देव वे देव मेरे हृदय में आकर के निवास करें, जायें नहीं।

किसी वस्तु को पाना अलग है और चिरकाल तक स्थापित करना अलग चीज है। चुम्बक के माध्यम से ऑलपिन आप खींच लेते हैं और पुनः अगर चुम्बक को अलग कर दिया तो ऑलपिन कहीं और भी जा सकती है किंतु चुंबक से चिपकी ऑलपिन कभी एक दूसरे से अलग नहीं हो रही, ऐसे ही परमात्मा हृदय में विद्यमान हो जाये और वह कब विद्यमान होगा-हृदय जब हृद की तरह से विशाल और उदार हो जाये। हृद अर्थात् तालाब। सूखे तालाब में कमल नहीं खिलता। कमल जल युक्त तालाब में खिलता है, उस कमल पर ही भ्रमर आकर निवास कर सकता है, सूखे तालाब में न कमल खिलेगा और न भ्रमर आयेगा।

हृदय रूपी तालाब जिसमें श्रद्धा और भक्ति का नीर हो, जिसमें आपका चित्त कमल की तरह पवित्र हो जाये तो परमात्मा का वास हो सकता है। आपका हृदय श्रद्धा से भरा हो, समर्पण से युक्त हो, भक्ति से ओत-प्रोत हो। यदि हृदय में श्रद्धा की ज्योति नहीं जल रही है तो पुनः परमात्मा रूपी आपका इष्ट नहीं आ सकता। दीपक (ज्योति) जलता है तो परवाने आते हैं तुम्हारी श्रद्धा बलवती होगी तो तुम्हारे हृदय में परमात्मा भी आ जायेगा। जिस परमात्मा की श्रद्धा करते हो वह परमात्मा तुम्हारे हृदय में आयेगा जिसकी श्रद्धा नहीं करते हो वो कैसे आ जायेगा। यदि मुद्रा में भोग है तो योग कैसे आयेगा, श्रद्धा पाप की है तो भाव जाप का क्यों आयेगा, धन की है तो धर्म कैसे आयेगा।

महानुभाव ! यहाँ कह रहे हैं कि वह देवाधिदेव मेरे हृदय में निवास करें, और निवास तो तब करेंगे जब हृदय में आयें और आने के लिये अपनी मन की वेदी को झाड़ करके, स्वच्छ करके प्रतिष्ठा कर लो। परमात्मा को अपने चित्त रूपी पाषाण की शिला पर उकेर लिया तो परमात्मा फिर कहीं जा नहीं सकेगा। परमात्मा को बुलाने के लिए तुम्हारा हृदय खुला भी तो होना चाहिये यदि हृदय के कपाट बंद कर लिये अंदर से पुकार रहे हो कि हे भगवान्! आओ, तो परमात्मा तो क्या कमरे में बंद होकर के अंदर से कुंडी लगाकर के किसी को बुलाओगे तो कोई अंदर कैसे आ पायेगा। पहले दरवाजा तो खोलो, इसलिये दरवाजा भी खुला होना चाहिये, बुलाना भी चाहिये। जिस व्यक्ति को बुला रहे हो उसके अनुकूल स्थान भी होना चाहिये यदि पहले से ही तुम्हारा चित्त भरा हुआ है तो परमात्मा क्यों आयेगा परमात्मा तो अकेला रहता है संसार के कचरे के साथ नहीं रह सकता। विकारों को निकालोगे तो परमात्मा आ जायेगा। एक म्यान में जैसे दो खड्ग नहीं आ सकते, ऐसे ही संसार का व मोक्ष का काम एक साथ नहीं हो सकता। इसलिये परमात्मा के लिये भी शुद्ध हृदय की आवश्यकता है। वह परमात्मा बिना समाधि के नहीं आ सकता, बिना सामायिक के नहीं आ सकता।

तो संक्षेप में देखा कि वह देवों का भी देव अरिहंत सिद्ध परमात्मा हमारे चित्त में विद्यमान हों ऐसी यहाँ आचार्य महाराज ने भावना भायी है।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

आत्म दृष्टा बने सृष्टा

परमात्मा की स्तुति परिणामों को निर्मल करने वाली होती है। जिनेन्द्र भगवान् का दर्शन चित्त के विकारों का प्रक्षालन करने वाला होता है, जिनेन्द्र भगवान् का नाम स्मरण भी चेतना के प्रदेशों में शक्ति का संचार करने वाला होता है। जिनेन्द्र भगवान् का चिंतन, दर्शन, मनन, अवलोकन, भक्ति, पूजन इत्यादि ये सभी आत्मा को परमात्मा बनाने के मार्ग हैं, पगडंडी हैं।

निषूदते यो भव दुःख जालं, निरीक्षते यो जगदन्तरालम्।
योन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः, स देव देवो हृदये ममास्ताम्॥१४॥

जो काट देता है जगत के दुःख निर्मित जाल को,
जो देख लेता है जगत की भीतरी भी चाल को।
योगी जिसे हैं देख सकते अन्तरात्मा जो स्वयं,
देवेश वह मेरे हृदय पुर का निवासी हो स्वयं॥14॥

अन्वयार्थ-(**यः**) जिसने (**भवदुःखजालं**) संसार के दुःखरूपी जाल को (**निषूदते**) नष्ट कर दिया है (**यः**) जो/जिन्होंने (**जगदन्तरालम्**) संसार के अन्तराल को (**निरीक्षते**) देखते हैं/देख लिया है, (**यः**) जो (**अन्तर्गतः**) अन्तःकरण में स्थित हैं तथा जिनका (**योगि-निरीक्षणीयः**) मुनिराजों के द्वारा अनुभव किया जाता है ऐसे (**स देवदेवः**) वे सर्वज्ञ भगवान् (**मम**) मेरे (**हृदये**) हृदय में (**आस्ताम्**) विराजमान होवें।

निषूदते अर्थात् नष्ट कर देता है। षूदते माने उत्पन्न होने के अर्थ में, निषूदते माने निषेध के अर्थ में, संसार के दुःख रूपी जाल को काटने में, नष्ट करने में, अनुत्पन्न करने में जो समर्थ है, क्योंकि हम और आप सभी कर्मों को उत्पन्न कर रहे हैं, कर्मों का फल है संसार। संसारी प्राणी मकड़ी की तरह से संसार के जाल को बुनता चला जाता है और उसी में फँसता जा रहा है। रेशम का कीड़ा अपने मुँह से लार निकालता जाता है और फँसकर के मृत्यु को प्राप्त होता है ऐसे ही संसारी प्राणी भोगों में लिप्त होकर के क्रोध, मान, माया, लोभ का पोषण करते हुये, इन्द्रिय विषयों में आसक्त, पापों में रत रहकर अपने जीवन का अंत कर देता है और जब उसके जीवन में अंतिम क्षण आता है तब कभी-कभी उसे अहसास होता है मैंने अपना जीवन ऐसे ही व्यतीत कर दिया। किंतु वह परमात्मा जिसने अपने संसार के जाल को काट दिया, जिसने जाल नहीं बुना, मनुष्य पर्याय में जन्म लिया, हमारी आपकी तरह से किसी माता-पिता के यहाँ जन्म लिया, जन्म लेकर संसार के राग-रंग में नहीं फँसा, जन्म लेकर के संसार को काटने में लग गया, राग को छोड़ने में लग गया, गृह त्याग किया संयम को अपनाया और वीतरागता तक पहुँच गये उन्होंने अपने संसार को सुखा दिया। जब तक राग-द्वेष का जल और विषय कषायों की धूल रहती है तब तक संसार

का दलदल रहता है। किंतु जिसने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के प्रचंड सूर्य की उष्णता से संसार को ही सुखा दिया, संसार का जाल बनाया ही नहीं जो जाल संस्कार वश अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा था उस जाल को भी काटने में लग गया ऐसा वह परमात्मा। दूसरी बात कह रहे हैं-

निरीक्षते यो जगदन्तरालम्-वह परमात्मा जो संसार के प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक गुण और प्रत्येक पर्याय के बारे में जानने वाला है। प्रत्येक समय की पर्याय को जानने वाला है एक-एक द्रव्य का कौन सा परिणमन हो रहा है, वह सब जानने वाला है। वह परमात्मा संसार के बाहर की ही नहीं भीतरी चाल को भी देखने वाला है। आप और हम बाह्य चर्म चक्षुओं से देखते हैं तो बाह्य जगत को देखते हैं संसार में हमें क्या दिखाई दे रहा है? संसार में पुद्गल दिखाई दे रहा है-ये मकान, ये बाजार, ये पहाड़, वृक्ष, नदी, मनुष्य, पशु पक्षी आदि सबके शरीर दिखाई देते हैं, केवल पुद्गल ही पुद्गल दिखाई दे रहा है या पुद्गल की पर्याय नष्ट व उत्पन्न होती दिखाई दे रही है, क्या आत्मा किसी को दिखाई दे रही है ? केवल आत्मा का एक आभास है कि जीव जन्म लेता है, बढ़ता चला जाता है, आत्मा निकल जाती है, शरीर नष्ट हो जाता है मिट्टी में मिल जाता है, फिर दूसरा शरीर प्राप्त करता है फिर बढ़ता चला जाता है, वह नष्ट हो जाता है फिर नया शरीर प्राप्त करता है, ऐसे ही चक्र चल रहा है परन्तु आत्मा दिखाई नहीं दे रही, अधर्म द्रव्य दिखाई नहीं दे रहा, कालद्रव्य दिखाई नहीं दे रहा, अनुमान से जान रहे हैं।

किन्तु वह परमात्मा सब द्रव्यों को जानता है देखता है, वह परमात्मा जो आत्मा के एक-एक द्रव्य गुण पर्यायों को जानता है, जो पुद्गल के परमाणु के बारे में भी जानता है कि ये परमाणु अनंतकाल पहले क्या रहा, आगे-आगे इसकी क्या दशा और पर्याय रहेगी, ये आत्मा अनंत काल पहले कहाँ से कौन-कौन सी पर्यायों को प्राप्त करती हुयी यहाँ तक आयी है। आगे कौन-कौन सी पर्याय प्राप्त करेगी और एक समय में कौन सी पर्याय होगी, किस समय कौन सा परिणमन होगा इस बात को भी जो जानने वाला है। केवली सर्वज्ञ वास्तव में वही परमात्मा हो सकता है। तो परमात्मा की पहली विशेषता बतायी जिसने संसार के जाल को काट दिया, दूसरी विशेषता बतायी जो सर्वज्ञ है। तीसरी बात कह रहे हैं-

योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः-जो अपनी आत्मा में 'अन्तर्गतः' अर्थात् लीन हो गया। संसार के प्राणी तो बाह्य पर्याय में आसक्त होते हैं किंतु वास्तव में संसार में परमात्मा ही ऐसा है जो अपने में लीन हो गया। आत्मा में लीन होकर ही परमात्मा को पाया जा सकता है अर्थात् जो सदैव यानि अनंतकाल के लिए अपने आत्मा में लीन हो गया वह परमात्मा है।

एक बार की बात है जब पांडव व कौरव आश्रम में पढ़ते थे। उनके गुरुजी एक दिन उन सबको जंगल में धनुष विद्या सिखाने के लिये ले गये। गुरु जी ने उन लोगों से कहा कि देखो!

मैंने वृक्ष पर एक लाल मिर्च को बांधा है तुम सभी उस पर निशाना लगाना। सभी शिष्य धनुष-बाण लेकर निशाना लगाने के लिये तैयार हो गये। किंतु उन्हें मिर्च दिखाई नहीं दे रही थी। गुरुजी ने पूछा कि तुम्हें क्या दिख रहा है? तो सभी ने कहा-पत्तियाँ आदि नजर आ रही हैं। उसी समय गुरुजी ने अर्जुन से पूछा-अर्जुन ! तुम्हें वृक्ष दिख रहा है? तो अर्जुन ने कहा नहीं। डाल दिख रही है? बोला नहीं। पत्ते दिख रहे हैं? तो वह बोला नहीं। तो फिर तुम्हें क्या दिख रहा है? वह बोला 'गुरुजी ! मुझे केवल लाल मिर्च दिख रही है। इसी प्रकार हमें भी सभी बाह्य पदार्थों से दृष्टि हटाकर केवल एक आत्म स्वरूप की ओर दृष्टि रखना चाहिये।

जब योगी नेत्र बंद कर मन-वचन-काय की समस्त क्रियाओं को रोककर अपनी आत्मा का स्वयं अवलोकन करते हैं, तब उन्हें अपने आप ही आत्मा की सिद्धि हो जाती है। तो जो अपनी अन्तरात्मा में अनंतकाल के लिये लीन हो गया वह है सिद्ध परमात्मा। शरीर सहित वह लीन हो गया तो अरिहंत परमात्मा, जो कभी-कभी अपनी आत्मा में लीन होता है वह आचार्य, उपाध्याय, साधु परमात्मा। वह भी भगवान् है। वह कैसे अपनी आत्मा में जाता है, जैसे कोई बालक जब खेलते हैं, छिपा-छिपी के खेल में अंदर छिपकर ढूंकता है, खिड़की में से झांकना अलग है, झांकना किसी चीज में लगातार होता है जैसे कुएं में झांकना किन्तु ढूंकना शब्द आचार्यों ने दिया -ढुक्'। वह होता है क्षण भर का थोड़ा ढूंका फिर सिर पीछे कर लिया, फिर देखा फिर पीछे हो गये, ये ढूंकना होता है। ऐसे ही आचार्य उपाध्याय साधु अपनी आत्मा में थोड़ा ढूँक लिया, एक बार आत्मा में देखा फिर बाहर में देखने लगे। तो आचार्य उपाध्याय साधु अपनी आत्मा में एक बार ढूंकते तो हैं। ढूंक लो मतलब एक बार देख लो फिर अपने काम में लग जाओ।

जैसे कोई माँ कुएं पर पानी भरने गयी बेटे से कह गयी, बेटा तू अपना काम तो कर रहा है, मेरा ये सामान यहाँ रखा है कोई कुत्ता, बिल्ली, कौवा, बन्दर ना आये इसको देखते रहना। अर्थात् अपने काम को भी करते रहना और बार-बार बीच में ढूंकते रहना कि कोई ये सामान खराब न कर जाये। तो वह बालक बीच-बीच में ढूंक रहा है काम तो अपना कर रहा है, करते-करते एक निगाह उठाई, सेकण्डों के लिये, फिर अपने काम में लग गया। ऐसे ही आचार्य उपाध्याय साधु 48 मिनट में कम से कम एक बार, ज्यादा से ज्यादा कितनी भी बार अपनी आत्मा में ढूंक लेते हैं कि हमारी आत्मा का ये वैभव है, हमारी आत्मा का जो गुण सम्पदा रूपी धन है उसे देख लेते हैं कि नष्ट तो नहीं हो रहा। और इतना ही नहीं कि आत्मा आत्मा के रूप में अपितु शक्तिरूपेण परमात्मा के रूप में वह दिखाई देती है।

तो जो अपनी आत्मा में लीन हो गया है शाश्वत काल के लिये वह परमात्मा है। आगे कहा-**'योगिनिरीक्षणीयः'**-उस परमात्मा को जो केवल योगियों के द्वारा ही देखने के योग्य है

अन्य किसी के देखने में नहीं आता। जैसे-अणु परमाणु बहुत छोटी सी सूक्ष्म वस्तु है सूक्ष्मदर्शी यंत्र के बिना देखने में नहीं आ रहा, जिसके पास सूक्ष्मदर्शी यंत्र है वही देख सकता है या ज्यादा नंबर का लेंस हो तो वह देख सकता है। ऐसे ही योगी के पास ऐसा सूक्ष्मदर्शी यंत्र आ गया जिसमें परमात्मा को देख सकता है। योगी के पास एक ऐसा लेंस है रत्नत्रय का लेंस जिसके माध्यम से अपनी आत्मा में भी परमात्मा देख लेता है, जो परमात्मा बन गये उन्हें भी देख लेता है और जो नहीं बने हैं, शक्तिरूपेण परमात्मा हैं उन्हें भी देख लेता है। यह केवल योगी ही देख सकता है।

यहाँ कह रहे हैं-पहली बात तो अन्तरंग में चला गया अब बाहर निकल कर आने वाला नहीं। योगी ने भी अपने अंगों को सिकोड़ लिया आँख बंद करके हाथ पर हाथ, पैर पर पैर रखकर के शांति से बैठ गया, अपने अंदर डूब गया। तो 'अन्तर्गता:' वह परमात्मा वास्तव में अपने अंदर में चला गया। कछुआ बीच-बीच में अपनी आँखें निकाल कर बाहर देख लेता है फिर अंदर हो जाता है ऐसे योगी कश्यप की तरह से इन्द्रियों का संकोच करने में समर्थ होते हैं किन्तु जो वास्तव में अनंतकाल के लिये अंदर में डूब गया वह परमात्मा है। उस डूबे हुये को वही जान सकता है जो पानी के अंदर तो नहीं गया किन्तु किनारे पर बैठकर के, पानी में उतर करके, थोड़ी दृष्टि उसने नीचे फैलाई पानी में कौन-कौन छिप कर बैठा है उसे जान सकता है। सिर्फ किनारे पर बैठकर कौन व्यक्ति जान सकता है कि कौन छिपा है।

ऐसे ही योगी जो अपनी आत्मा में ढूंक लेता है वही परमात्मा को देख लेता है, जो योगी अपनी आत्मा में नहीं देख पाता ऐसा योगी परमात्मा को भी नहीं देख पाता। इसीलिये कहा-योगनिरीक्षणीय: परमात्मा कैसा है? योगियों के द्वारा जानने के योग्य है। परमात्मा को भोगी व रोगी नहीं जान सकता। रोगी परमात्मा को पुकारता जरूर है किंतु परमात्मा का अनुभव नहीं करता। भोगी-परमात्मा को पुकारता नहीं यदि सामने आ भी जाये तो परमात्मा को परमात्मा मानता भी नहीं। रोगी परमात्मा को बुलाता है अपने स्वार्थ के कारण मुझे दु:ख कष्ट हो रहा है मेरे दु:ख दूर कर दो। भोगी कहता है मेरे पास आ नहीं जाना, क्योंकि परमात्मा के आने से भोग में बाधा आती है क्योंकि व्यक्ति कैसा भी नास्तिक हो वह परमात्मा की तस्वीर रखकर, चित्र लगाकर कैसे भोग भोगेगा। परमात्मा के सामने कैसे पाप करेगा, इसलिये भोगी परमात्मा को बुलाना ही नहीं चाहता, भोगी परमात्मा के पास जाना भी नहीं चाहता यदि परमात्मा उसके पास आ जाये तो कहेगा मेरे भोग में अन्तराय आ गया। किंतु वह भोगी परमात्मा की कृपादृष्टि चाहता है कि मेरे भोगों में कमी न आये। वह कहता है चाहे आप कहीं भी रहो बस मेरी भोग सामग्री में कमी न आये किंतु मेरे पास आना नहीं कभी भी।

रोगी कहता है अरे ! मेरे पास अब तो आ जाओ कहाँ पहुँच गये मेरी सुनते क्यों नहीं, तो रोगी बुलाता है क्योंकि वह भोग भोग नहीं सकता उसके रोग, उसकी पीड़ा, उसकी बाधायें उसके

शरीर को कष्ट दे रही हैं जिसका अनुभव आत्मा में हो रहा है। इसलिये परमात्मा को न भोगी जान सकता है क्योंकि भोग में लीन है न रोगी जान सकता है वह तो बस इतना जानता है कि संसार में यदि कोई शक्ति है जो मेरे रोग को दूर कर सकती है वह है परमात्मा। भोगी कहता है आने की भी आवश्यकता नहीं बस अपनी माया को मेरे ऊपर से समेटना मत। एक योगी ही होता है जो परमात्मा को जानता है, पहचानता है वह कहता है कि वह परमात्मा मेरे हृदय में, चित्त में, मेरे रोम-रोम में ऐसे विद्यमान हो जाए जैसे दूध में घी रहता है। यदि ऐसे परमात्मा को तुमने विद्यमान किया है तो निःसंदेह तुम्हारे आत्मा के एक-एक प्रदेश से परमात्मा की अनुभूति होगी। इस चौदहवें काव्य में 4 बात मुख्य रूप से देखी-जो कर्म को नष्ट करने वाला है, जो द्रव्य, गुण, पर्याय सबको जानने वाला है, तीसरी बात जो अपनी आत्मा में लीन हो गया और चौथी बात जो योगियों के द्वारा जानने के योग्य है ऐसा परमात्मा मेरे हृदय में लीन हो।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

जिणभत्तीए णियमा, वियारिपज्जयं णट्ठदि भव्वाण।
पागदिगं पज्जयं च, लहंति ते सुद्ध-सिद्धाणं॥

अर्थ:-जिनभक्ति द्वारा नियम से भव्यों की विकारी पर्याय नष्ट हो जाती है और वे भव्य शुद्ध सिद्धों की प्राकृतिक पर्याय को प्राप्त करते हैं।

-जिणवर-थोत्तं
(आचार्य श्री वसुनंदी मुनि)

मेरे मन मंदिर में आन

विमुक्ति मार्ग प्रतिपादको यो, यो जन्ममृत्यु व्यसनाद्यतीतः।
त्रिलोक लोकी विकलोऽकलंकः, स देव देवो हृदये ममास्ताम्॥१५॥

कैवल्य के सन्मार्ग को, दिखला रहा है जो हमें,
जो जन्म के या मरण के पड़ता न दुःख सन्दोह में।
अशरीरी है त्रैलोक्य दर्शी, दूर है कुकलंक से,
देवेश वह आकर लगे, मेरे हृदय के अंक से॥15॥

अन्वयार्थ-(**यः**) जो (**विमुक्तिमार्गप्रतिपादकः**) मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हैं, (**यः**) जो (**जन्ममृत्युव्यसनात्**) जन्म और मृत्युरूपी दुःखों से (**अतीतः**) रहित हैं, (**यः**) जो (**विकलः**) शरीर रहित हैं, [च=और] (**अकलंकः**) कलंक से रहित हैं तथा (**त्रिलोकलोकी**) तीनों लोकों का अवलोकन करते हैं ऐसे (**सः**) वह (**देवदेवः**) अरिहन्त भगवान् (**मम**) मेरे (**हृदये**) हृदय में (**आस्ताम्**) विराजमान होवें।

यहाँ पर पुनः आचार्य अमित गति स्वामी प्रभु परमात्मा को पुकार रहे हैं, जैसे कोई भी वियोगी अपने इष्ट-आराध्य को बार-बार पुकारता है कहता है हे प्रभु ! तुम कब आओगे, कब दर्शन दोगे? बार-बार मीरा ने अपने आराध्य को पुकारा, शबरी ने अपने राम को, चन्दनबाला ने अपने महावीर को, धनंजय ने अपने उपास्य को, राजुल ने अपने आराध्य को सबने अपने-अपने आराध्य को पुकारा है। एक बार नहीं कई-कई बार पुकारा है, तुम कब दर्शन दोगे, कब आओगे और आप लोग भी जो भक्ति में डूबे हुये हैं तो आपको भी अपने इष्ट आराध्य की याद आती है, रात हो चाहे दिन बार-बार आप पढ़ते हैं-''महावीर स्वामी नयन पथगामी भवतु मे''। हे महावीर स्वामी मेरे नयनों के पथगामी हो, हे प्रभु मेरे नयनों में बस जाओ ! महिलायें गाती हैं-मोहे नींद न आवे रतियन में, चन्दा प्रभु बस गये अंखियन में'। भगवान् चन्द्रप्रभ मेरी आँखों में बस गये हो।

हाँ जो जिसका उपासक है वह उसको ही हमेशा पुकारता रहता है जैसे प्यासा चातक स्वाति नक्षत्र की बूंद के लिये तरसता है। ऐसे ही भक्त आराध्य को बार-बार बुला रहा है हे भगवान् ! मुझे आप से दूरी नहीं निकटता चाहिये। जब तुम्हारा संसारी प्राणी के प्रति प्रेम उमड़ता है तो उस संसारी प्राणी से निकटता की वांछा होती है। उस समय आपको यदि उसका नाम भी सुनने में आ जाये तो आनंद आता है। समय सार में बात कही-

जैसे कोई व्यक्ति अपने स्थान पर रह रहा है, उसकी पत्नी मायके चली गयी, उसकी ससुराल से कोई भी व्यक्ति आया या यहाँ का व्यक्ति वहाँ से आया उसकी पत्नी से मिलकर, तो पूछता

है-और क्या कहा उसने और क्या बताया उसने, उसका स्वास्थ्य कैसा था, एक-एक बात को पूछता है। वह उन बातों को सुन-सुन कर भी आनंद का अनुभव करता है। उसके प्रति प्रेम की वृद्धि होती चली जाती है यदि उसका स्वयं का पत्र आ जाये तब तो कहना ही क्या, चर्चा हो जाये तो चैन ही आ जाये, नहीं तो चैन ही न पड़े। तो यहाँ पर वह भक्त कह रहा है-हे भगवन् ! जब तुम्हारी कथा मैं कहीं पढ़ता हूँ स्तोत्र सुनता हूँ तो मेरा मन मचल जाता है कब मिलोगे तुम और जब मंदिर में जाता हूँ आपके दर्शन करता हूँ तो ऐसा लगता है कि बस आपको निरखूँ कब आपको स्पर्श करने का अवसर प्राप्त हो और आपके सामने बैठा रहूँ पूजा करूँ, अभिषेक करूँ। अभिषेक करने में इतना पुण्य का आश्रव होता है, मैं समझता हूँ इतना पुण्याश्रव हजारों पूजा करने पर भी न मिलता हो क्योंकि अभिषेक करते समय भगवान् के स्पर्श करने का अवसर मिलता है उस समय रोम-रोम पुलकित हो जाता है।

भक्त जब रोगी होता है तब भगवान् से बोलता कम है भगवान की आँखों में आँखें डालकर देखता रहता है, पूजा में शब्द कम होते हैं भाव ज्यादा उमड़ते हैं। जितना मन लग गया जितने भाव लग गये उतनी पूजा तुम्हारी है यदि तीव्र स्नेह उमड़ जाये तो चर्चा कम निहारा ज्यादा जाता है। जुड़ने के पहले चर्चा ज्यादा होती है। जब जुड़ जाते हैं फिर चर्चा कम, नि:शब्द। प्रभु परमात्मा के सामने जितने नि:शब्द बैठोगे, देखते जाओगे तुम्हारा अंतरंग उमड़कर आयेगा और शब्दों में शक्ति खर्च कर दी तो संतुष्टी मन की तो हो जायेगी कि मैंने दस-पाँच पूजा की किन्तु वास्तव में अपनी आत्मा से पूछना ईमानदारी से, कि भगवान् के प्रति तुम्हारी श्रद्धा भक्ति कितनी उमड़ रही है।

किसी जंगल में एक मूर्ति थी किसी भगवान् की, उसकी पूजा करने एक ग्वाला भी आता था और पंडित जी भी आते थे। पंडित जी तुलसी के पत्ते, जल, चंदन आदि चढ़ाते और पूजा करते थे। ग्वाला आता था तो वह पूजा कैसे करता-वह प्रतिदिन अपने डंडे को वहाँ ठोक करके जाता था। एक दिन ग्वाला आया और उन पर बैठ गया तो शिव जी उससे खुश हो गये, कहने लगे भक्त ! माँग क्या माँगता है आज मैं तेरी भक्ति से प्रसन्न हूँ। ग्वाले और शिव जी की चर्चा चल रही थी तब तक वह पंडित आ गया, जो पीछे से सब सुन रहा था-आकर बोला-यह तो अन्याय है, बेईमानी है मैं प्रतिदिन तुम्हारी पूजा भक्ति करता हूँ फल फूल पत्र चढ़ाता हूँ फिर भी मुझ पर आज तक प्रसन्न नहीं हुये कभी वरदान देने की बात नहीं कही और इस ग्वाले को वरदान दे रहे हो ऐसा नहीं होगा, वरदान पहले मुझे मिलेगा। मुझे ही मिलना चाहिये मैं तीन-चार घंटे आपकी पूजा करता हूँ ये क्या करता है डंडा ठोक करके चला जाता है।

शिव जी ने कहा ये मेरा पक्का भक्त है, तू कच्चा भक्त है। पंडित जी बोले यदि ऐसी बात है तो सिद्ध करके बताओ। बोले ठीक है समय आने पर बताऊँगा।

एक दिन नदी में बाढ़ आ गयी, उस भक्त ग्वाले ने अपने प्राणों की परवाह नहीं की और नदी में कूद गया और तैरता हुआ आ गया, भगवान् के पास जाऊँगा जरूर, वह मंदिर आया, शिव जी की पिण्डी पर, वह पूजा भक्ति तो क्या करता उसने निगाह डाली देखा कि शिव जी की मूर्ति पर एक आँख नहीं थी, वह कहता है किसकी इतनी हिम्मत जिसने मेरे भगवान् की एक आँख निकाल ली। उससे पहले क्या हुआ था कि पंडित जी भी आ चुके थे। उन्होंने भी देखा कि किसी ने शिव जी की मूर्ति खंडित कर दी है, आँख निकाल दी है। पंडित जी तो अपनी पूजा पाठ करके चले गये। ग्वाल भक्त ने देखा कि एक आँख नहीं है उसने क्या किया अपनी आँख निकालकर के शिवजी की आँख में जड़ दी।

दूसरे दिन पंडित और ग्वाला दोनों आये। वहाँ जिस देवता या क्षेत्रपाल का वास था, वह कहता है-पंडित जी देख लिया तुमने? वे बोले क्या देख लिया? देख तू दो-चार दिन तक नहीं आया। पंडित ने कहा-इसलिये नहीं आया कि नदी में पानी बहुत था मैं कैसे आता अपने प्राण दे देता क्या? पुनः कहा-जब तू आया तूने देखा कि मूर्ति में आँख नहीं थी-वह बोला-तो क्या करता दूसरी मूर्ति बनवा दूँगा, आँख कहाँ से लगवाऊँ? पुनः देव बोला देखो इस ग्वाले ने क्या किया इसने देखा आँख नहीं है तो अपनी आँख निकाल कर लगा दी, तू ऐसा कर सकता है। बोला मैं तो ऐसा नहीं कर सकता मैं पागल थोड़े ही हूँ पत्थर की मूर्ति में मेरी आँख कैसे लग जायेगी? वे बोले तुझे पत्थर की मूर्ति दिखाई दे रही है उसे इसमें जीवंत भगवान् दिखाई देते हैं इसलिये इसने तो मेरे ऊपर चढ़करके अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया, तू तो जल चंदन फूल आदि चढ़ाता है। फिर बाद में उस भक्त ग्वाले की आँख भी ठीक हो गयी।

महानुभाव ! कहने का आशय यह है कि तुम ये न सोचो कि तुम क्या कर रहे हो, ये सोचो भगवान् तुम्हारे पीले चावलों का भूखा नहीं है। भगवान् तुम्हारे बादाम, किशमिश, मुनक्का, गरी गोला की चटक एक-एक गोला में से 500 पीस बना दिये तो भगवान् तुम्हारे गोला का भूखा नहीं है, तुम्हारे चंदन के पानी का भूखा नहीं है। तुम्हारे भाव हैं तो पूजा है, भाव नहीं हैं तो वास्तव में पूजा नहीं है। एक थाली की सामग्री दूसरी थाली में डाल रहे हो ये तो कोई पूजा नहीं है ये तो व्यापार है।

महानुभाव ! भक्ति तो अंदर से उमड़ती है। जो जिसको चाहता है, उससे कहता है जो कुछ मेरा है सो सब तेरा है। जब भगवान् के सामने बैठो-तो कहो-बस जो कुछ मेरा है ईमानदारी से वह सब तेरा है, आज गर मेरी साँस रुक जायेगी तो इस सम्पत्ति पर मेरे वारिस का कब्जा हो जायेगा। ये सब मेरे नहीं, मेरे तो तुम प्रभु परमात्मा हो। तुम पर मैं सब कुछ अर्पण करने को तैयार हूँ, यहाँ तक कि अपने प्राण भी तुम्हारे चरणों में न्यौछावर हो जायें तो मेरा कल्याण हो जाये। ये धन तो हाथ का मैल है इससे क्या लेना।

महानुभाव ! वास्तव में जब परमात्मा के प्रति आपकी श्रद्धा उमड़ती है तो परमात्मा और भक्त एक मेक हो जाते हैं वह पागल हो जाता है, परमात्मा के लिये। वह कहता है मुझे कुछ और नहीं चाहिये मुझे तो तू ही चाहिये और मैं तुझे पाकर ही रहूँगा। वह भक्त बाह्य वस्तु में रीझता नहीं है और भगवान् से कहता है-तुमने संसार के खिलौने मुझे पकड़ा दिये, पाँच मंजिल का मकान दे दिया, फैक्ट्री दे दी, नोटों के बंडल दे दिये, चमकते हुये हीरे मोती दे दिये, इन सबसे क्या मुझे बहलाना चाहते हो। ये सब तो मिट्टी है चक्रवर्ती ने भी ठुकरा दिया, तुम्हारे चरणों में फेंक दिये मुझे न चाहिये मैं तो तुम्हारे चरणों में रहूँगा, वह भरत चक्रवर्ती भी सब छोड़ के आपके चरणों में बैठ गया, मुझे भी कुछ न चाहिये बस आप चाहिये। जैसे विष्णु कुमार मुनिराज को समझाने का प्रयास किया उनके पिता महापद्म ने, किन्तु उन्होंने कहा मुझे नहीं चाहिये राज्य, मैं तो आपके साथ दीक्षा लूँगा।

कहने का आशय है कि परमात्मा कभी खिलौने पकड़ाकर बहलाने का प्रयास करे तो सीधे कह देना कि मुझे न चाहिये, मैं तो तुम्हारे साथ रहूँगा तुम्हारी अंगुली नहीं छोड़ूँगा और बेटा सच्चा वही है जो बाप की अंगुली न छोड़े। भक्त तो कहता है मुझे तीन लोक का राज्य नहीं आप चाहिये, आप जहाँ जायेंगे वहीं मैं जाऊँगा, वहीं बैठूँगा।

एक छोटा बालक अपने पिता से जो शाम को हार थक के घर आये, बेटे ने उनसे पूछा-पापा आप 1 घंटे में कितना पैसा कमा लेते हैं? पिता ने कहा-चुप रह शांति से बैठ। दूसरी बार पुनः पूछा पिता ने उसे पुनः डाँट दिया। उसने तीसरी-चौथी बार पुनः पूछा तो पिता ने एक तमाचा लगा दिया और कह दिया यहाँ से जा और सो जा, मुझे परेशान मत कर। बेचारा बेटा रोता-रोता ऊपर कमरे में चला गया और सो गया। पिताजी अपने काम से निवृत्त हुये सोचने लगे मैंने अनावश्यक रूप से बेटे के गाल पर तमाचा मार दिया, कोई कारण होता तब भी ठीक था। उसके मन में थोड़ी ग्लानि हुयी पश्चाताप हुआ, आँखें नम हुयीं। ऊपर बेटे के पास गया। बेटा सो रहा था, किन्तु नींद नहीं आ रही थी, विचारों में खोया हुआ था।

पिताजी ने आवाज लगायी-बेटा ऽऽ ! बेटा तुरंत बोला हाँ पापा। और वह तुरंत खड़ा होकर आ गया। पिता ने पूछा-हाँ बताओ तुम क्या पूछ रहे थे ? पापा मैं ये पूछ रहा था कि आप एक घंटे में कितना पैसा कमा लेते हो? बेटा क्यों? मैं तो ऐसे ही पूछ रहा था। पापा बोले-मैं एक घंटे में एक हजार रुपये कमा लेता हूँ। बेटा फटाफट गया अपनी अलमारी में से अपनी मिट्टी की गुल्लक निकाली उसको तोड़ा और पैसे गिने तो 1000 रु. थे। उन्हें लाया और कहा-पापा, आप 1000 रु. लो और अपना 1 घंटे का समय दे दो मुझे आपके साथ रहने में बहुत अच्छा लगता है।

बात यह है-बेटा वह है जो पिता से समय लेता है। भक्त वह है जो भगवान् के पास रहना चाहता है। भक्त कहता है भगवान् से-भगवान् आपने मुझे चाहे पहले झोंपड़ी दी, अब मकान दे

दिया, अरे मेरी साढ़े तीन हाथ की काया है मैं तो एक खटिया पर भी रह लूँगा मेरे पास पहले 100 रु. भी नहीं थे आज तेरी कृपा से लाखों-करोड़ों हैं-चल अचल सम्पत्ति भी दी किंतु परमात्मा ये सब देकर के समझो कि तुमने मुझसे अपना पीछा छुड़ा लिया। मैं ऐसे ही मूरख जाल में फँस गया और आपको भूल गया, ऐसा मत समझना, मैं आपकी बातों में नहीं आने वाला। अनादिकाल से फँसता जा रहा हूँ किन्तु इस जिंदगी में तो मैं सिर्फ और सिर्फ आपके ही साथ रहूँगा, मुझे और कुछ चाहिये ही नहीं। तो जो परमात्मा का साथ चाहता है वह सच्चा भक्त है।

यहाँ पर भी आचार्य महोदय कह रहे हैं। कि जिसने मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन किया है, संसार का प्रतिपादन करने वाले तो समस्त संसार के अनंतानंत जीव हैं, किंतु मोक्ष के मार्ग का प्रतिपादन करने वाला वही हो सकता है जो मोक्षमार्ग पर बढ़ गया, जिसे नियम से मोक्ष प्राप्त होना है ऐसे अरिहंत सर्वज्ञ देव। तो जो मोक्ष के मार्ग का प्रतिपादन करने वाला है और जन्म-मृत्यु की परम्परा से रहित हो गया है, हमें तो आदत पड़ गयी है जन्म लेने की और मरने की। हैबिट हो गयी है अनादिकाल से जन्म मरण करते आ रहे हैं छूट नहीं पा रहे। हेबिट में से 'एच' निकाल दो तो एबिट रह गया, 'ए' निकाल दो तो बिट हो गया, **'ब'** निकाल दो तो इट। तो वह अंश रहता चला जाता है। उसकी आदत में कुछ न कुछ रहता जरूर है। तो हमें आदत पड़ गयी है जन्म लेने की और मरने की।

हमें आदत पड़ी है शरीर बदलने की,
मौत व्यर्थ में ही बदनाम हुई जाती है।

हम कपड़ों की तरह से शरीर बदलते हैं और कहते हैं मौत आ गयी, लोग कहते है मर गए। मर क्या गये? तुम्हें कपड़ा, मकान, जेवर सब बदलने की आदत थी तो शरीर भी बदल लिया मरे कहाँ? आत्मा तो मरती नहीं। तो यहाँ कह रहे हैं-जो जनम मरण की आदत से अतीत हो गया है जिसकी आदत नष्ट हो गयी। तीनों लोकों का अवलोकन करने वाला वह देव और समस्त कलंकों से जो रहित है। जिसकी आत्मा में से पाप कालिमा जल गयी परमौदारिक शरीर का धारक परमात्मा बन गया। ऐसा जो परमात्मा देव है वह वीतरागी, हितैषी जो मोक्षमार्ग की देशना देने वाला है, मोक्षमार्ग का प्रतिपादक है, जन्म-जरा-मृत्यु आदि रोगों से रहित है तथा तीन लोक का नाथ है ऐसा वह परम परमात्मा अरिहंत देव मेरे हृदय में आकर के निवास करे। इस प्रकार की भावना एक भक्त ने भगवान् के चरणों में भायी है।

इस प्रकार 15वाँ काव्य संक्षेप में पूर्ण हुआ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

भोगी ही रोगी

महानुभाव ! आज द्वात्रिंशतिका ग्रंथ के 16वें काव्य पर चर्चा करेंगे। यह 16वाँ काव्य मानो कि 16वें ध्यान की तरह से है। 16वें ताप की तरह से जीवन में अपनी महत्ता रखने वाला है। 16वाँ ध्यान शुक्लध्यान होता है उसके उपरांत नियम से मोक्ष की प्राप्ति। 16 ताप का तपा हुआ सोना शुद्ध सोना कहलाता है। 16वाँ काव्य भी हमारे जीवन में हमें हमारे परमात्मा से मिलाने में एक नैमित्तिक कारण है। देखो ! कोई भी एक पगडंडी हम ग्रहण करते हैं, यदि वह समीचीन है तो वह लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ होती है, पगडंडी छोटी है या बड़ी ये देखना जरूरी नहीं अपितु यह देखना जरूरी है कि पगडंडी समीचीन स्थान तक जा रही है या नहीं। कई बार व्यक्ति बड़े-बड़े अच्छे रास्तों को देखता है, अच्छे रास्ते पर चलता है, किंतु जो अच्छी जगह नहीं जाते हैं वे रास्ते अच्छे नहीं कहलाते। अच्छी जगह जाने वाले वे कंटिकाकीर्ण मार्ग भी अच्छे हो सकते हैं। बुरी जगह जाने वाले जहाँ मखमली गद्दे बिछे हों या उस पर पुष्प बिखरे हों वे रास्ते भी अच्छे नहीं हो सकते।

1997 में हम लोग विहार करके आ रहे थे सिवनी से सागर की ओर। जबलपुर से राजमार्ग से निकले। एक रास्ता जाता था जबलपुर की ओर, एक रास्ता जाता था भोपाल की ओर। हमारे साथ एक वयोवृद्ध क्षुल्लक जी भी थे, उनको एक क्षुल्लक जी के साथ हमने थोड़ा आगे निकाल दिया। आप धीमे-धीमे चलो हम पीछे से आते हैं। क्षुल्लक जी हमें आगे रास्ते में नहीं मिले। संध्याकाल में हमने देखा कि प्रतिदिन तो वे हमें रास्ते में मिल जाते थे या गंतव्य तक मिल जाते थे, आज नहीं मिले, क्या हुआ? बाद में समाचार आया कि वे पीछे रह गये और पीछे किसी गाँव में रुक गये हैं। दूसरे दिन जब महाराज जी आये तो हमने पूछा-महाराज जी क्या हुआ?

उन्होंने कहा-जब हम चौराहे पर आये, तो एक रास्ता भोपाल की ओर जाता था, एक जबलपुर की ओर जाता था, किंतु जब हमने चौराहे से देखा-जिस रास्ते पर आपने बताया था वहाँ पर मिट्टी थी, रास्ता खराब था तो हमने चिकना रास्ता देखा भोपाल वाला, अच्छा रास्ता देखकर हम 5-6 किलोमीटर चले गये, फिर लोगों से पूछा-हमें उस गाँव में जाना है तो लोगों ने बताया बाबा जी आपको फिर लौटकर जाना पड़ेगा 6 कि.मी. वहाँ चौराहे से ही मुड़ जाना, तो महाराज इसलिये हम आ नहीं पाये थे। वे महाराज अच्छा रास्ता देखकर के चले गये किंतु उनका वो गन्तव्य तो नहीं था।

जीवन में भी कई बार ऐसी भूल हो जाती है कि देखते हैं रास्ता अच्छा लग रहा है किन्तु वह वास्तव में हमारा गन्तव्य नहीं है। संसार में व्यक्ति सोचता है सुख-सुविधाओं वाला रास्ता मिल जाये तो ठीक है, किंतु सुख सुविधा वाला रास्ता दु:ख और दुविधा से युक्त होता है। जितना

व्यक्ति सुख चाहता है, उतना उसे दु:ख का सामना करना पड़ता है और जितना व्यक्ति दु:ख को स्वीकार करता है उसके पीछे उतना ही सुख प्राप्त हो सकता है। जितनी सम्पत्ति जोड़ता है उतनी विपत्ति का मार्ग उसे स्वीकार करना पड़ता है। जो रात्रि को पार कर चुका है उसके जीवन में दिव्य दिवस का प्रारंभ होता है जीवन में दिव्य प्रकाश होता है और जो अभी दिन के रास्ते को पार कर चुका है उसे रात्रि से सामना करना ही पड़ता है। रात्रि के साथ मुकाबला उसे करना पड़ता है।

महानुभाव ! जीवन में पाप का उदय आता है, पुण्य का उदय आता है, जिसने अपने पाप के उदय को भोग लिया है वह पुण्य का फल पाने के लिये तैयार रहे। जो पुण्य का फल भोग चुका है उसके जीवन में पाप का उदय आने वाला है। सदा दिन ही दिन होता रहे ऐसा भी कभी नहीं होता, सदा रात ही रात रहे ऐसा भी कभी नहीं होता। दिन के बाद रात्रि, रात्रि के बाद दिन होता है। तो इसलिये कवि ने भजन में कहा-

''दु:ख भी मानव की सम्पत्ति है, तू दु:ख से क्यों घबराता है।
दु:ख एक कसौटी है जिस पर, ये मानव परखा जाता है॥

दु:ख तो एक कसौटी है जिस पर मानव की सही परख होती है। जो अशुद्ध मानव है वह दु:ख की कसौटी पर कस करके निखर जाता है, शुद्ध हो जाता है, सिद्धत्व को प्राप्त करने का पात्र होता है। किंतु जो दु:ख की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, उठकर फिर कच्चे, गंदे व्यक्तियों में फेंक दिया जाता है-जन्मो और मरो। जो दु:ख की अग्नि परीक्षा में पास हो जाता है, संसार की पाठशाला में पास होकर के मुक्त स्थान सिद्धालय में पहुँच जाता है।

महानुभाव ! सुख क्या है ? सुख है प्रात:काल का प्रभात। जब पुण्य का उदय आता है तो सुख के दिन कब निकल जाते हैं अहसास नहीं होता। संध्याकाल जब होता है तब व्यक्ति को याद आता है कि मेरा दिन पूरा निकल गया मैंने कुछ नहीं किया, अब रात्रि आ गयी, लाइट यहाँ पर है नहीं प्रकाश का कोई उपाय नहीं है, अब कुछ नहीं किया जा सकता। ऐसे ही जीवन में सुख के दिन निकल जाते हैं उस समय व्यक्ति पुण्य का संचय कर नहीं पाता है जब उसके जीवन में पाप का उदय आता है तब व्यक्ति सोचता है हाय रे! मैंने अपना जीवन ऐसे ही निकाल दिया। मैंने अपने जीवन में अपने लिये कुछ क्यों नहीं किया।

जब मेरा बचपन था, जवानी थी, प्रौढ़ावस्था थी जब मैं अपने लिये कुछ कर सकता था, तब तो मैं भोग भोगने में मस्त रहा, मौजमस्ती में मस्त रहा, जब शरीर थकने लगा तो आँसू बहाने लगा। फिर किनारे पर आकर रोता है कि मैंने अपने लिये कुछ क्यों नहीं किया। अभी तक मैं धर्म को कुछ नहीं मानता था, अभी तक मैंने धर्मात्मा की कोई कदर नहीं की, अभी तक मैंने प्रभु परमात्मा को अपनी आत्मा से स्वीकार नहीं किया, आज जब ठोकर लगी है, पैर लहुलुहान हो गये, पूरा

शरीर घायल हो गया, उठने की भी सामर्थ्य नहीं है तब अक्ल आयी कि मुझे देखकर के चलना चाहिये। किन्तु जब शरीर में दमखम था तब कहाँ देखके चलता था, जब शरीर में दमखम था तब तो जीव जन्तुओं को रोंदते हुये चलता चला जा रहा था।

महानुभाव ! व्यक्ति पाप के उदय में ही आत्मा से परिचय प्राप्त कर पाता है, पुण्य के उदय में आत्मा से चर्चा करने वाला कोई बिरला ही व्यक्ति होता है, अन्यथा बिना झटका लगे, कोई सावधान नहीं होता। गाड़ी समतल स्थान पर चल रही हो, कहीं भी स्पीडब्रेकर न हो, डिवाइडर न हो, कहीं भी मोड़ न हो तो व्यक्ति मस्ती से आँख बंद करके गाड़ी चलाता है किंतु जैसे ही स्पीड से जाने वाली गाड़ी किसी वृक्ष से, किसी बोर्ड या किसी मील के पत्थर से टकराती है तब उसे लगता है मुझे देखकर के चलना चाहिये।

कहने का आशय यह है कि दु:ख जीवन में सावधानी देने वाला है। दु:ख हमारी नींद को तोड़ने वाला है, व्यक्ति यदि ए.सी. में सो रहा है तो नींद खुलने के चांस कम हैं और लाइट चली जाये तो? नींद जल्दी खुल जाती है। यदि पंखा भी चल रहा है तो नींद खुलने के चांस कम हैं और यकायक यदि कहीं से जोर से आवाज हो तो नींद टूटने के चांस ज्यादा हैं। तो प्रतिकूलता में नींद जल्दी टूटती है। आत्मा से परिचय तब होता है जब हमने किसी को आत्मा से भी ज्यादा मान लिया था किंतु वह आज हमें धोखा देकर के अलग हो गया, हमें संसार का बोध हो गया, संसार का अहसास हो गया। जिसे हमने अपनी आत्मा से ज्यादा माना उसका आज वियोग हो गया, वस्तु नष्ट हो गयी, व्यक्ति मर गया तब झटका सा लगा, तब बोध आया कि मैं किसमें अभी तक लीन था। पर व्यक्ति, पर वस्तु में लीन हो गया था। मैंने अपनी आत्मा को आत्मा नहीं जाना इसीलिये मैं कर्मों का बंध करता रहा, जन्म मरण करता चला आ रहा हूँ।

महानुभाव ! जब तक झटका नहीं लगता है तब तक सावधानी नहीं होती। संसार की सभी वस्तुऐं झटका लगने पर टूट जाती हैं किंतु मानव एक ऐसा है उसको झटका लगता है तो वह संभल जाता है। भगवान् आदिनाथ स्वामी को अपने 83 लाख पूर्व तक जीवन में कोई झटका नहीं लगा, पहला झटका लगा-कि उनकी ही सभा में नीलांजना की मृत्यु, जहाँ पर हजारों व्यक्ति बैठे हैं, आमोद-प्रमोद चल रहा है स्वर्ग की देवांगना नृत्य कर रही है, नृत्य करते-करते उनकी आँखों के सामने मृत्यु हो गयी। जिस नृत्य में वे लीन थे, बड़ा आनंद आ रहा था और जैसे मृत्यु हुयी तो लगा ये कौन, नीलांजना को किसने मार दिया, मेरे सामने किसकी इतनी सामर्थ्य हो गयी, इन्द्र ने दूसरी नीलांजना प्रस्तुत कर दी किंतु उन्होंने कहा ये वो नहीं है ये दूसरी है, उसको कौन छीन ले गया? देखा तो काल ले गया-अरे ! काल इतना बलवान है उस काल से तो मैं भी नहीं जीत सकता, काल तो मुझे भी उठाकर ले जायेगा। जब तक काल उठाने के लिये मुझे आये उससे पहले मुझे अपना कार्य कर लेना चाहिये। वह कार्य जिस कार्य के लिये मैंने जन्म लिया है।

महानुभाव ! इसी तरह जितने भी तीर्थंकर थे सभी के जीवन में यदि वैराग्य हुआ तो कोई न कोई घटना से वैराग्य हुआ चाहे सफेद बाल को देखकर के मोह टूटा, चाहे आकाश में कड़कती बिजली को देखकर के मोह टूटा, चाहे बिखरते हुए बादलों को देखकर मोह टूटा, चाहे विद्युत्पात से, चाहे किसी की भी मृत्यु को देखकर के मोह टूटा। जब तक मृत्यु का बोध नहीं होता है तब तक आत्मा का बोध नहीं होता है। मृत्युबोध आत्म बोध का कारण है। संसार में जितने भी व्यक्ति आज प्रबुद्ध हुये हैं या पहले प्रबोध को प्राप्त हुये हैं या भविष्य में भी जो प्रबोध को प्राप्त होंगे मृत्यु का बोध हुये बिना आत्म-बोध नहीं हो सकता।

सबसे पहला बोध होता है मृत्यु का बोध, मौत का बोध हो जाये, मेरा शरीर छूटेगा ये नष्ट होगा किंतु ये आत्मा मेरी नष्ट नहीं होगी, आत्मा तो अजर अमर है। ये जन्म-मरण क्यों कर रही है, ये कर्मों का बंध क्यों कर रही है, ये दु:खों को क्यों भोगती है, मैं दु:खों को नहीं भोगना चाहता। गर तू दु:खों को नहीं भोगना चाहता तो संसार के सुखों को भी छोड़ना पड़ेगा। संसार के सुखों के त्याग किये बिना संसार के दु:खों से मुक्ति नहीं मिलती, इसलिये व्यक्ति संसार के सुखों का त्याग तब करता है जब वह दु:खों से बचना चाहता है।

यहाँ पर हम सामायिक पाठ देख रहे हैं। सामायिक-समय का जिसमें बैठकर के अवलोकन किया जाता है वह है समय। समय अर्थात् आत्मा। आत्मा का अवलोकन जिस समय किया जाता है उस समय ही साम्य समय है। साम्य समय को करने वाला कर्ता सामायिक करने वाला होता है। उसकी वह क्रिया भी सामायिक क्रिया, विधि कहलाती है। तो महानुभाव ! समतामय परिणामों से जब आत्मा को देखा जाता है, आत्मा के गुण को, निधि को, वैभव को देखने की विधि, क्रिया, प्रक्रिया, कला ये सब सामायिक कहलाती है और आत्मा का वैभव दिखेगा परमात्मा का वैभव देखकर के।

परमात्मा का जैसा वैभव है मेरी आत्मा का भी वैसा वैभव है किंतु वह प्रकट नहीं हुआ। जैसे एक पिता ने अपने दो पुत्रों को सम्पत्ति दी, तो एक पुत्र तो अपने महल का ताला लगाकर बाहर घूम रहा है, भूल गया मेरा अपना महल भी है, सम्पत्ति भी है, मैं कोई राजा भी हूँ, वह दीन हीन गरीब घूम रहा है। दूसरा पुत्र राजगद्दी पर बैठकर राज्य का संचालन कर रहा है। सबके पास 1-1 देश का स्वतन्त्र राज्य है। उसे दूसरे राजा को देखकर के, उसकी सम्पत्ति को देखकर के अपनी सम्पत्ति का ख्याल आ गया है मैं भी तो अपने देश का राजा हूँ, अपनी आत्मा का राजा हूँ। ये परमात्मा इसने अपनी आत्मा का परम वैभव प्राप्त कर लिया मेरी आत्मा में भी परम वैभव है किंतु वह अभी लॉक है।

वह चाबी देव-शास्त्र-गुरु से ही प्राप्त होगी। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीन चाबियाँ जिन्हें लगाते ही ताला खुल जाता है। परमात्मा के वैभव का अवलोकन होता है, दर्शन

होता है, उससे साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार होते ही संसार के मल से राग नहीं रहता। जब तक संसार का मल, तुम्हें अच्छा दिखाई दे रहा है, तब तक आप उसे ग्रहण करते हैं और जब वह मल-मल दिखाई देता है तो फिर उसे छोड़ने में देर नहीं लगती। संसार का बल जब तक बल दिखाई देता है तब तक ग्रहण करने की भावना रहती है, जब संसार का बल निर्बल दिखाई देता है, तो व्यक्ति उसे छोड़ देता है।

महानुभाव ! यहाँ पर आचार्य महाराज 16वें काव्य में कह रहे हैं-अपनी शुद्ध दशा को जानो, परमात्मा को जानो परमात्मा कैसा है? परमात्मा को जान लोगे तो आत्मा को जानने में भी समर्थ हो जाओगे, वह परमात्मा कैसा है इस बारे में 3-4 काव्य में देखा अगले काव्य में भी कहते हैं-कि वह परमात्मा मेरे हृदय में स्थापित हो जाये, लीन हो जाये उस परमात्मा के दिव्य प्रकाश से मेरी आत्मा में विद्यमान मिथ्यात्व का, अज्ञान का अंधकार नष्ट हो जाये, मेरी आत्मा भी परमात्मा के वैभव को प्राप्त कर सके-

क्रोडीकृताऽशेष-शरीरवर्गा, रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१६॥

अपना लिया है निखिल तनु धारी निबह ने ही जिसे,
रागादि दोष व्योह भी छू तक नहीं सकता जिसे।
जो ज्ञानमय है, नित्य है, सर्वेन्द्रियों से हीन है,
जिनदेव ! देवेश्वर वही मेरे हृदय में लीन है॥16॥

अन्वयार्थ-(**अशेषशरीरवर्गाः**) सम्पूर्ण शरीर आदि समूह को (**क्रोडीकृता**) अधीन करने वाले, (**यस्य**) जिसके (**रागादयः**) रागादि (**दोषाः**) दोष (**न सन्ति**) नहीं है [यः=जो] (**निरन्द्रियः**) इन्द्रियों से रहित हैं, (**ज्ञानमयः**) ज्ञानमय हैं और (**अनपायः**) पापों से रहित हैं ऐसे (**सः**) वे (**देवदेवः**) वीतराग भगवान् (**मम**) मेरे (**हृदये**) हृदय में (**आस्ताम्**) विराजमान होवें।

इन सभी संसारी प्राणियों ने जिस शरीर को ग्रहण किया है वह शरीर कैसा है? वह शरीर मेरा निजी नहीं है स्वभावमय नहीं है इस शरीर को तो आत्मा ने गोद ले लिया है। जब आत्मा अपने स्वयं के वैभव को देखेगी, स्वयं के आत्मज को प्राप्त करेगी, आत्मज माने-आत्मा से उत्पन्न होने वाले गुणों को प्राप्त करेगी, तब इस गोद लिये हुये को छोड़ देगी। व्यक्ति तब तक परवस्तु पर आसक्त रहता है जब तक अपनी वस्तु का ख्याल नहीं। जब अपनी वस्तु प्राप्त हो जाये तो पर वस्तु के प्रति उसकी अभीप्सा, आकांक्षा, वांछा, कांक्षा, राग, आसक्ति सब कम होती चली जाती है। आ. कुन्दकुन्द स्वामी जी ने समय सार में एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया-

एक व्यक्ति बाजार में चला जा रहा है, अच्छे कपड़े सूट-बूट पहन कर जा रहा है, मार्ग में यकायक दूसरे व्यक्ति ने उस व्यक्ति को टोक दिया। भाई साहब ! ये कपड़े तो मेरे हैं। वह बोला ये वस्त्र तुम्हारे कैसे हैं ? बोला वस्त्रों पर मेरा निशान लगा है, क्या निशान लगा है ? तो बताया-सिलाई पर जो दर्जी का टेक लगा है वह बंदर का चिह्न है। अरे ये किसी और दर्जी का भी तो हो सकता है। ठीक, और पहचान क्या है? मेरी शर्ट पर मैंने एक फूल बनवा लिया है, अरे ऐसे तो कोई भी बनवा सकता है, और भी मेरी पहचान है। मैंने यहाँ पीछे पचरंगी पट्टी लगवाई है छोटी सी, इसके साथ-साथ मैंने इसमें अपना कार्ड डाल दिया है, नीचे सिलाई खोलकर देखो। जब सब पहचानें देखीं, कपड़े उतार कर देखे तो जो-जो चीज वह बताता जा रहा था, वे सब निशान उसमें मिलते चले गये। अब क्या करता? उतार दिए उसके कपड़े।

ऐसे ही हम जो पहनकर के बैठ गये हैं इस शरीर को। ये शरीर हमारा नहीं पुद्गल का है। वह पुद्गल हमसे कभी भी कह देता है, उतार ये भेष तो मौत आती है। जहाँ कहीं भी जिस किसी से भी शरीर को उतरवा लेती है यह शरीर मेरा नहीं है मेरी तो आत्मा है। मैं तो अशरीरी हूँ तो जैसे उस व्यक्ति से अपना वस्त्र उतरवा लिया ऐसे ही ये मौत काल हमसे शरीर उतरवा लेती है। उस व्यक्ति ने सोचा गलती कैसे हो गयी, धोबी से पूछता हूँ-धोबी के पास गया, धोबी हाथ जोड़कर क्षमा मांगने लगा-बोला-साहब जैसी ड्रेस आपकी थी, वैसी ही ड्रेस किसी और की भी आ गयी धुलने के लिये, तो वह ड्रेस बदल गयी आपकी ड्रेस तो मेरे पास रखी है ये ड्रेस तो उसकी है।

महानुभाव ! क्या वह व्यक्ति उस ड्रेस को पहनेगा अब? वह उसे फेंक देगा, वह कहेगा मेरी जो ड्रेस है मैं उसे ही पहनूँगा। ऐसे ही जब आत्मा का वैभव हमें समझ में आ जाता है तब दूसरे का वैभव, उसकी वस्तु हमारे लिये हेय होती है, उच्छिष्ट होती है। दूसरे की उल्टी को कोई खायेगा क्या। सभ्य-सज्जन व्यक्ति तो कहेगा मैं इसे देख भी नहीं सकता, आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी 'इष्टोपदेश' नामक ग्रंथ में कहते हैं-

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा॥३०॥

सभी पुद्गल परमाणु मेरे द्वारा एक बार नहीं अनेक बार, बार-बार भोगे गए। उनको भोग-भोग कर छोड़ दिया अब तो वे भोग उच्छिष्ट (वमन) के समान हैं। ऐसे भोगों में मुझ विज्ञ अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव की क्या आसक्ति ?

जिस प्रकार कोई सज्जन पुरुष व्यंजन आदि का भोग कर पुनः वमन हो जाने पर उसे देखने तक की इच्छा नहीं करता उसी प्रकार ऐसे ही कह रहे हैं-जो शरीर हमने ग्रहण कर लिया है, वह शरीर कैसा है? वह उच्छिष्ट है। अनंत बार प्राप्त किये परमाणु जिससे शरीर बना, और छोड़ दिये।

फिर बार-बार ये मौत आ जाती है मांगने के लिये, ऐ! मेरा कर्ज दे, मेरा मकान खाली कर, निकल यहाँ से। तो खाली करना पड़ता है, जब एक बार समझ में आ जाये ये मेरा निजी मकान नहीं है ये किराये का है फिर उसमें व्यक्ति एक क्षण के लिये भी बैठना नहीं चाहेगा।

एक बार दो व्यक्ति जो पड़ोसी थे साथ में बाजार गए। वहाँ से एक व्यक्ति ने कुत्ता खरीदा। उसे देखकर दूसरे व्यक्ति ने भी एक कुत्ता वैसा ही खरीद लिया। दोनों अपने-अपने घर लौट आए। एक व्यक्ति ने अपने कुत्ते की पहचान के लिए उसकी पूँछ काट दी। यह देख दूसरे व्यक्ति ने भी अपने कुत्ते की पूँछ काट दी। पहले व्यक्ति ने यह देखा तो क्रोधित हुआ। कुछ कहा तो नहीं बल्कि फिर पहचान के लिए अपने कुत्ते का एक कान काट दिया। दूसरे व्यक्ति ने भी यह देखकर अपने कुत्ते का कान काट दिया। पहले व्यक्ति ने पुनः अपने कुत्ते का दूसरा कान काट दिया। अब दूसरे व्यक्ति ने भी अपने कुत्ते का दूसरा कान काट दिया। यह देखकर पहला व्यक्ति क्रोध में लाल-पीला हो गया और अपने पड़ोसी के पास चिल्लाता हुआ गया व बोला कि मैंने अपने कुत्ते की पहचान के लिए पूँछ काटी तो तुमने भी काट ली, कान काटे तो तुमने भी काट दिए। तू नहीं मानता तो चल अब ध्यान रखियो-काला कुत्ता तेरा, सफेद कुत्ता मेरा।

महानुभाव ! जिस प्रकार इस व्यक्ति के मूर्खतापूर्ण व्यवहार पर हँसी आ रही है, कहीं उसी प्रकार का व्यवहार संसारी प्राणी का तो नहीं है। अनादिकाल से अनंत दुःखों को भोगने पर, अनेक पीड़ाओं को सहन करने पर, कई बार पंच परावर्तन पूर्ण कर अनेक कष्टों को भोगने के बाद में जब समझ आता है तब कहते हैं चलो छोड़ो शरीर अलग है, आत्मा अलग। अरे ! अगर ये बात पहले समझ में आ जाती तो इतने संसार के दुःखों को सहन ही क्यों करना पड़ता।

वास्तविकता तो यह है जो भोगी है वही जन्म, जरा, मृत्यु रूपी महारोगों से ग्रसित है।

तो महानुभाव ये शरीर कैसा है-'क्रोडीकृता' दूसरे का ग्रहण किया हुआ, जो कि अपने योग्य नहीं है, ऐसा वह द्रव्य ग्रहण कर लिया है। किसी ने दिया नहीं, हमने ग्रहण कर लिया और अपनी बपौती बनाकर के बैठ गये ऐसे द्रव्य को कहते हैं क्रोड़ीकृता। तो इन सभी संसारी प्राणियों ने क्रोड़ीकृत शरीर को प्राप्त कर लिया है। किंतु जिन्होंने इस क्रोड़ीकृत शरीर को छोड़ दिया, जिनमें रागद्वेषादि 18 दोष नहीं हैं तथा जो इन्द्रियों से रहित हैं। **ज्ञानमयो**-जो ज्ञानस्वरूपी हैं-

''ज्ञान शरीरी त्रिविध कर्म मल वर्जित सिद्ध महन्ता,
ते हैं निकल अमल परमातम भोगें शर्म अनंता।।छहढाला।।

समस्त दुःखों से, पापों से, कर्मों से रहित हैं, ऐसा वह परमात्मा मेरे हृदय में निवास करे।

इस प्रकार इस 16 वें काव्य का अर्थ हुआ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

प्रत्येक दिन अंतिम दिन

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः, सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं, स देव देवो हृदये ममास्ताम्॥१७॥

संसार की सब वस्तुओं में ज्ञान जिसका व्याप्त है,
जो कर्म बन्धन हीन बुद्ध विशुद्ध सिद्धि प्राप्त है।
जो ध्यान करने से मिटा देता सकल कुविकार को,
देवेश वह शोभित करे मेरे हृदय आगार को॥17॥

अन्वयार्थ-(**यः**) जो (**विश्वजनीनवृत्तेः**) विश्वकल्याण की भावना से (**व्यापकः**) व्यापक हैं, (**सिद्धः**) सिद्ध हैं (**विबुद्धः**) प्रबुद्ध हैं, (**धुतकर्मबन्धः**) कर्मरूपी बन्धन को नष्ट करने वाले हैं, (**ध्यातः**) ध्यान करने योग्य हैं अथवा ध्यान करने से (**सकलम्**) समस्त (**विकारम्**) विकारी भावों को (**धुनीते**) नष्ट करते हैं, ऐसे (**सः**) वह (**देवदेवः**) देवों के आराध्य (**मम**) मेरे (**हृदये**) हृदय में (**आस्ताम्**) विराजमान होवें।

यहाँ पर आचार्य अमितगति स्वामी कह रहे हैं जिसका ज्ञान संसार के समस्त पदार्थों में विद्यमान है अर्थात् जिसके ज्ञान दर्शन में तीनों लोक और अलोक के समस्त द्रव्य झलकते हैं। द्रव्यों के समस्त गुण झलकते हैं और प्रत्येक गुण की अनंत-अनंत पर्यायें झलकती हैं और वह द्रव्य अलग-अलग नहीं अनंत अतीत की पर्यायों के साथ और अनंत अनागत की पर्यायों के साथ, केवल ज्ञान की विशेषता ये है कि युगपत् जानते हैं।

यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद् द्रव्याणि तेषां गुणान्,
पर्यायानपि भूत भावि-भवितः सर्वान् सदा सर्वदा।
जानीते युगपत् प्रतिक्षाण-मतः सर्वज्ञ इत्युच्यते,
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते, वीराय तस्मै नमः॥१॥-वी.भ.

भगवान् महावीर स्वामी के लिये नमस्कार किया जो सर्वज्ञ हैं, जिनके ज्ञान में सब झलकता है ये उनके ज्ञान की विशेषता है, वस्तु की विशेषता नहीं है।

तो ऐसे भगवान्-जो सिद्ध हैं। सिद्ध माने जिन्हें जो कुछ करना था वह कर लिया अब वे कृतकृत्य हो गये। विशिष्ट ज्ञान से सहित हैं जिनका ज्ञान अति विशेष है। संसार के किसी भी प्राणी के पास ऐसा ज्ञान नहीं है। वह सिर्फ केवल ज्ञानी के पास होता है और किसी के पास नहीं होता। इसलिये वह ज्ञान विबुद्ध होता है। **धुतकर्म बंधः**-जिन्होंने कर्म के मल को धो दिया है। **ध्यातो धुनीते सकलं विकारं**-कोई भी भव्य संसारी प्राणी उनका ध्यान करता है, स्मरण करता

है। वह ध्यान करने वाला व्यक्ति अपने चित्त के समस्त विकारों को धो देता है। भगवान् का चिंतन, मनन, स्मरण करते ही विकार दोष अपने आप भाग जाते हैं भगवान् का ये माहात्म्य है।

''तेरा चिन्तन ध्यान मनन गुण स्तव भी अघ को हरता''

भगवान् का ध्यान चिंतन करो तो पाप ठहरता नहीं है और जब पाप चित्त में ठहरता है तो भगवान् का नाम जुबान पर नहीं आता। जिस व्यक्ति के जीवन में तीव्र पाप कर्म का उदय चल रहा है, ऐसा व्यक्ति 24 घंटे में 24 बार भी णमोकार मंत्र न पढ़ पायेगा, ऐसा व्यक्ति 24 घंटे में 24 भगवानों का एक बार नाम भी न ले पायेगा। ऐसा व्यक्ति हो सकता है 24 घंटे में एक बार भी देव-शास्त्र-गुरु के चरण सान्निध्य में न आ पाये जब तीव्र पाप कर्म का उदय आता है तो 24 घंटे में एक बार भी भगवान् का ख्याल नहीं आता। उसके मुँह से ये चार शब्द निकल नहीं पाते। ॐ, नमः, जय और स्वाहा। ये चार शब्द ऐसे हैं जिसके मुँह से प्रातःकाल ये 4 शब्द निकलते हैं या चार में से एक भी निकलता है तो वह पुण्यात्मा जीव है नियम से आज नहीं तो कल परमेष्ठी अवस्था को प्राप्त करेगा, सिद्धत्व को प्राप्त करेगा।

जिसके मुँह से ये चार शब्द नहीं निकलते हैं उसके मुख को 'मुखकमल' नहीं कहते। उसे क्या कहना चाहिये? नीतिकार तो कहते हैं वह तो मलद्वार है। तो आप अपनी-अपनी समीक्षा करें कि प्रतिदिन 24 घंटे में आपके मुख से ये 4 शब्द 4 बार भी निकल पाते हैं क्या? जिनके मुख से निकलते हैं वे पुण्यात्मा जीव हैं। किंतु कितने बजे ? हम ब्रह्ममुहूर्त की बात कह रहे हैं, प्रातःकाल सूर्योदय से पहले। विरले व्यक्ति ही होंगे जो जाप, अर्घ, जयकार आदि बोलते हैं। यदि ऐसा नहीं कर पा रहे हैं तो मैं समझता हूँ कि वास्तव में उनका पुण्य कमजोर है। ये चार शब्द वास्तव में जीवन के चार परम पुरुषार्थ हैं, ये चार शब्द चार गति से बचाने वाले, चार कषाय का नाश करने वाले हैं, आपके जीवन की चारों अवस्था बाल्यपन, यौवन, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था को सफल और सार्थक करने वाले हैं।

तो यहाँ बता रहे हैं-'ध्यातो धुनीते सकलं विकारं' परमात्मा का जो ध्यान करता है कैसे परमात्मा का? जो वीतरागी हैं, सर्वज्ञ हैं। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी जो बड़े ही नैयायिक और तार्किक आचार्य हुए उन्होंने कहा भगवन् ! मैं तुम्हें इसलिए नमस्कार नहीं कर रहा हूँ कि तुम्हारे पास बहुत वैभव है, निधियों व रत्नों से युक्त समवशरण है बल्कि इसीलिए नमस्कार कर रहा हूँ कि आप राग और द्वेष से रहित हैं, वीतरागी हैं।

एक धोबी था उसके गधे का नाम था-गोपाल दास। यह नाम भी उसने इसीलिए रखा क्योंकि वह गधा उसे बहुत प्यारा था। उसके अतिरिक्त धोबी का कोई था भी नहीं। एक दिन उसके गधे की मृत्यु हो गयी। वह धोबी फूट-फूटकर रोने लगा। उसके पड़ोसी ने उसके रोने का कारण पूछा

तो उसने कहा मेरा गोपाल दास अब नहीं रहा। पड़ोसी भी उसके दु:ख में शामिल हो गये। उन्हें रोता देख दो-चार लोग और आए और खबर फैल गई नगर के बहुत बड़े संत गोपाल दास अब नहीं रहे। हजारों लोग वहाँ रोने लगे, कहने लगे अब पूरा गाँव अनाथ हो गया। कौन हमारी समस्याओं का समाधान करेगा? हाय ! हम कैसे जियेंगे। अचानक वहाँ से राजा की सवारी निकली। लोगों की भारी भीड़ को देखकर राजा ने अपने मंत्री को भेजा और कहा जाओ देखकर आओ कि यहाँ इतनी भीड़ क्यों है? मंत्री गया उसने पता लगाया और राजा से कहा, ''नगर के बहुत बड़े संत गोपालदास अब इस दुनिया में नहीं रहे।''

राजा ने पूछा लेकिन ये खबर तुम्हें कहाँ से मिली? मंत्री बोला ''वहाँ थानेदार से पूछा है। थानेदार भी शोक में निमग्न है।'' राजा ने कहा-उसे यहाँ बुलाया जाए। थानेदार आया। उससे पूछा-ये गोपालदास कौन है? बोला-महाराज ! नगर का बहुत बड़ा साधु था, आज ही उसकी मृत्यु हो गई। राजा ने पूछा-ये खबर तुम्हारे पास कैसे आयी? वह बोला-धोबी के द्वारा पता चला। धोबी से जाकर पूछा कि तुम्हें कैसे पता चला कि गोपालदास की मृत्यु हो गई। वह बोला-अरे ! आप कैसी बात करते हैं, मेरा गधा मरे और मुझे पता भी न चले। तो तुम्हारे गधे का नाम गोपालदास था ? हाँ ! वही तो मेरा सब कुछ था, अब मेरा इस दुनिया में कोई नहीं है। जैसे ही सबको पता चला तो सबकी निगाहें नीची हो गयी।

इसी प्रकार एक भेड़चाल सी चल रही है। कभी किसी को-कभी किसी को पूजते चले आ रहे हैं। जब बाजार में सोने-चाँदी का सामान लेने जाते हैं पूरी तरह से तसल्ली करते हैं कि कुछ नकली तो नहीं है। और ये तो सोना चाँदी है इसे भी छोड़ो, महिलाएँ जब बाजार में घीया लेने जाती हैं तो उसको भी नाखून मारकर देखती हैं कच्ची है या पकी हुई तब खरीदती हैं और जीवन में इतना अमूल्य निर्णय जिससे भव-भव का क्लेश, संसार परिभ्रमण मिट भी सकता है, यूँ ही कर लेते हैं। छोटी-चीजों की इतनी परीक्षा करते हो तो इतने बड़े वीतराग धर्म की परीक्षा भी जरूरी है। यूँ ही किसी ने कहा और आपने स्वीकार कर लिया। अंधी श्रद्धा व्यक्ति का पतन कर देती है। यदि अभी आपसे कोई कहे कि हमारी तरफ तो गधों के सींग होते हैं या आकाश में पुष्प खिलते हैं तो आप विश्वास नहीं करेंगे, कहेंगे सफेद झूठ बोल रहे हो। सफेद झूठ यानि 100 प्रतिशत झूठ। हमारे आचार्यों ने सफेद झूठ के विषय में भी बताया है। सत्य शासन परीक्षा नामक ग्रंथ में आचार्य महाराज सौ फीसदी झूठ कैसा होता है बताते हैं-

यावज्जीव-महं मौनी, ब्रह्मचारी च मत्पिता।
माता मम भवेद् वन्ध्या, स्मराभोऽनुपमो भवान्॥

एक बालक कह रहा है मेरा जीवन पर्यंत-आजीवन मौन है। मौन है तो बोल कैसे रहा है आगे कहता है मेरे पिता बाल-ब्रह्मचारी हैं, मेरी माता बंध्या है और उनके मैं कामदेव के समान सुंदर

पुत्र हूँ। तो यह है सफेद झूठ। सत्य शासन परीक्षा में यह बताया और सत्य की परीक्षा के लिए यह ग्रंथ लिखा गया।

तो बात चल रही थी सच्चे देव का स्वरूप क्या है? आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी सच्चे देव को परिभाषित करते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं-

परमेष्ठी परमज्योतिर्विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादि मध्यांतः सार्वः शास्तोपलाल्यते॥७॥

जो परम पद में स्थित हैं, परम ज्योति अर्थात् केवलज्ञान-परमज्ञान से सहित हैं, राग-द्वेष से रहित विमल हैं, विराग और वीतरागी हैं, कृत-कृत्य हैं जिनको अब कुछ करना शेष नहीं, जो करना था सब कर चुके, परिपूर्ण हैं, जो सर्वदा हैं, तीनों लोकों की, तीनों कालों की सब बातों को युगपत् जानते हैं। आदि, मध्य और अंत से रहित हैं, समस्त जीवों के हितकारक हैं वही परमात्मा हैं।

ऐसे परमात्मा का जो ध्यान करते हैं उसके सकल विकार नष्ट हो जाते हैं शेष नहीं रह पाते। जैसे अग्नि की समीपता प्राप्त करने वाला पदार्थ जल जाता है और जो नहीं जल पाता है वह शुद्ध पदार्थ रह जाता है, ऐसे ही भगवान् के समीप बैठकर के पाप जल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। जो नहीं जलता है वह शुद्ध चेतना रह जाती है। यदि पाप ज्यादा होंगे तो भगवान् के पास वह आत्मा बैठ नहीं पायेगी। पापी व्यक्ति भगवान् के पास बैठ नहीं सकता। उसे डर लगता है और अन्य कहीं चला जायेगा किंतु भगवान् के पास मन नहीं लगता। यदि भूल से आ भी गया तो 10 मिनट में 10 बार घड़ी को देखेगा, कब मैं यहाँ से उठूँ और जाऊँ।

एक बार किसी महात्मा जी के पास सेठ जी आए। बोले महात्मन् ! मैंने बहुत प्रयास किया कि धर्म-ध्यान के लिए कुछ समय निकालूँ किंतु व्यापार का काम ही इतना है कि समय ही नहीं है। महात्मा जी बोले-ऐसा नहीं है, यदि आप सही में चाहें तो धर्म ध्यान के लिए समय निकाल सकते हैं। समय नहीं है, यह कहना तो सिर्फ एक बहाना है उनके लिए जो करना नहीं चाहते। यदि किसी कार्य की तीव्र इच्छा हो तो समय भी निकल ही आता है। सेठ जी ने महात्मा की पूरी बात सुनी और चले गए परंतु उनकी क्रिया-चर्या में कोई परिवर्तन नहीं आया। एक दिन महात्मा जी उसी नगर से गुजर रहे थे कि सेठ जी सामने आ गए। सेठ जी ने महात्मा जी को प्रणाम किया। महात्मा जी बोले सावधान सेठ जी ! आप की मृत्यु सात दिनों में कभी भी हो सकती है।

अब तो क्या था सेठ जी अपना सब व्यापार धंधा-भूल गए, कहने लगे मैंने उम्रभर बहुत पापार्जन किया है कम से कम अंतिम समय में तो प्रभु का नाम ले लूँ। और सात दिनों तक

धर्मध्यान में लगा रहा। जब आठवाँ दिन हुआ तो सेठ ने कुछ राहत की श्वाँस ली और सीधे महात्मा के पास पहुँचा। बोले-महात्मा जी, आप तो कह रहे थे कि मेरी मृत्यु सात दिनों के भीतर होगी पर आपके वचन असत्य कैसे हो सकते हैं। महात्मा जी बोले-मैंने सत्य कहा था तुम्हारी मृत्यु सात दिनों के भीतर ही होगी। रविवार से लेकर शनिवार तक सात दिन होते हैं और तुम्हारी क्या जिसकी भी मृत्यु होगी इन सात दिनों के भीतर ही होगी। किंतु अब आशा है मैं जो तुम्हें समझाना चाहता था वह तुम समझ गए होंगे।

सेठ जी बोले महात्मा जी ! मैं जिंदगी भर आपका उपकार नहीं भूलूँगा। सत्यता तो यह है कि मृत्यु कभी भी आ सकती है। मैं आपका यह संदेश सदैव याद रखूँगा। नीतिकारों ने भी कहा है-

अजरामरवत् प्राज्ञो, विद्यामर्थं च चिंतयेत्।
गृहीत इव केशेषु, मृत्यु का धर्ममाचरेत्॥

जब पढ़ना हो या धन कमाना हो तो 'मैं अजर अमर हूँ' यह भाव रखें किंतु धर्माचरण करना हो तो सोचें मृत्यु मेरे केशों को पकड़कर खड़ी हुई है। अर्थात् शुभस्य शीघ्रं।

धर्मात्मा व्यक्ति की यही प्रवृत्ति होती है। धर्मात्मा व्यक्ति जब धर्म के क्षेत्र में बैठता है तो उसे दीवार की घड़ी दिखायी नहीं देती, उसे तो ये दिखायी दे रहा है कि अब कितनी घड़ी मेरे जीवन की शेष रह गयीं, उन घड़ियों को सार्थक कर लो। क्या कह सकते कि हमारी आयु कितने वर्ष की है शाम तक का भी ठिकाना है या नहीं। पता नहीं वह आकाश का सूर्य अस्त पहले होगा या मेरे जीवन का सूर्य, कोई गारण्टी नहीं। इसलिये जीवन के प्रत्येक दिन को जीवन का अंतिम दिन मानकर के जीओ तो ज्यादा पाप न कर पाओगे। हर रात्रि को शाम को यह सोचकर सोओ कि ये मेरी अंतिम रात्रि है। हे भगवान् ! आज की रात्रि मेरी अच्छे से निकल गयी तो सबसे पहले तुम्हारा नाम लूँगा। सुबह उठकर भगवान् को धन्यवाद दो कि आपने पुनः अवसर दिया प्रभु आराधना का, प्रभु उपासना का। अब यदि दिन और अच्छे से निकल जायेगा तो कल भी तुम्हारे ही नाम से जीवन का सुप्रभात करूँगा। इस प्रकार संकल्प से जो व्यक्ति आगे बढ़ता है उसका जीवन मंगलमय बन जाता है।

तो महानुभाव ! इस प्रकार यह काव्य यहाँ देखा-ऐसा वह परमात्मा है ऐसा वह देवता है, वह देव मेरे हृदय में विराजमान रहे उत्कीर्ण हो जाये, जैसे पत्थर पर अक्षर उत्कीर्ण हो जाते हैं इस प्रकार भक्त भगवान् से भावना भाता है।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

तत्त्वज्ञानी सदा सुखी

महानुभाव ! समाधि साध्य है, सामायिक साधन अथवा सामायिक ही समाधि है, समाधि ही सामायिक है। बिना सामायिक के समाधि की स्थिति नहीं होती और बिना समाधि के सामायिक पूर्णता को प्राप्त नहीं होती। इस सामायिक पाठ में हम और आप देख रहे थे-16वाँ, 17वाँ काव्य जिसमें दिया था, यह शरीर तो बाहर से ग्रहण किया हुआ है, हमारा नहीं है। समयसार का दृष्टांत देखते हुये, दूसरे के कपड़े पहन रखे और जब उसने उतरवा लिये तब तुम्हें उनके प्रति विरक्ति हो गयी और स्वयं के वस्त्रों को खोजने लगे, ऐसे ही हमने शरीर जो ग्रहण कर लिया, वह पुद्गल हमारा नहीं है, हमारा वैभव तो आत्मा के अंदर है, ये भाव 16वें काव्य का देखा था 17वें में देखा था कि जो भगवान् हैं उनका ज्ञान बहुत विशद व निर्मल है लोकालोक में विद्यमान समस्त गुण द्रव्य पर्याय युगपत् झलकती हैं, जो समस्त कर्म बन्धनों से रहित है योगी ध्यान के द्वारा जिन्हें प्राप्त करने में समर्थ होते हैं यह देखा था, आज काव्य नं. 18 देखते हैं-

न स्पृश्यते कर्म कलंक दोषैः, यो ध्वान्तसङ्घैरिव तिग्म रश्मिः।
निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥१८॥

तम संघ जैसे सूर्य किरणों, को न छू सकता कहीं,
उस भाँति कर्म कलंक दोषाकर जिसे छूता नहीं।
जो है निरंजन वस्त्वपेक्षा, नित्य भी है एक है,
उस आप्त प्रभु की शरण मैं हूँ प्राप्त जो कि अनेक है॥18॥

अन्वयार्थ-[यथा=जिस प्रकार] (**ध्वान्तसंघैः इव**) अन्धकार के समूह के द्वारा (**तिग्मरश्मिः इव**) सूर्य स्पर्श नहीं किया जाता है, [तथा=उसी प्रकार] (**यः**) जो (**कर्मकलंकदोषैः**) कर्म कलंक रूपी दोषों के द्वारा (**न स्पृश्यते**) स्पर्श नहीं होते हैं, ऐसे (**निरञ्जनं**) कर्मरूपी अंजन से रहित (**नित्यम्**) नित्य/सदा ज्ञानदर्शन से युक्त रहने वाले (**अनेकम्**) अनेक और (**एकम्**) एकरूप (**तं**) उन (**आप्तं देवम्**) सर्वज्ञ भगवान् की [अहम्=मैं] (**शरणम्**) शरण को (**प्रपद्ये**) प्राप्त करता हूँ।

न स्पृश्यते-नहीं छूता जिसे, क्या? **कर्मकलंक**-कर्म कलंक, पापकर्म और पुण्य कर्म, **दोषैः**-दोषों को उत्पन्न करने वाले वैभाविक परिणाम। जिस आत्मा को द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म छू नहीं सकते। **यो ध्वान्त सङ्घैरिव तिग्म रश्मिः**-जैसे सूर्य की किरणों का समूह जब उदीयमान अवस्था को प्राप्त होता है, तो किरणों का समूह अंधकार को छूता नहीं, अंधकार ने आज तक सूर्य के बिम्ब का स्पर्श नहीं किया सूर्य की किरण आने के पहले अंधकार भाग जाता है। एक

बार यमराज के समीप अंधकार अपना रुआसा सा चेहरा लेकर के बोला-आपने सूर्य को बना तो दिया है, वह इतना अत्याचार करता है कि चैन से जीने नहीं देता, मैं कैसे जीयूँ, कैसे रहूँ? यमराज तमतमाये-बोले, मैं देखता हूँ सूर्य को, वह इतना अत्याचार करता है मैं उसे नष्ट ही किये देता हूँ। चर्चा चल रही थी कि तब तक सूर्य वहाँ आया-जैसे ही आने को हुआ अंधकार भाग गया। यमराज ने कहा-तुमको मैंने शक्ति सम्पन्न इसलिये बनाया था कि तुम निर्बल के साथ अन्याय व अत्याचार करो उन्हें कुचल दो। सूर्य ने कहा-मेरी समझ में आपकी बात नहीं आयी? यमराज बोले-तुम्हें समझ क्यों आयेगी तुम्हें अपनी शक्ति का घमण्ड है।

सूर्य कहता है लगता है आपने किसी एक पक्ष की बात सुन ली है। ऐसा ही होता है जब किसी एक पक्ष की बात सुन लो तो दूसरा पक्ष दोषी दिखाई देता है आप न्याय देने वाले हैं तो दोनों पक्षों की बात सुनो, क्या सत् है क्या असत् ये निर्णय बाद में लेना। सूर्य ने कहा मेरी भी तो बात सुनो-पहले मुझे ये समझाओ अंधकार है क्या चीज? ये किसी वृक्ष का नाम है या पक्षी का, किसी नदी का या पहाड़ का नाम है अथवा मेरे जैसे किसी विमान का नाम है? आखिर किसका नाम है।

अरे ! अंधकार तो अंधकार है। सूर्य पुनः बोला मैंने तो आज तक अंधकार को देखा ही नहीं, जाना नहीं, मैं तो उसे पहचानता भी नहीं मैंने उसे कब कुचल दिया कब अत्याचार किया। मेरे सैनिक मेरी किरणें उनसे भी मैंने पूछा-उन्होंने भी यही कहा अंधकार तो हमें आज तक दिखा ही नहीं, जहाँ हम जाते हैं उससे पहले हमें प्रकाश दिखाई देता है। सूर्य का उदय बाद में होता है, पौ पहले फट जाती है, रात्रि पहले भाग जाती है।

महानुभाव ! जैसे सूर्य को अंधकार नहीं छू सकता, ऐसे ही अर्हंत और सिद्ध परमेष्ठी को कर्म नहीं छू सकते। कर्म, संसारी प्राणियों को छूते हैं उनसे चिपक जाते हैं, उनको फल देते हैं, किंतु जो कर्मों से रहित हैं उनको नहीं छू सकते।

जो समस्त कर्मों को नाश कर विदेही बने हैं, विषय-वासनाएँ-कामनाएँ उनको छू भी नहीं सकतीं। अरिहंत परमेष्ठी जो संसार में रहकर भी संसार से अलिप्त हैं। वे तो संसार में हैं पर संसार उनमें नहीं है। स्वयं का संसार में होना खतरनाक नहीं, स्वयं में संसार का होना खतरनाक है। जो तत्त्वज्ञानी है वह संसार में है पर उसमें संचार नहीं है। आचार्य भगवन् श्री वादीभ सिंह सूरी, यह आचार्य श्री अजितसेन सूरी का उपाधिगत नाम है वादी इभ सिंह जो वादी रूपी इभ यानि हाथियों के लिए शेर के समान हैं, जिनके समक्ष कोई वादी-प्रतिवादी ठहरने में समर्थ नहीं। ऐसे तर्क-युक्ति के ज्ञाता आचार्य भगवन् कहते हैं-**''तत्त्वज्ञान हि जीवानां लोकद्वये सुखावहं''** तत्त्वज्ञान ही जीवों के लिए दोनों लोकों में सुख देने वाला है। ऐसे तत्त्वज्ञान के बिना निर्ग्रंथावस्था भी निष्फल

है। यह मैं नहीं कह रहा हूँ, आचार्य अजितसेन सूरी ही क्षत्र चूड़ामणि में कहते हैं। यह तत्त्वज्ञान ही उस दशा तक पहुँच देता है जहाँ पर कर्मों के कीट-पतंगे स्पर्श भी नहीं कर पाते।

वस्तु के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान तत्त्वज्ञान है। शरीर का स्वरूप क्या है, यह वास्तव में अपना नहीं है और जो अपना है-आत्मा, उसको आज तक अपना माना नहीं है। भौतिकता की अंधी दौड़ में निज वैभव को ही भूल बैठे। अनादिकाल से परानपेक्षी दृष्टि रखी है, विषयों में, भोगों में समय गँवाया है। जिसके पीछे आज दौड़ रहे हैं उसको तो कितनी बार प्राप्त कर चुके। परंतु उससे सुख-शांति की प्राप्ति नहीं हो सकी बल्कि संसार परिभ्रमण बढ़ता ही गया और जो सुख-शांति प्रदान करने वाला तत्त्वज्ञान है उसको आज तक प्राप्त नहीं किया। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ''समयसार'' में कहते हैं-

सुदपरिचिदाणु भूदा, सव्वस्स वि काम-भोग-बंध कहा।
एयत्तस्सुवलंभो-णवरि ण सुलभो विहत्तस्स॥४॥

काम-भोग और बंध की कथा तो चिरपरिचित है, किंतु यदि दुर्लभ है तो एकत्व विभक्त आत्मा की चर्चा दुर्लभ है।

जो आत्मतत्त्व को जानता है, तत्त्वज्ञानी है उसको संसार का कोई प्राणी दु:खी नहीं कर सकता। विश्वविजेता बनने का स्वप्न लेकर चलने वाला वह सिकंदर जब भारत पहुँचा तो भारत को भी बहुत लूटा। इसके संबंध में आता है जब उसने एक नगर को पूरी तरह लूट लिया तो अपने सेनापति सेल्यूकस से कहा कि हम इस नगर को पूर्ण रूप से लूट चुके हैं फिर भी पता लगाओ कि किसी के पास कुछ शेष तो नहीं रहा। सेल्यूकस ने युक्ति निकाली। एक सफेद घोड़ा व सुंदर राजकुमारी को नगर में भ्रमण कराया और घोषणा करा दी कि जो भी एक तांबे का सिक्का देगा उसको ये घोड़ा और राजकुमारी दोनों दे दिए जाऐंगे। जैसे ही लोगों की दृष्टि उस पर पड़ती तो ललचा उठते किंतु उनके पास एक सिक्का तक नहीं था।

एक युवक अपनी माँ के पास पहुँचा और कहने लगा-''माँ ! क्या तुम्हारे पास एक सिक्का भी नहीं है जिससे मैं वो घोड़ा और राजकुमारी प्राप्त कर सकूँ।'' माँ ने कहा ''बेटा, अगर होता तो मैं पहले ही दे देती। उस सिकंदर ने हमारे पास कुछ नहीं छोड़ा।'' लेकिन बेटा जिद पर अड़ गया तभी माँ को याद आया और बोली बेटा, अभी कुछ ही समय पूर्व तेरे पिता की मृत्यु हुई थी तब उनके शव के साथ तांबे का सिक्का भी जमीन में गाढ़ा था। वह बेटा भागा-भागा गया। कब्र खोदी और सिक्का लेकर घोड़े और राजकुमारी के पास पहुँचा। वह घोड़ा और राजकुमारी तो उसे दे दिए गए किंतु पूछा कि यह तुम्हारे पास कहाँ से आया ? बोला कब्र से। तब पूरे श्मशान घाट को खुदवा कर सिक्के निकलवाए गए।

एक बार सिकंदर बोला कि मैं अलेक्जैंडर बहुत बड़ा सम्राट हूँ। सब मेरे सामने झुकते हैं। दरबार में सब उसकी हाँ में हाँ मिला रहे थे। तभी एक व्यक्ति खड़ा हुआ और बोला "सम्राट ! आज भी कोई है जो आपको सिर नहीं झुकाते। वे हैं दिगंबर मुनि। वे अपने इष्ट-आराध्य गुरु को तो प्रणाम करते हैं परंतु और किसी को नहीं।" सिकंदर अहंकार में चूर था उसने अपने सैनिकों को दिगंबर मुनियों को बुलवाने भेजा। उस समय आचार्य दोलामस संघ सहित विराजमान थे। उन्होंने कहा कि दिगंबर साधु देव-शास्त्र-गुरु के अतिरिक्त किसी की आज्ञा में नहीं होते। सैनिक लौट गए। सम्राट ने सोचा ये बहुत बड़े व्यक्ति हैं शायद ऐसे नहीं आऐंगे। तब सिकंदर ने अपने मंत्री आदि को रत्नों के थाल लेकर भेजा। परंतु जवाब अब भी वही था।

तब सिकंदर स्वयं वहाँ गया। सर्दियों का समय था। आचार्य दोलामस संघ सहित धूप में बैठे हुए थे। सिकंदर सामने जाकर खड़ा हुआ। ऐसी निर्भीकता, सहजता को देख सिकंदर आश्चर्य चकित रह गया कि मुझे सामने खड़ा देखकर भी ये कौन है जो सहजता से बैठा हुआ है। सिकंदर ने कहा मैं सिकंदर सम्राट हूँ, मुझे सब प्रणाम करते हैं। आचार्य दोलामस बोले "पहले तो तुम सामने से हटो। तुम्हारे सामने खड़े होने से धूप रुक रही है। जिस चीज को तुम दे नहीं सकते, उसे लेने का भी तुम्हें कोई अधिकार नहीं।" सिकंदर ने तलवार निकाली और क्रोधित होकर कहा मैं अभी तुम्हारे दो टुकड़े कर देता हूँ। आचार्य महाराज बोले कि जिसके तुम दो टुकड़े करने की बात करते हो वो (शरीर) मेरा है नहीं और जो (आत्मा) मेरा है उसका तुम कुछ कर ही नहीं सकते।

इनकी आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर सिकंदर उनके चरणों में नतमस्तक हो गया।

महानुभाव ! व्यक्ति जब तक पर को अपना मानता है तब तक दु:खी ही रहता है और जब स्व-पर का भेद विज्ञान हो जाता है तब वह अत्यंत निर्भीक और सुखी हो जाता है। इसी तत्त्वज्ञान से आत्मा परम अवस्था को प्राप्त हो जाती है। यही तत्त्वज्ञान पुन: आत्मा को परमात्मा बना कर्मकलंक से दूर रखता है। परंतु आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने कहा कि इसी आत्म तत्त्व की चर्चा बहुत दुर्लभ है।

महानुभाव ! यह आत्मा तो ज्ञानमय, चेतनामय है। वह अनुभव गम्य है। जब पुण्य-पाप का अनुभव करते हैं तो इस चैतन्य चमत्कारमय, ज्ञानमय आत्मा को, प्रज्ञा से दृढ़ किया जा सकता है। आत्मा को ज्ञान के द्वारा ग्रहण कर सकते हैं। हमारे पास दो ज्ञान हैं-मति ज्ञान व श्रुतज्ञान। इंद्रिय और मन से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है और श्रुतज्ञान, मतिज्ञान पूर्वक होता है। शरीर से कुछ स्पर्श हुआ तो उस स्पर्श का तुरंत आभास हो जाता है यह मतिज्ञान है और उससे शरीर को सुख-दु:ख की अनुभूति हो रही है तो वह श्रुतज्ञान है। यह अनुभवगम्य होता है।

निगोदिया जीव को बहुत सूक्ष्म ज्ञान-लब्ध्यक्षर होता है। यह **''णिच्चुद्घाटं णिरावरणं''** नित्य उद्घाटित, निरावरण होता है। अर्थात् इससे छोटा ज्ञान नहीं हो सकता और सबसे बड़ा ज्ञान केवल ज्ञान है। तो महानुभाव ! इस सूक्ष्म आत्मा को हम ज्ञान के द्वारा ग्रहण करते हैं। और यदि उस आत्मा को जान लिया, उसमें रुचि हो गई तो फिर तीन लोक की कोई भी चीज अच्छी नहीं लगेगी। मगर आत्मा में, तत्त्वज्ञान में रुचि लगना बहुत कठिन होता है और जब अध्यात्म, तत्त्वज्ञान, रत्नत्रय में रुचि लग जाती है तो उस जीव को संसार की सारी वस्तुएँ तृण के समान प्रतीत होती हैं। इसीलिए आचार्य महाराज कहते हैं-

कम्मस्स य परिणामं, णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेदि एदमादा, जो जाणदि सो हवदि णाणी॥८०॥

अज्ञानी जीव सांसारिक वस्तुओं के पीछे भागता है। जबकि ज्ञानी जीव जानता है कि द्रव्य-भाव कर्म और नोकर्म से पृथक आत्मा है। जैसे नारियल में जब तक पानी है तब तक वह अपने कवच से चिपका रहता है और पानी सूख जाने के बाद वह उस कवच से अलग हो जाता है, उसे हिलाओ तो वह गोला अंदर ही अंदर हिलने लगता है, उसकी आवाज बाहर आती है। यानि नारियल का गोला अलग और उसका आवरण अलग हो जाता है फिर उससे चिपकता नहीं है। इसी प्रकार कर्म सूखने के बाद आत्मा अलग और शरीर अलग है, इसका भेद ज्ञान होता है।

तो वह परमात्मा जिसके सर्व कर्म अवशोषित हो गए, सूख गए, नष्ट हो गए अब वे उन कर्म मलों से अत्यंत दूर हैं, विलग हैं। वे कर्म तो अब उनका स्पर्श भी नहीं कर सकते।

यही बात यहाँ कह रहे हैं-''यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्म रश्मि:' जो अंधकार के समूह के द्वारा कभी स्पर्श नहीं किया गया हो, जैसे सूर्य कभी अंधकार से स्पर्शित नहीं हुआ है ऐसे ही कर्म कलंक दोषों ने जिन अरिहंत सिद्ध परमात्मा को छूआ भी नहीं है, वे निर्दोष हैं, ऐसे वे अरिहंत भगवान् तथा निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं-जो परमात्मा कर्म के अंजन से रहित हैं, जो परमात्मा नित्य हैं, मरणशील नहीं हैं उसकी आत्मा शाश्वत है तथा जो परमात्मा एक रूप भी है, अनेक रूप भी है। पर्याय की अपेक्षा से अनेक रूप है, द्रव्य की अपेक्षा से एक रूप है अथवा ''संज्ञा'' परमात्मा की एक है, परमात्मा अनंत हैं, अनंतानंत सिद्ध परमेष्ठी हैं। मैं उस परमात्मा की शरण को प्राप्त होता हूँ। इस प्रकार 18वें काव्य का अर्थ यहाँ पर हुआ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

दीया तत्त्व ज्ञान का बारो

विभासते यत्र मरीचिमाली, न विद्यमाने भुवनावभासी,
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं, तं देव-माप्तं शरणं प्रपद्ये॥१९॥

यह दिवस नायक लोक का, जिसमें कभी रहता नहीं,
त्रैलोक्य भाषक ज्ञान रवि, पर है वहाँ रहता सही।
जो देव स्वात्मा में सदा, स्थिर रूपता को प्राप्त है,
मैं हूँ उसी की शरण में, जो देववर है आप्त है॥19॥

अन्वयार्थ-(**भुवनावभासि**) संसार को प्रकाशित करने वाला (**मरीचिमाली**) सूर्य (**यत्र**) जहाँ (**भवतः**) आपके (**विद्यमाने ''सति''**) विद्यमान रहने पर (**न विभासते**) शोभा नहीं पाता है, ऐसे (**स्वात्मस्थितम्**) अपनी आत्मा में स्थित (**बोधमयप्रकाशम्**) ज्ञानमय प्रकाशित होने वाले (**तं**) उन (**आप्तं देवम्**) सर्वदर्शी भगवान् की (**शरणं**) शरण को (**प्रपद्ये**) प्राप्त होता हूँ।

जिस परमात्मा की शरण पाते ही आत्मा परमात्मा बनने लगती है तो वह कैसा है परमात्मा फिर से बताते हैं-जो तीनों लोकों को आलोकित करने वाला है, प्रकाशित करने वाला है ऐसा परमात्मा है किंतु उस परमात्मा की आत्मा में सूर्य नहीं है। जो सहस्ररश्मि है मरीचिमाली है वह सूर्य नहीं है वह कौन सा सूर्य है-केवलज्ञान रूपी सूर्य है। बाहर के सूर्य से तो केवल बाहर का अंधकार मिटता है जम्बूद्वीप में दो सूर्य दो चन्द्रमा हैं और आगे-आगे द्वीपों में सूर्य चन्द्रमा बढ़ते चले गये, तो वे सूर्यचन्द्र बाहर के अंधकार को दूर कर सकते हैं किन्तु आत्मा के अंधकार को दूर नहीं कर सकते। आत्मा का अंधकार तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के माध्यम से ही दूर होता है। ज्ञान का प्रकाश जब होता है तब अज्ञान का अंधकार दूर होता है और ज्ञान का प्रकाश कहाँ से मिलेगा? जहाँ पर ज्ञानपुंज है।

यदि दीपक आपको जलाना है तो दीपक ऐसे नहीं जल सकता या तो दीपक को किसी माचिस के माध्यम से जलाओ या फिर किसी जलते हुये दीपक से जलाओ। ऐसे ही हमारा दीप यदि बुझा हुआ है तो केवलज्ञानी भगवान् की शरण में पहुँचकर हमारी बुझी हुयी ज्योति भी जल सकती है या हमारे पास कोई माचिस हो। आचार्य, उपाध्याय, साधु हमें कोई विधि बतायें, साधना बतायें कि ऐसे कर्मों का क्षय करते जाओ जिससे हमारी आत्मा में ज्योति प्रकट हो जायेगी। जैसे चकमक पत्थर होता है या और कोई लाइटर आदि जिससे आग जला सकते हैं या गर्मी में बांस रगड़ने से आग जल जाती है, ये सब साधन हैं बिना साधन के कोई बुझा दीपक जल नहीं सकता,

कोई न कोई निमित्त तो चाहिये। तो हमारी आत्मा में केवलज्ञान रूपी ज्योति बुझी पड़ी है किन्तु जल सकती है यदि किसी केवली की शरण को प्राप्त हो जायेंगे।

तो महानुभाव ! अज्ञान दु:ख का कारण है और ज्ञान सुख का कारण है। अज्ञान तिमिर है और ज्ञान आलोक, अज्ञान विष है और ज्ञान अमृत अज्ञान मृत्यु है और ज्ञान अमरता क्योंकि व्यक्ति जब तक अज्ञानी रहता है तब तक संसार में परिभ्रमण करता है और जब ज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है, केवलज्ञान रूपी ज्योति प्रज्ज्वलित हो जाती है तो वह शिवत्व को, अमरता को प्राप्त हो जाता है। जैसे दीपक जलाते ही अंधेरा दूर हो जाता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने पर अज्ञान दूर हो जाता है और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने पर जीव सुखी हो जाता है।

भर्तृहरि ने विद्या व ज्ञान से वंचित मनुष्यों को शरीरधारी मृग (पशु) कहा है-

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्म:।
ते मृत्युलोके भुविभारभूता, मनुष्य रूपेण मृगाश्चरंति॥

अत: प्रत्येक मनुष्य को ज्ञान युक्त होना चाहिए। किंतु वह ज्ञान कैसा हो ? ज्ञान के विषय में यह अत्यावश्यक है कि वह हितानुबंधी होना चाहिए **'हितानुबन्धि ज्ञानम्'**। क्योंकि इसे आलोक अथवा प्रकाश कहा है। प्रकाश अग्नि से, सूर्य से और दीपक से भी मिलता है, यदि कोई दीपक से पदार्थ दर्शन के स्थान पर अपने वस्त्र जला ले तो यह उसका दुरुपयोग होगा। एक व्यक्ति अग्नि के माध्यम से प्रकाश में पदार्थावलोकन कर रहा है, कोई भोजन बना रहा है, कोई हाथ ताप रहा है और कोई उससे कुटिया में आग लगा ले तो इसमें अग्नि का क्या दोष? यदि विज्ञान से विध्वंसक प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण किया जाता है और निर्माण अथवा मानवकल्याण में उसको विस्मृत किया जाता है तो यह दीपक लेकर कुएँ में गिरने के समान होगा, इसे ही कहते हैं ''हेयोपादेय विज्ञान।'' यदि ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् भी इतनी उपलब्धि नहीं हुई तो पाठ शुक पाठ ही रहा।

ज्ञान की उपासना में मनुष्य को शास्त्राग्नि में प्रवेश करना पड़ता है, यदि ज्ञान प्राप्ति में अपने को तपाया नहीं, श्रम तथा तप की अग्नि की साक्षात् उपासना नहीं की तो वह ज्ञान ''अदु:खभावितं ज्ञान'' है। ज्ञान को तप द्वारा पाने से वह आगे तप्त नहीं होता, ज्ञान में संसार के सभी दु:खों का चिंतन कर लेने पर ज्ञान दु:खों से परित्राण करने में समर्थ होता है। कच्चा कुंभ जैसे जलस्पर्श से विगलित हो जाता है वैसे ही कोरा ज्ञान दु:ख की आँच में दग्ध हो जाता है। अत: परिपक्व ज्ञान प्राप्ति का उपाय-चिंतन करना है।

यहाँ परमात्म-द्वात्रिंशतिका ग्रंथ का वाचन चल रहा है। यह आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामी द्वारा रचित ग्रंथ दही के समान है इसका वाचन रई है व स्वाध्याय मक्खन है। यह मक्खन

अभीक्ष्णता का शुभ फल है। मथानी बार-बार न घूमे तो दही अपने मर्म को कभी नहीं खोलेगा, वह अपनी स्निग्धता गहराई में छिपाये रहेगा। परंतु जब नवनीत दही में से ऊपर निकलकर आ जाता है, स्निग्ध और अस्निग्ध अलग-अलग हो जाता है यही मंथन है। और यही है स्वाध्याय का भेद विज्ञान।

इसलिए तो आचार्यों ने कहा कि जिसके पास तत्त्वज्ञान है वह नरक में भी सुखी है और यदि तत्त्वज्ञानी नहीं है, मिथ्यादृष्टि है तो स्वर्ग में रहकर भी दु:खी है। अत: आत्मतत्त्व का चिंतन आवश्यक है।

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी रयणसार में लिखते हैं-

मिच्छंधयार-रहिदं, हिय मज्झं सम्म रयण दीव कलावं।
जो पज्जलदि स दीसदि, सम्मं लोयत्तयं जिणुद्दिट्ठं॥१६०॥

जिनेन्द्र भगवन् ने कहा है कि अपना हृदय मिथ्यात्वरूपी अंधकार से रहित होना चाहिए। उसमें सम्यक्त्व रूपी दीप को जलाना चाहिए। जैसे दीपक जलाने से अंधेरा दूर होता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान भी एक दीपक है, जिससे मिथ्यात्व रूपी अंधकार दूर होता है।

हाथ में एक दीया लेकर चलते हैं तो आप अंधेरे में भी आराम से चल सकते हैं और यदि रास्ता अंधकारमय है और आपके हाथ में दीया नहीं है तो रास्ते में कहाँ गड्ढा है, ऊबड़-खाबड़ है, दिखाई नहीं देता, आपको चलने में मुश्किल होती है। यदि दीया हो तो आदमी निर्भय होकर सन्मार्ग पर आगे बढ़ता है। **''णाणं पयासओ''** अर्थात् ज्ञान भी अंत:करण में प्रकाश पैदा करता है। तीन लोकों को भलीभाँति देखने की शक्ति होती है ज्ञान में, ऐसा आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी कहते हैं। ज्ञान ही वह सूर्य है जिसके आलोक में आत्मा को अनस्तमित (कभी अस्त न होने वाले) दिन की प्रतीति होती है।

अत: आचार्य गुणभद्र स्वामी जी ने आत्मानुशासन की 94वें श्लोक में कहा है ऐसा यह ज्ञान प्रज्ञा अत्यंत दुर्लभ है और यदि इसे इस जन्म में प्राप्त नहीं किया तो अन्य जन्म में यह अत्यंत दुर्लभ है क्योंकि अन्य जन्म मनुष्य पर्यायवान् हो यह लिखित प्रमाण-पत्र नहीं है। इस एक जन्म का प्रमाद कितने इतर जन्मों के अंतर विशोधनीय हो, यह अनिर्वचनीय है। यह ज्ञान मनुष्य भव में प्राप्त हो सकता है।

एक बार एक चोर किसी का घोड़ा चुराकर भाग गया। वह दूसरे नगर में एक घोड़ा-विक्रेता के रूप में पहुँचा। चौराहे पर खड़े होकर आवाज लगाने लगा कि यह घोड़ा द्रुतगामी है, हृष्ट-पुष्ट है, कौन इसको लेना चाहता है? उसकी आवाज सुनकर एक व्यक्ति उसके पास पहुँचा। बोला भैया

ये घोड़ा कितने का है? उसका प्रश्न सुनकर वह चोर अचंभित हो गया। उसने कभी घोड़े बेचे हों तो मूल्य बताए। एकदम सम्हलता हुआ बोला तुम बताओ कितने में लोगे? वह व्यक्ति बोला मैं तो इस घोड़े के 250 रुपये दे सकता हूँ। इतने में देना चाहते हो तो दो। चोर कुछ सोचते हुए बोला नहीं-नहीं इतने कम दाम में, मैं नहीं दे सकता। वह व्यक्ति बोला तो 300 रुपये ले लो। चोर सोचने लगा, कि इतने में एक व्यक्ति आया और बोला भाई साहब मैं इस घोड़े के 500 रुपये दे सकता हूँ।

चोर को लगा जब 250 से 500 हो सकते हैं तो थोड़ा धैर्य रख लूँ शायद और ज्यादा मिल जाऐं। चोर बोला नहीं, यह घोड़े की विशेष नस्ल है, अच्छे दाम में ही दूँगा। वे दोनों व्यक्ति चले गए। कुछ समय बाद एक व्यक्ति और आया उसने हजार रुपये तक कह दिए परंतु चोर ने मना कर दिया। थोड़ी देर पश्चात् एक व्यक्ति आया उसने पंद्रह सौ रुपये कह दिए। चोर ने सोचा जब इतने बढ़ गए तो और बढ़ जाऐंगे। और उसको भी मना कर दिया। तभी थोड़ी देर में एक व्यक्ति और आया बोला मैं मुँह माँगे दाम दूँगा, परंतु इस घोड़े का परीक्षण तो कर लूँ। चोर ने घोड़ा उसे परीक्षण हेतु दिया। बोला एक बार सवारी कर देखता हूँ। चोर को खड़े-खड़े घंटे बीत गये किंतु वह परीक्षक नहीं आया। जब सुबह हुई तो चोर सिर पर हाथ रख बैठ गया, सोचा वह तो मुझसे भी बुद्धिमान निकला, चोर से चोरी कर ले गया।

तभी जिस व्यक्ति ने घोड़े के पंद्रह सौ रुपये बोले थे वह सामने से निकला बोला क्यों भाई साहब, बिक गया आपका घोड़ा, कितने में गया? वह चोर अब क्या कहे, बोला भाई साहब! जितने में आया था, उतने में चला गया।

महानुभाव ! ऐसे ही यह मनुष्य पर्याय है। इसमें सम्यग्ज्ञान का दीप प्रज्ज्वलित कर लो वरना ऐसा न हो यह मनुष्य पर्याय भी जैसी आयी थी, वैसे ही चली जाए। विद्या के विषय में किसी ने बहुत मार्मिक सूक्ति लिखते हुए कहा-''विद्या या ज्ञान सौ बार के अभ्यास से आती है और सहस्रबार किए गए अभ्यास से स्थिर होती है। यदि उसे सहस्र बार, सहस्र से गुणित किया जा सके तो इस जन्म में तथा जन्मान्तर में भी साथ नहीं छोड़ती।'' अतः तत्त्व का चिंतन, आत्मा का चिंतन मुहुर्मुहु किया जाना चाहिए। **''न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते''** ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है। स्व पर विवेक, हेयोपादेय-विज्ञान, आत्मरति तथा परविरति ज्ञानोद्भव से ही होती है। तभी तो कहा है-

येऽभ्यासयन्ति कथयन्ति विचारयन्ति।
संभावयन्ति च मुहुर्मुहुरात्मतत्त्वम्॥

आप उठते, बैठते सतत् आत्मा का विचार करें, उस पर चर्चा करें। जो संसार के बाह्य पदार्थों में ही मन उलझाए रखे, देह और आत्मा को एक समझे वह बहिरात्मा है। जो आत्मतत्त्व को जान लेता है अंतरात्मा है और जो स्वयं ज्ञानमय है, सर्व कर्म विमुक्त है वह परमात्मा है। अपने ज्ञान से तीनों लोकों को आलोकित करने वाला है। उनके ज्ञान में सब कुछ स्पष्ट झलकता है। जिस प्रकार दर्पण के सामने रखी सभी वस्तुएँ उसमें प्रतिबिंबित होती हैं परंतु दर्पण उदासीन रहता है, उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। उसी प्रकार केवलज्ञानी प्रभु के ज्ञान में सब स्पष्ट झलकता है परंतु वे स्वयं में लीन रहते हैं। दर्पण के सामने कोई मुँह चिढ़ाए या प्रसन्न हो इससे दर्पण को कोई फर्क नहीं पड़ता इसी प्रकार वीतरागी, सर्वज्ञ प्रभु की कोई पूजार्चना करे या कोई उनसे द्वेष करे इससे उन्हें कोई अंतर नहीं पड़ता। वे स्वात्मा में स्थित हैं, लीन हैं। यही आचार्य भगवन् यहाँ कह रहे हैं-

स्वात्मस्थितं प्रकाशं-और वह परमात्मा कैसा है-जो अपनी आत्मा में ठहरा है। लोग कहते हैं विश्व में व्याप्त है ऐसा नहीं है, परमात्मा अपनी आत्मा में लीन है, उसका एक प्रदेश भी बाहर नहीं है किन्तु उसकी आत्मा में सब झलकता है, दर्पण सामने रखा हो तो दर्पण पदार्थ में नहीं गया वे पदार्थ सब दर्पण में झलकते हैं ऐसे ही भगवान् की आत्मा संसार के पदार्थों में नहीं गयी, अपितु संसार के सभी पदार्थ भगवान् की आत्मा में झलकते हैं 'बोधमयप्रकाशं'-जो ज्ञानमय है जिसकी आत्मा में ज्ञान ही ज्ञान का प्रकाश है **तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये**-ऐसे आप्त प्रभु की शरण मैं प्राप्त होता हूँ। इस प्रकार यह काव्य यहाँ पूर्णता को प्राप्त हुआ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

आत्मा का स्वरूप

महानुभाव ! अभी तक आचार्य महोदय भगवान् को विभिन्न रूपों से देख रहे हैं। जैसे किसी एक वस्तु को अलग-अलग ऐंगल से देखने पर वह अनेक-अनेक प्रकार से दिखाई देती है, ऐसे ही एक व्यक्ति को अनेक-अनेक प्रकार से देखने पर वह भी अलग-अलग दिखाई देता है। यह जरूरी नहीं है कि किसी के सभी रूप आपके मन को भा जायें। ये जरूरी नहीं है कि किसी के सब रूपों पर आप न्यौछावर हो जाओ और सभी रूप आपके चित्त को लुभायें। एक ही व्यक्ति को हजारों चाहने वाले मिलेंगे किंतु उस एक व्यक्ति के हजार रूप हैं तो वह अलग-अलग प्रकार से।

एक ही व्यक्ति की 100 फोटो रख दी जायें और कहें-कि आप इनमें से पसंद करो तो किसी को कोई फोटो पसंद आयेगी किसी को दूसरी। व्यक्ति एक ही, पर फोटो सबको अलग-अलग पसंद क्यों आयी। अलग-अलग ऐंगल से देखने पर अलग-अलग गुण दिखाई दिये। ऐसे ही अरिहंत भगवान् के लिये अपने हृदय में स्थापित करने के लिये भक्त आतुर है। आचार्य महोदय कह रहे हैं मैं उस आप्त प्रभु की शरण में हूँ। पहले कह रहे थे-वे आप्त मेरे हृदय में आकर विराजमान हों, अब कह रहे हैं मैं उनके चरणों की शरण में हूँ।

''तव पादौ मम हृदये, मम हृदये तव पदद्वये लीनम्''

बस इतनी सी बात कह रहे हैं। चार-पाँच काव्यों में इसी बात को कहा। मैं जिस भगवान् की शरण को प्राप्त हो रहा हूँ उन भगवान् की ही विशेषता बता रहे हैं-

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं, विलोक्यते स्पष्ट मिदं विविक्तम्।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं, तं देव माप्तं शरणं प्रपद्ये॥२०॥

अवलोकने पर ज्ञान में, जिसके सकल संसार ही,
है स्पष्ट दिखता एक से, है दूसरा मिलकर नहीं।
जो शुद्ध शिव है शांत भी है नित्यता को प्राप्त है,
उसकी शरण को प्राप्त हूँ, जो देववर है आप्त है।।20।।

अन्वयार्थ-(**यत्र**) जिसके (**विलोक्यमाने सति**) अवलोकन करने पर (**इदम्**) यह (**विश्वम्**) सम्पूर्ण विश्व (**स्पष्टम्**) प्रत्यक्ष रूप से (**विविक्तम्**) अलग-अलग (**विलोक्यते**) दृष्टिगोचर होता है, ऐसे (**तं शुद्धम्**) उन शुद्ध (**शिवम्**) मोक्ष (**शान्तम्**) शान्तस्वरूप (**अनादि-अनन्तम्**) आदि-अन्त से रहित (**आप्तं देवम्**) परमात्मा की (**शरणं**) शरण को (**प्रपद्ये**) प्राप्त होता हूँ।

हम उस आप्त प्रभु की शरण में जाना चाहते हैं जिसके पास इतना अनंत ज्ञान है कि समस्त पदार्थ, ऐसा एक भी परमाणु नहीं उस एक परमाणु की एक भी ऐसी पर्याय नहीं जो उसके ज्ञान में नहीं झलकती हो। और **विलोक्य स्पष्टमिदं विविक्तम्**-विविक्तं अर्थात् एक-एक, स्पष्ट अर्थात् ज्ञान में कहीं कोई मलिनता नहीं। स्पष्ट, निर्मल, निर्दोष, दिखती हैं।

जिस महापुरुष परमात्मा के ज्ञान में पहली बात तो ये है पूरा संसार झलकता है वह देखता नहीं है। जो देखता नहीं, जानता नहीं किंतु फिर भी जिसके ज्ञान-दर्शन में झलकता है, देखने जानने का पुरुषार्थ तो कोई छद्मस्थ करता है, केवलज्ञानी कोई पुरुषार्थ नहीं करते। अतीत-अनागत सभी पर्याय एक साथ झलकती हैं। एक-एक द्रव्य गुण सबकी पर्याय झलक रही हैं तथा जो परमात्मा शुद्ध है जिसमें किंचित् भी अशुद्धि नहीं बची, न तो पाप कर्म की कोई कालिमा रह गयी, न कोई विषय कषाय शेष रह गयी है न और कोई कर्म प्रकृति संसार कारण जिससे शेष है ऐसा कुछ भी नहीं।

जो शिव है, जो या तो मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं या मोक्ष को प्राप्त करने वाले हैं ऐसे अरिहंत-सिद्ध, वे अरिहंत शुद्ध हैं और शांत हैं। शांत वही होता है जो अपने आप में रहता है। जो पर में भटकता है वह नियम से अशांत रहता है। पर में लीन रहने वाला व्यक्ति कभी शांत रह नहीं सकता और निज में लीन रहने वाला व्यक्ति कभी अशांत रह नहीं सकता। जिसकी आत्मा, आत्मा में लीन हो गयी उसी ने शांति का अनुभव कर लिया, जिसकी आत्मा अभी पर द्रव्यों में भटक रही है, उसे कभी शांति मिल नहीं सकती।

तो परमात्मा कहाँ पहुँच गया, परमात्मा अपने घर में पहुँच गया इसलिये शांत है, तुम भी अपने घर में पहुँच जाओ तो शांत हो जाओगे। पर पर्याय, पर द्रव्य में जाओगे तो तुम भी अशांत हो जाओगे। तो जो सिद्ध है, शिव है, शांत है, नित्यता को प्राप्त है-अर्थात् अनादि अनंत है। हमारी आत्मा अनादि से है। हमारी आत्मा का निर्माण किसी फैक्ट्री में नहीं हुआ। चार्वाक दर्शन कहता है-

यावज्जीवं सुखं जीवेत्, ऋणं घृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥५४॥

खूब मौज मस्ती करो, कर्जा लेकर खूब खाओ-पिओ, जब मर जाओगे तब दोबारा लौटकर थोड़े ही न आना है। चार्वाक दर्शन आत्मा को नहीं मानता। आचार्य महाराज ने इसके लिए तर्क दिया। चार्वाक दर्शन कहता है कि मैं आत्मा को नहीं मानता हूँ। तो ये बताइए कि ये कौन कह रहा है-''मैं आत्मा को नहीं मानता?'' शरीर कह रहा है तो मुर्दा तो बोलता नहीं क्योंकि शरीर तो जड़ है। इसीलिए 'नहीं' कहने में भी आधिभौतिक आध्यात्मिक है। स्वयं रहते हुए भी स्वयं

को नहीं कहना कि मैं नहीं हूँ, तो इस बात को कैसे माना जाए ? इस तरह से बहुत से दर्शन हैं। वे मानते हैं कि-

भू जल पावक गगन समीरा, पंच तत्त्व रचि अधम शरीरा।

इन पाँच चीजों से आत्मा बन जाती है। तो पुनः उनके लिये कहा-एक व्यक्ति चूल्हे पर बटोही रखकर दाल पका रहा है, उसमें से मनुष्य पैदा हो जाना चाहिये? बोले क्यों? क्योंकि वह चूल्हा-मिट्टी का है तो मिट्टी, बटोही में जल है ही, अग्नि भी जल रही है, हवा भी चल रही है समीरा फूंक लगा रहा है, आकाश तो सर्वत्र विद्यमान है ही। पाँचों चीज विद्यमान हैं तो उसमें आदमी खड़े होकर क्यों नहीं आ जाते। जब पाँचों-चीजों से आत्मा बनती है तो बन जाना चाहिये। तो कहा-ऐसे आत्मा नहीं बनती। आत्मा कैसी है? अनादि काल से है। ये आत्मा की एक पर्याय है।

जैसे कोई एक रोड सीधा जा रहा हो, दिल्ली से लेकर बम्बई तक, बीच-बीच में एक गाँव पड़ गया, पुल आ गया, नदी आ गयी, ऐसे ही अलग-अलग टुकड़े में देखें आत्मा को, तो यह हमारी टुकड़े की पर्याय है जन्म से लेकर मृत्यु तक। किन्तु आत्मा अनुस्यूत चली आ रही है अनादि काल से अनंत काल तक। अगली पर्याय एक समय लेकर आयी अगले समय में दूसरी पर्याय। जैसे एक ही पुरुष पेंट शर्ट पहन ले, कभी कुर्ता पाजामा पहन ले कभी धोती दुपट्टा पहन ले तो ये उसकी अलग-अलग ड्रेस हो गयी। ऐसे ही आत्मा तो वो एक ही है, ये तो ड्रेस हैं। जब शरीर बदलेगा तो कभी चींटी का शरीर तो कभी हाथी का शरीर, कभी व्यंतर का, कभी नारकी का कभी किसी का तो ये सब अलग-अलग ड्रेस हैं, जैसे वह आदमी एक है, पर ड्रेस अलग-अलग पहन रहा है ऐसे ही आत्मा भी एक है, पर ड्रेस अलग-अलग पहनता है।

महानुभाव ! आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने समयसार ग्रंथ में कहा-

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥५४॥

जो रस रहित है, रूप रहित है, गंध रहित है, इंद्रियों के अगोचर है, चेतना गुण से युक्त है, शब्द रहित है, किसी चिह्न या इंद्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता और जिसका आकार बताया नहीं जा सकता, उसे जीव (आत्मा) जानो। इस आत्मा को पहचानना सरल नहीं है क्योंकि आचार्य महाराज कहते हैं कि बाहरी चिह्नों से आत्मा को पहचाना नहीं जा सकता। आप जानते हैं कि डॉक्टर मरणासन्न व्यक्ति का पूर्णतया मेडिकल चेकअप करके उसे मृत घोषित कर देते हैं। किंतु कभी-कभी ऐसा हुआ है कि वह व्यक्ति जिसे मृत घोषित किया था श्मशान भूमि में पहुँच भी नहीं पाया कि उठकर बैठ गया। ऐसी कई घटनाएँ पढ़ने-सुनने में आईं। इसीलिए शास्त्रों में कहा

कि बाहरी चिह्नों से आत्मा को नहीं पहचाना जा सकता। विषापहार स्तोत्र में भी कहा है ''अशब्दमस्पर्शमरूपगंधं'' इत्यादि बाहरी चिह्नों से आत्मा को नहीं जान सकते क्योंकि यह तो अनुभवगम्य है। आत्मा अमूर्तिक है, ज्ञानमय है, स्वसंवेदनशील है। अतः इसका अनुभव करना होगा।

आचार्य भगवन् श्री अमृतचंद्र स्वामी मंगलाचरण में लिखते हैं ''नमः समयसाराय'। समयसार को नमस्कार हो। समयसार ग्रंथ भी है, हमारी अपनी आत्मा भी है और परमात्मा भी है। ''स्वानुभूत्या चकाशते।'' इतने लोग हैं यदि एक व्यक्ति कुछ खा रहा है तो उसका स्वाद केवल वह ही ले सकेगा, आस-पड़ोस वाले नहीं। सबका अपना अनुभव होता है। आचार्य महाराज कहते हैं कि अपनी अनुभूति ही अपने काम आएगी। व्यक्ति दुःख में किसी को सांत्वना तो दे सकता है किंतु जो उसे झेल रहा है उसके अतिरिक्त कोई उस दुःख का अनुभव नहीं कर सकता। किसी के बहुत तेज दर्द हो रहा हो तो व्यक्ति भले ही कह दे ''मैं समझ सकता हूँ कि दर्द कितनी तेज होता है'' परंतु वह उसका अनुभव नहीं कर सकता। एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को अपनी अनुभूति नहीं दे सकता, वह मात्र बता सकता है।

एक व्यक्ति ने आम खाया। दूसरे ने पूछा कैसा है। कहा-बहुत मीठा। बता तो कितना ही दे परंतु उसकी अनुभूति शब्दों में बयान नहीं कर सकता। अनूभूति लेनी हो तो स्वयं भी आम खाओ। आचार्य महाराज कहते हैं कि शब्द जहाँ घुटने टेक देते हैं, वहाँ से अनुभूति शुरू होती है। मुँह में मिठाई रखते समय, चम्मच भी मुँह के अंदर तक जाता है और बाहर निकल आता है उसके आगे तो सिर्फ मिठाई ही जा सकती है।

एक बार दो बालक जिनमें से एक लगभग 5 वर्ष का और दूसरा सात वर्ष का था। उनकी माँ ने लड्डू बनाए और दोनों को एक-एक लड्डू दे दिया। छोटे वाले बालक ने अपना लड्डू जल्दी से खा लिया और पहुँच गया बड़े भाई के पास। बड़े भाई से बोला-''भैया ! आपने लड्डू नहीं खाया, जरा दिखाना। बड़े भाई ने अपना हाथ आगे कर जैसे ही लड्डू दिखाया, छोटे वाला तो उसे लेकर भाग गया और तुरंत मुँह में रख लिया। बड़ा भाई भी कम नहीं था उसने भाई के दोनों गाल दबाए और लड्डू निकलवा लिया। बड़े भाई ने लड्डू हाथ में लिया और बोला-बड़ा बुद्धिमान् समझता है स्वयं को, देख, मैंने तुझे लड्डू खाने तो नहीं दिया, निकलवा लिया ना। छोटा भाई भी कम नहीं था बोला ''भैया, तूने मेरे मुँह से लड्डू तो निकलवा लिया लेकिन उसकी जो मिठास मेरे मुँह में है, उसको तो तू निकलवा ही नहीं सकता।

महानुभाव ! यह मिठास है, अनुभव ! जो कोई दे नहीं सकता और ले भी नहीं सकता। यहाँ वाचना में बैठने के बाद बाहर जाकर शब्द साथ पहुँचे या न पहुँचे परंतु जो आनंद यहाँ आ रहा

है, जिस मिठास का अनुभव किया है वह तो कोई छीन ही नहीं सकता। आत्मा भी ऐसे ही अनुभवगम्य है और परमात्मा ने उस आत्मा को जान लिया व उसी में स्थित हुए।

परमात्मा जो सर्वज्ञ है। कोई मत तो सर्वज्ञ के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करते हैं। तो इसके लिए आचार्य भगवन् श्री विद्यानन्दि स्वामी ने श्री तत्त्वार्थ सूत्र पर एक वार्तिक लिखा-तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक जिसमें न्याय की भाषा का प्रयोग किया। वहाँ किसी अन्य मतावलंबी ने कहा कि सर्वज्ञ नाम का कुछ भी इस पृथ्वी पर न था और न है। तब आचार्य महाराज ने कहा कि यदि सर्वज्ञ नाम का कुछ भी इस पृथ्वी पर नहीं है तो यह सर्वज्ञ शब्द ही कहाँ से और क्यों आया? यदि किसी का नाम है तो वह वस्तु या व्यक्ति भी कभी न कभी होगा ही। और दूसरी बात सर्वज्ञ का अर्थ है तीनों लोकों की, तीन कालों की बातों को जो युगपत् जानता है। तुम कह रहे हो सर्वज्ञ न था और न होगा। तब तो तुम्हीं सर्वज्ञ हो गए क्योंकि तुम्हीं सब जान रहे हो।

महानुभाव कुल 363 अलग-अलग मत हैं। मोक्ष के विषय में कई विभिन्नताएँ हैं। कोई कहता है सिर्फ ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होगी, कोई कहता है कि सिर्फ श्रद्धा से अन्य किसी की आवश्यकता नहीं तो कोई कहता है ज्ञान, श्रद्धा फालतू की चीजें हैं चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होगी। जैनदर्शन में अनेकांतवाद है। अन्य मत और जैन दर्शन में विभिन्नताओं को तर्क और युक्ति से आगम ग्रंथों में बताया गया है। परीक्षामुखसूत्र, न्यायदीपिका, प्रमेयकमलमार्तंड, आप्त परीक्षा, आप्त मीमांसा आदि कई न्यायग्रंथ हैं। जिनका अध्ययन कर भलीभाँति जाना जा सकता है।

तो बात चल रही थी कि आत्मा अनुभव गम्य है और जिस परमात्मा ने अनादि अनंत आत्मा को जान लिया, अपनी आत्मा को जान करके शांत सिद्ध शुद्ध शिव अवस्था को प्राप्त हैं। **'तं देवमाप्तंशरणंप्रपद्ये'**-उस आप्त, सच्चे देव अरिहंत सिद्ध उनकी शरण को मैं प्राप्त होता हूँ। यहाँ प्रपद्ये कहा पद्यामि नहीं कहा। यहाँ पर भी आत्मनि पद लगाया, शरण को प्राप्त होने का फल मुझे मिले। कोई भी भक्ति की क्रिया करें तो वास्तव में आत्मनि पद में कहना चाहिये। हे जिनेन्द्र देव ! 'वंदामि' नहीं 'वन्दे' कहना चाहिये। मेरी वंदना का फल मुझे मिलेगा। यहाँ इसलिये प्रपद्ये कहा।

इस काव्य में यही कहा है कि जो परमात्मा शुद्ध है, सिद्ध है, अनादि है, नित्य है तथा जिसके ज्ञान में संसार का एक-एक द्रव्य, एक-एक परमाणु स्पष्ट दिखता है और उसकी अनंत पर्याय एक साथ झलकती हैं, जिसके पास पूरे अलोकाकाश-लोकाकाश का ज्ञान है उस परमात्मा की शरण को मैं प्राप्त होता हूँ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

मैं भी तुम जैसा बनूँ

येनक्षता मन्मथमानमूर्च्छा, विषादनिद्राभय-शोक-चिन्ता।
क्षयोऽनलेनेव तरुप्रपंचस्तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥२१॥

वृक्षावलि जैसे अनल की, लपट से रहती नहीं,
त्यों शोक मन्मथ मान को, रहने दिया जिसने नहीं।
भय मोह नींद विषाद चिन्ता, भी न जिसको व्याप्त है,
उसकी शरण में हूँ गिरा, जो देववर है आप्त है॥21॥

अन्वयार्थ-(**यथा**) जिस प्रकार (**अनलेन**) अग्नि के द्वारा (**तरुप्रपञ्चः इव**) वृक्षों के समूह को नष्ट कर दिया जाता है, (**तथा**) उसी तरह (**येन**) जिसके द्वारा (**मन्मथमानमूर्च्छाविषादनिद्राभय शोकचिन्ताः**) काम, मान, मूर्च्छा, विषाद, निद्रा, भय, शोक और चिन्ता आदि समस्त दोष (**क्षयः**) नष्ट कर दिये गये हैं, ऐसे (**तं**) उन (**आप्तं देवम्**) अरिहंत भगवान् की (**शरणम्**) शरण को (**प्रपद्ये**) प्राप्त होता हूँ।

यहाँ पर भी उस आप्त की विशेषता बताते हुये कह रहे हैं, मैं उस परमात्मा की शरण में जाता हूँ-किसकी शरण में ? जिसमें ऐसी-ऐसी विशेषतायें हैं। यदि ऐसी विशेषता नहीं है तो मैं नामी (नामधारी) किसी देवता की पूजा नहीं करता। किसी ने अपना नाम रख लिया महावीर। तो मैं उस नामधारी व्यक्ति की शरण में नहीं जाता। हमारे महावीर में उपरोक्त गुण हों तो मैं उनकी शरण में जाता हूँ। कम से कम ये तीन बातें होना चाहिये-रागद्वेष से रहित वीतरागता, जो सर्वज्ञ हैं व बिना किसी इच्छा के जिनकी वाणी सर्वांग से खिरती है, ऐसा वह परमात्मा है तो मैं उसकी शरण में जाता हूँ।

मेरा परमात्मा तो अंतरंग के विकारी भावों से रहित है। उसे कभी क्रोध नहीं आता, अहंकार नहीं आता, मायाचारी लोभ जैसे विकारी भाव नहीं हैं। मेरा परमात्मा तो विषाद, भय, चिंता, मोह सबसे रहित है, मेरे परमात्मा में कोई आहार, भय, मैथुन, परिग्रहादि संज्ञा नहीं हैं। मेरा परमात्मा वह है जिसके शरीर पर पसीना भी नहीं आता परमौदारिक शरीर अथवा शरीर से रहित है। मेरा परमात्मा वह है जो किसी से झुकता नहीं, किसी को झुकाता नहीं अपना कल्याण करने वाले स्वयं उसके चरणों में पहुँच जाते हैं। मेरा परमात्मा तो वह है जो कभी किसी से कुछ चाहता नहीं और कभी किसी को कुछ देता नहीं। वह है मेरा परमात्मा जो कभी किसी को अपना भक्त बनाता नहीं और स्वयं किसी का गुरु व भगवान् बनता नहीं। ऐसा मेरा परमात्मा है इसी बात को यहाँ कह रहे हैं।

जिसने कामादि क्रीड़ा को, मोह को, मूर्च्छा को नष्ट कर दिया है। जिसको कभी रोष, शोक नहीं होता, कभी हँसी नहीं आती, कभी रोता नहीं, कभी गुमसुम नहीं बैठता मेरा परमात्मा ऐसे विषाद से रहित है। इन सब विकारी भावों को उन्होंने जला दिया। इन सबको सिर्फ नष्ट ही नहीं किया अपितु जला दिया। जैसे-जंगल में लगी आग जंगल के सभी वृक्षों को जलाकर के राख कर देती है वृक्ष नाम की कोई चीज नहीं रहती उसकी मिट्टी भी जल जाती है जड़ें भी जल जाती हैं बीज तक नहीं रहता जैसे जंगल में सैकड़ों साल तक फिर कोई बीज पैदा नहीं हो सकता यह तो जंगल की अवस्था है किंतु आत्मा की अवस्था तो ये है कि वह जीवन में कभी पैदा ही नहीं होगा। कोई भी कर्म आत्मा में पैदा हो ही नहीं सकता।

बाहर के जंगल में हजार साल में कोई चिड़िया मुँह से अपने बीज को डाल भी दे किन्तु आत्मा में कौन सी चिड़िया आयेगी कर्म रूपी बीज को डालने के लिये। इसलिये परमात्मा ने आत्मा में लगे सब कर्म विकारों को जंगल की अग्नि की तरह जला दिया है। आत्मा का एक-एक प्रदेश शुद्ध हो गया है अब उसमें कोई विकार आ नहीं सकता है। दूध का घी बन गया अब पुनः उस घी को दूध बनाया नहीं जा सकता। तो बता रहे हैं-जिसने नष्ट कर दिया है काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा, परिग्रहादि को, विषाद, भय, निद्रा को वह परमात्मा है। जो छः महीने तक सो जाये किसी समुद्र में जाकर वह परमात्मा होगा क्या ? परमात्मा कभी सोता है क्या? वह तो नींद से रहित है, वह शोक से भी रहित है और न चिन्ता है।

जो विरागी हैं जब वे ही निश्चिंत और निर्भीक हैं तो वीतरागी भगवन् तो निश्चित ही चिंता और भयमुक्त होंगे ही। एक साधु जो एक नगर से दूसरे नगर विहार करते, उन्हें किसी से कोई विशेष प्रयोजन नहीं था, एक नगर में पहुँचे। वहाँ राजा ने साधु का आदर-सत्कार किया और एक दिन रुकने का निवेदन किया। राजा का निवेदन उन्होंने स्वीकार किया। रात्रि में वे राजमहल के चैत्यालय में ही रुके। राजा प्रातःकाल होने पर राजकार्य में लग गया। घूमते हुए बगीचे में पहुँचा तो देखा साधु वहाँ ध्यानस्थ थे। राजा ने प्रणामकर विनयपूर्वक पूछा "महाराज ! रात्रि कैसी व्यतीत हुई?" साधु बोले "राजन् ! कुछ आप जैसी, कुछ आपसे अच्छी।"

राजा ने कहा, "महात्मन् ! मैं कुछ समझा नहीं।" साधु ने कहा "आप जैसी" का अर्थ है कि सोने के पश्चात् आप भी सब भूल गए और मैं भी सब भूल गया। तो दोनों में समानता ही हुई। राजा ने पुनः पूछा "महाराज ! और मुझसे अच्छी कैसे?" बोले आप प्रातःकाल होते ही राजकीय कार्यों में व्यस्त हो गए और मैं प्रभु परमात्मा के ध्यान में लगा हुआ हूँ। मेरे ध्यान में प्रभु है, मैं निश्चिंत हूँ और आपके चिंतन में दुनिया भर के काम, पापार्जन कराने वाले कार्य, आप चिंता से घिरे हैं इसीलिए आपसे अच्छी। साधु विरागी होता है।

विराग का अर्थ है-राग का विरलन। जिस प्रकार एक मोटे रस्से को तोड़ना बहुत कठिन है किन्तु उसके तिनके-तिनके अलग कर देने पर वे तिनके सरलता से तोड़े जा सकते हैं। इसी प्रकार राग जब सीमित होता है तब तोड़ना कठिन होता है और जब राग का विरलन कर दिया जाता है संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति वात्सल्य का भाव हो जाता है तब उसकी शक्ति कम हो जाती है। और वीतराग का अर्थ है राग का पूर्णतया नष्ट हो जाना। जिसके राग का विरलन हो गया जब वे साधु-संत ही चिंता से मुक्त रहते हैं तब जिनके राग नष्ट हो गया उनको तो भय, चिंता, विषाद आदि छू भी नहीं सकते।

चिंता पर विजय प्राप्त करना सरल नहीं। किसी ने कहा है "चिंता नहीं, चिंतन करो। चिंता करोगे तो भटक जाओगे और चिंतन करोगे तो भटके हुए को सही मार्ग दिखाओगे।" किंतु लोग कहते हैं कि हम चिंता करते नहीं हैं, हमें चिंता हो जाती है। स्वयं बातें सोचने में आती हैं। तभी तो कहा है-

चिंता बंध्यउ सयल जगत, चिंता किणहु न बद्ध।
जे नर चिंता बस करहिं, ते माणव नहि सिद्ध॥

चिंता ने समस्त संसार को बांधा हुआ है परंतु चिंता को किसी ने नहीं बांधा और जिन मानवों ने, महापुरुषों ने चिंता को बस में कर लिया वे मानव नहीं, सिद्ध हैं, भगवान् हैं।

चिंता अच्छी वस्तु को भी कचड़ा घर बना देती है जबकि चिंतन कचड़े को भी फर्टिलाइज़ कर अच्छी वस्तुओं में परिवर्तित कर देता है। चिंता का प्रभाव चरित्र और स्वभाव पर भी पड़ता है। चिंता जब जड़ जमा लेती है तो उत्साह मर जाता है, स्फूर्ति चली जाती है, इच्छा शक्ति निर्बल हो जाती है और शांतिपूर्वक तर्क करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। चिंता करने से हानि के सिवाय कुछ नहीं होता। जहाँ चिंतन का अंत होता है, वहीं से चिंता प्रारंभ होती है। चिंता संहारकवृत्ति है और चिंतन सृजनात्मक।

यह चिंता मनुष्य को अत्यंत पीड़ा देती है, चिता तो मुर्दे को जलाती है परंतु चिंता जीवित व्यक्ति को ही जलाती है। कहते हैं-

चिन्ता चिता समानास्ति, बिंदुमात्रविशेषतः।
सजीवं दहते चिंता, निर्जीवं दहते चिता॥

और जिसका राग नष्ट हो गया है उसके तो चिंता है ही नहीं। राग जब तक है तब तक बंध है और तब तक ही चिंता है। 'बंधे विषय कषाय ते छूटे भक्ति विराग' कषाय से बंध होता है, राग से बंध होता है। जिस प्रकार मिष्ठान्न की दुकानें लाइन से लगी हुई हैं जब तक व्यक्ति उसको

देखते हुए गुजर रहा है तब तक कोई बात नहीं और जैसे ही व्यक्ति मिष्ठान्नों पर हाथ लगाता है वैसे ही दुकानदार उसे पकड़ लेता है पूछता है क्या चाहिए, हमें बताओ। इसी प्रकार राग होते ही कर्म पकड़ लेते हैं, बंध जाते हैं और जब तक राग है तो चिंता, भय, विषाद लगे ही रहेंगे। इसीलिए यहाँ आचार्य महाराज ने कहा कि भगवान् वीतरागी हैं, चिंता, भय, विषाद आदि इनके नहीं हैं और ऐसे जो परमात्मा हैं मैं उन्हीं की शरण को प्राप्त होऊँ।

व्यक्ति जो प्राप्त करना चाहता है, वह उसी के पास जाता है। जो स्वयं रागी, भयभीत, चिंता से युक्त है वह दूसरों को अभय कैसे प्रदान कर सकता है? नहीं कर सकता। मैं वीतरागी होना चाहता हूँ इसीलिए हे प्रभु ! आपके चरणों में आया हूँ, आपकी शरण प्राप्त करना चाहता हूँ।

भगवती आराधना में एक दृष्टांत दिया है। एक हाथी को बहुत तेज प्यास लगी थी। चारों तरफ गर्मी ही गर्मी थी। कहीं पानी की एक बूंद भी दिखाई नहीं दे रही थी। अचानक एक तालाब के बीच उसे थोड़ा सा पानी दिखाई दिया तो वह तेजी से वहाँ गया और कीचड़ में फँस गया। अब ना तो उसकी सूंड में पानी ही आ रहा और ना ही वह कीचड़ से निकल पा रहा है। वह मदद के लिए चिल्लाने लगा। तभी एक चूहा वहाँ पहुँचा। उसने तालाब में एक रस्सी डाली और हाथी के पास तक पहुँचा दी। एक छोर चूहे के हाथ में था, वह बोला-

अरे ! देखकर नहीं चल सकते थे क्या ! तालाब में जाने से पहले देख तो लेते कि कीचड़ है या पानी। चलो ! अब मैं तुम्हें खींचता हूँ, पकड़ो रस्सी। यह सुनते ही कुछ पशु-पक्षी वहाँ खड़े थे, हँसने लगे। बोले कि तुझ जैसे यदि 100 चूहे भी लग जाएँ तब भी हाथी को नहीं निकाल सकते। **''गजानां पंकमग्नानां गजा एव धुरंधराः''** हाथी को कीचड़ से निकालने में हाथी ही समर्थ है। वो भी वह हाथी जो स्वयं कीचड़ से बाहर हो, मुक्त हो।

इसी प्रकार आत्मा को संसार से निकालने में आत्मा ही समर्थ है वो भी वह आत्मा जो परम पद में स्थित है। जो स्वयं मोक्ष के मार्ग पर चल रहे हों वे दूसरों को मोक्ष का मार्ग प्रदर्शित कर सकते हैं। हे परमात्मा! आपने सब कर्मों को निर्मूल कर दिया। जिस प्रकार आपने शोक, मान, भय, मोह, निद्रा आदि को पूर्णतया नष्ट कर दिया है। मैं इन सबको नष्ट करना चाहता हूँ इसलिए हे देव! मैं आपकी शरण में आया हूँ। आपने इन दोषों को नष्ट कर दिया है, अब मुझे विश्वास हो गया है कि आप ही सम्यक् मार्ग दिखा सकते हैं। जो व्यक्ति स्वयं सुरक्षित गंतव्य स्थान तक पहुँच गया वह उसका पता दूसरे को दे सकता है, सही मार्ग दूसरे को बता सकता है किंतु माना कोई व्यक्ति कभी जयपुर से दिल्ली गया ही नहीं तब वह दूसरे को भी भटका सकता है। हे प्रभु ! आपने समस्त विकारी भाव नष्ट कर दिए हैं और मैं उन विकार भावों को नष्ट करना चाहता हूँ, काम, क्रोध, मान, राग, मोह, निद्रा, विषाद, भयादि को नष्ट करना चाहता हूँ इसीलिए आपकी शरण में आया हूँ।

हे भगवान् ! मेरा जितना भी पुण्य है, जितना पुण्य मैं परमात्मा की प्राप्ति के लिये दे सकता हूँ, जैसे किसी व्यक्ति को राजा का राज्य मिल रहा हो और उसने 100-200 बोरे भूसे के भर रखे हों-100-200 सड़े गले कागज की गड्डी बना ली हों, कुछ चकमक पत्थर हों, और उसके बदले राजा का वैभव मिल रहा हो तो वह व्यक्ति क्या कहेगा ?-वह कहेगा इन सबको तो मैं दे दूँगा उस राज्य के लिये। ऐसे ही हम भी कह रहे हैं हे भगवन् ! संसार के समस्त वैभव को, शरीर तक को, कर्म तक को छोड़ने को तैयार हूँ बस मुझे परमात्मा का वैभव मिल जाये। हे परमात्मा ! तुम्हारे चरणों की शरण को प्राप्त करने के लिये मैं संसार के समस्त वैभव को सड़े तिनके के समान छोड़ दूँगा, बस कैसे भी करके एक बार आपके चरण मिल जायें, एक बार मुझे आपकी अनुभूति हो जाये अर्थात् जैसे आप परमात्म पद की अनुभूति कर रहे हैं मैं भी वही परमात्म पद की अनुभूति प्राप्त कर सकूँ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

जहासत्तीइ पालेज्जा, सावयो खलु सुव्वदं।
लहित्ता कमसो बोहिं, हवेज्ज सो दियंबरो॥१२३॥

अर्थ:-निश्चय से श्रावक को शक्त्यानुसार व्रतादिकों को अच्छी प्रकार से पालन करना चाहिए। पुनः क्रम से बोधि को प्राप्त कर उन्हें दिगंबर होना चाहिए अर्थात् मुनि के व्रतों-महाव्रतों को ग्रहण करना चाहिए।

-तच्च-सारो
(आचार्य श्री वसुनंदी मुनि)

साधु बनें तो ऐसे

महानुभाव ! उन सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी भगवान् के लक्षण बताते हुये आचार्य महोदय ने भावना भायी कि मैं उनकी शरण को प्राप्त होता हूँ। अथवा परमात्मा के उस स्वरूप को मैं अपने चित्त में धारण करता हूँ। भावना भायी कि मैं ऐसे देव का उपासक हूँ, जिस देव में ऐसे-ऐसे लक्षण हैं वह मेरा सच्चा देव है। जैसे कोई आपसे पूछे कि आपका मकान कैसा है? तो आप पूरा विवरण दे देंगे। इसी प्रकार अन्य किसी विषय के बारे में आपके कुल, जाति, परिवार अथवा गुरु के बारे में कोई कुछ पूछे, आपकी निष्ठा श्रद्धा के बारे में पूछे, आपके आराध्य के बारे में पूछे तो उनके बारे में आपको सम्यक् जानकारी होनी चाहिये क्योंकि बिना इस जानकारी के आप समीचीनता को प्राप्त नहीं हो सकेंगे, धर्म के क्षेत्र में मूढ़तापूर्ण प्रवृत्ति नहीं कर सकते, अमूढ़दृष्टि तो प्रमुख अंग है। तो यहाँ पर सच्चे देवता का स्वरूप बताया, वे सच्चे देव मेरे हृदय में विराजमान रहें।

हे जिनेन्द्र देव ! तुम्हारी छवि, तुम्हारा स्वरूप, तुम्हारे गुण और लक्षण मेरी कल्पना में, मेरे चिंतवन में, मेरे व्यवहार में परिलक्षित होना चाहिये। आपकी छाया से मैं दूर नहीं रहूँगा और आपकी छाया के पीछे चलते हुये मैं अपने निजत्व की माया को प्राप्त करूँगा, ये सब बातें यहाँ देखीं। परमात्मा का स्वरूप देखने के उपरांत अब यहाँ पर पुनः आचार्य श्री उपसंहार करते हुये उसी विषय पर आते हैं, प्रारंभ के 8-10 काव्य जो सामायिक की विधि के संबंध में थे, अतिचार आदि का स्वरूप बताया था। सामायिक की पूर्व भूमिका आदि के बारे में बताया उसी प्रकार अंत के काव्यों में समाधि की सिद्धि कैसे हो सकती है यह बताया। सिद्धि न हो तो संपूर्ण परिश्रम-पुरुषार्थ व्यर्थ माना जाता है।

साधन साध्य को देता है किंतु कारण है, साधना भी साध्य के प्राप्त कराने में सहायक है। तो साधना का एक स्वरूप दिया कि सामायिक क्या है। कौन सी सामायिक करने से साध्य की सिद्धि होगी? सामायिक के लिये कौन-कौन सी सामग्री आवश्यक है आसन, चटाई, पाटा, चौकी, पुस्तक, कोई विशेष प्रकार की माला या शास्त्र क्या ये सब नियामक साधन हैं, इन सबको प्राप्त करके क्या सामायिक नियम से प्राप्त हो ही जाती है, यदि नहीं तो फिर ये उतने आवश्यक नहीं हैं, क्योंकि इनके बिना भी किसी-किसी को सामायिक की उपलब्धि हुई है, इससे आशय है कि सामायिक की उपलब्धि के लिये कुछ और ही नियामक हेतु होना चाहिये, वह नियामक हेतु क्या है पहले उस तक पहुँचें किंतु उससे पूर्व एक और बात है, जो अनियामक हेतु हैं या जिन्हें हेतु भी नहीं कह सकते और उन्हें हम हेतु मानकर के बैठ गये हैं उस धारणा से पहले मुक्ति की आवश्यकता है।

किसी रास्ते में कोई वृक्ष अथवा पुलिया अथवा खम्भा पड़ता है तो वे रास्ते में पड़ने वाली चीजें मंजिल तक पहुँचाने में कारण नहीं हैं क्योंकि कोई व्यक्ति अपने साधन से जाता है उसके रास्ते में वह नहीं भी पड़े, उनको वह नहीं भी देखे तो भी मंजिल तक पहुँच सकता है और ऐसा भी हो सकता है कि एक व्यक्ति वृक्ष के नीचे बैठा है, तो मंजिल तक तो वह नहीं पहुँच पायेगा। मार्ग के निशान तो सिर्फ संकेत देते हैं आगे बढ़ने का कोई भी संकेत अपने आप में मंजिल नहीं होती। किसी व्यक्ति को किसी नगर में जाना है तो साइन बोर्ड और माइल स्टोन या मेप उसके लिये साधन बन सकता है किंतु फिर भी वह नियामक हेतु नहीं है। नियामक हेतु वह वाहन है जिस पर बैठकर वह यात्रा करेगा, नियामक हेतु हैं उसके पैर जिनसे चलकर वह गति करेगा। यदि ये नहीं हैं तो अकेले मंजिल की प्राप्ति न होगी। यदि वाहन नहीं है तो माइल स्टोन, साइन बोर्ड से मंजिल की प्राप्ति नहीं होगी। ऐसे ही साध्य की सिद्धि करने के लिये ये बाह्य साधन, साधन के भी दूरवर्ती साधन हैं, साध्य के साधन नहीं। साध्य का साधन है सामायिक, अपनी आत्मा के निर्मल विशुद्ध परिणाम, वैराग्यमय परिणाम, विषयों से विरक्तिमय परिणाम, कषायों की मन्दता, इन्द्रियों का दमन उस समय जो अंदर के निर्मल व स्वच्छ परिणाम हैं वे ही नियामक हेतु हैं, अन्य किसी वस्तु को नियामक हेतु नहीं बनाया जा सकता, तो यहाँ पर उसी बात को बता रहे हैं।

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्षकषाय-विद्विषः, सुधीभिरात्मैवसुनिर्मलो मतः॥२२॥

विधिवत् शुभासन घास का, या भूमि का बनता नहीं,
चौकी शिला को ही शुभासन मानती बुधता नहीं।
जिससे कषायें इन्द्रियाँ खटपट मचाती हैं नहीं,
आसन सुधीजन के लिये है आत्मा निर्मल वही॥22॥

अन्वयार्थ-(**विधानतः**) विधान के रूप से समाधि/ध्यान का साधन (**न संस्तरः**) न संस्तर है/आसन है, (**न अश्मा**) न पाषाण है, (**न तृणम्**) न तृणसमूह है, (**न मेदिनी**) न पृथ्वी है और (**विनिर्मितः**) बनाये गये (**न फलकः**) काष्ट के चौकी आदि भी नहीं हैं (**यतः**) इसलिए (**सुधीभिः**) विद्वानों के द्वारा (**निरस्ताक्षकषायविद्विषः**) इन्द्रियों के विषय और कषाय रूपी शत्रुओं से रहित (**सुनिर्मलः**) निर्मल (**आत्मा एवं**) आत्मा ही (**मतः**) समाधि/ध्यान का आसन मानी गई है।

संस्तर-जिस पर शयन किया जाता है, श्रावकों व भोगियों का होता है बिस्तर और साधुओं को होता है संस्तर। बिस्तर माना कि विष को उगलने वाला है विषय में ले जाने वाला है, किंतु संस्तर समीचीन साधना को देने वाला है और संसार सागर से पार कराने वाला है, जब कोई भी

श्रमण (क्षपक) समाधिमरण को स्वीकार करता है तो वह संस्तरारूढ़ होता है, वह चाहे पाटे पर लेटे, चाहे चटाई पर लेटे, चाहे पत्थर की कोई शिला पर लेटे, चाहे जमीन पर लेटे और वह कहता है मैंने संस्तरारूढ़ कर लिया, अब मैंने सबका त्याग कर दिया, मैं अब संस्तरारूढ़ हो गया अपनी आत्मा में जाने के लिये, मोक्ष मार्ग में जाने के लिये, अपना निजी वैभव पाने के लिये। कोई राज्यारूढ़ होता है, कोई सिंहासनारूढ़ होता है किंतु अंदर की यात्रा संस्तर पर आरूढ़ होकर होती है। बिस्तर पर आरूढ़ होकर तो दुर्गति की यात्रा होती है, सुगति की नहीं। जब कोई त्यागी व्रती घर में भी रहता है तो वह गद्दे आदि का त्याग कर चटाई आदि का प्रयोग करता है, प्लास्टिक या घास आदि की चटाई का प्रयोग करता है या लकड़ी के पाटे आदि का प्रयोग करता है तो वह संन्यास-विरक्ति का प्रतीक है।

संस्तर-चाहे चौकी है, या शिला है, या पाटा है कोई विधान आदि नियामक नहीं है। कि इनसे सामायिक की प्राप्ति हो जायेगी। ऐसा नहीं कि चटाई पर बैठकर आप सामायिक करें तो आपके परिणामों में समता आ ही जाये, ऐसा नहीं कि जमीन पर या पाटे पर सामायिक करने से समता आ ही जाये, ठीक है सामायिक करने वाला व्यक्ति उसे छोड़कर के चटाई, चौकी शिला आदि पर बैठ जाता है, किन्तु ये नियामक हेतु नहीं है और इनसे नियामक सिद्धि नहीं है सामायिक की। जिससे इन्द्रियों की प्रवृत्ति, कषाय भाव नष्ट हो जाये तब तो समझो हमने सामायिक को प्राप्त कर लिया। सामायिक के लिये कोई स्थान नियत नहीं सामायिक श्मशान में बैठकर भी हो सकती है, भगवान् के सामने बैठकर भी सामायिक हो सकती है, झोंपड़ी हो या महल वहाँ भी बैठकर सामायिक हो सकती है। कषायों को दबोच लेना जब कषायें सर्पिणी की तरह से फुंकार भी न लगा पायें, इन कषायों को अग्नि की ज्वाला की तरह से वहीं की वहीं दबा दो, ऐसे ही कषायों की अग्नि पर काबू करने का नाम है सामायिक। इन्द्रिय के विषय जो तेजाब की तरह आत्मा को झुलसाने वाले हैं उन पर नियंत्रण कर लो।

इन्द्रिय व विषय कषायों का जहर जिससे रुक जाता है वह सामायिक है। जिस समय ये सब प्रवृत्ति कर रहे हों, विषय कषायों का पोषण हो रहा हो, चाहे उस समय आँख बंद हो या खुली, चाहे पद्मासन हो या खड्गासन चाहे वज्रासन हो या कोई भी आसन हो यदि अक्ष और विषय कषाय चल रहे हैं तो वह सामायिक नहीं है। अक्ष विषय कषाय जब दमित हैं उस समय चाहे तुम चल रहे हो या बोल रहे हो चाहे आहार कर रहे हो, चाहे उपदेश दे रहे हो उस समय सामायिक हो सकती है। चलने में भी सामायिक हो सकती है और सामायिक में भी चलना हो सकता है। तो बाह्य परिणति सामायिक के लिये कोई नियामक हेतु नहीं है अंतरंग के परिणाम ही सामायिक का मूल स्वरूप हैं। वे ही सामायिक के प्राण हैं।

सुधीभिरात्मैवसुनिर्मलो यतः-ज्ञानियों, विद्वानों के द्वारा जिसमें आत्मा निर्मल हो जाती है वहीं सामायिक कहलाती है। चाहे प्रतिक्रमण करते-करते आत्मा निर्मल हो रही है, चाहे स्वाध्याय करते-करते आत्मा निर्मल हो रही है, चाहे भक्ति स्तुति पढ़ते हुये आत्मा निर्मल हो रही है परिणाम निर्मल होते जा रहे हैं तो वह भी सामायिक है। यहाँ तक कि दाता के आहार देते-देते परिणाम निर्मल हो रहे हैं तो वह भी उसकी सामायिक है। एक बार किसी श्रावक ने आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज से पूछा-आहार देते देते यदि देर हो गयी, सामायिक का समय हो गया तो उस समय क्या करें? उस समय साधु चौके में हों तो क्या करें आहार दें या सामायिक करें? तो उन्होंने कहा-आहार दो। फिर सामायिक कब करें ? हमारे पास समय आगे नहीं है तो फिर उन्होंने कहा-वह आहार देना भी आपकी सामायिक है। किन्तु तभी जब आपके परिणाम समता युक्त व निर्मल हो रहे हों। यदि परिणाम निर्मल हों रहे हैं तो किसी भी क्रिया के करते सामायिक हो सकती है यदि नहीं हो रहे तो सामायिक करते हुये भी सामायिक नहीं हो रही।

एक बार एक व्यक्ति, सादगी व उच्च विचारों के साथ जीवन व्यतीत करने वाले सज्जन के पास पहुँचे। वह व्यक्ति उनसे बोला "भाई साहब ! नगर के सभी लोग आपको बहुत सम्मान देते हैं, मैं भी आपको साधु पुरुष मानता हूँ मैं बहुत उलझन में हूँ, मुझे समझ में नहीं आ रहा मैं क्या करूँ? एक आप ही हैं जो मेरी सहायता कर सकते हैं। वह सज्जन व्यक्ति विनम्रता-पूर्वक उसे आसन देता है। उससे कहता है आप आराम से बैठें फिर बातचीत करते हैं। उस व्यक्ति ने कहा भाई साहब ! मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मैं साधु बनूँ या विवाह करूँ। सज्जन व्यक्ति बोला आज तो संध्या का समय है कल सुबह आना। अगले दिन वह व्यक्ति पहुँचा। सज्जन व्यक्ति ने कहा चलो घूमने कुछ दूर पहाड़ी तक चलते हैं। व्यक्ति को तो उसकी समस्या का समाधान चाहिए था अतः पीछे-पीछे चल दिया। पहाड़ी के पास पहुँचकर सज्जन ने आवाज लगायी "अरे साधु बाबा! जरा नीचे आना, हम पहाड़ी पर चढ़ नहीं पा रहे।" आवाज सुनकर साधु नीचे उतरकर आया। सज्जन ने हाथ जोड़े बोला "बाबा ! वो क्या है कि हम आपके दर्शन करना चाहते थे और पहाड़ी थोड़ी ऊँची थी और धूप भी बहुत तेज है।" साधु ने उन्हें आशीर्वाद दिया और ऊपर चले गए।

ऊपर जाकर बैठ भी नहीं पाए तभी दोबारा आवाज सुनायी दी "साधु बाबा ! जरा नीचे आना" वह साधु पुनः नीचे आए। देखा वे ही दो लोग वहाँ खड़े हुए थे। साधु ने पूछा क्या बात है? बोला कुछ नहीं, दोबारा दर्शन का मन किया। वह वृद्ध साधु आशीर्वाद देकर पुनः धीरे-धीरे चढ़कर तपती धूप में ऊपर पहुँचा पुनः उन्होंने साधु को आवाज लगायी, साधु नीचे आया-बोला-कहो, बोले कुछ नहीं दर्शन करना था। साधु पुनः आशीर्वाद देकर चला गया। ऐसा उन्होंने पाँच बार किया किंतु साधु उसी प्रकार आशीर्वाद देकर गया। अब पुनः वह सज्जन उस व्यक्ति को अपने घर पर

लेकर गया और बाहर आँगन में बैठ गया। थोड़ी देर पश्चात् सज्जन की पत्नी दो गिलास में दूध लायी। उस दूध में शक्कर की जगह भूल से नमक गिर गया था। सज्जन ने दूध का गिलास मुँह पर लगाया और पूरा दूध पीकर ही गिलास नीचे रखा। दूसरे व्यक्ति ने भी दूध पिया एक घूंट पीते ही उसने दूध छोड़ दिया। वह व्यक्ति सोचता है कि पहले तो इसने उन साधु को जेठ की इस धूप में इतना परेशान किया और अब अपने साथ-साथ मुझे भी धूप में बैठा लिया। इतने में सज्जन ने अपनी पत्नी को आवाज लगाकर कहा-जरा बाहर लालटेन ले आओ। उसकी पत्नी बाहर लालटेन जलाकर दे गई।

वह व्यक्ति भी यह सब देख रहा था तुरंत खड़ा हुआ और बोला मैं तो सोच रहा था कि आप ही विचित्र हैं किंतु लगता है पूरा परिवार ही विचित्र है। आपको मेरे प्रश्न का उत्तर देना है या नहीं। सुबह 10 बजे से दिन के 3 बज गए किन्तु आप अपने विचित्र कार्यों में ही लगे हैं। यह सुनकर सज्जन बोला कि मैंने तो आपको आपके प्रश्न का उत्तर दे दिया शायद आप समझे नहीं। वह व्यक्ति बोला दिन में तीन बजे लालटेन मंगवाकर आप क्या उत्तर देना चाहते हैं। सज्जन बोला कि देखो मैंने अपनी पत्नी से लालटेन मंगवाया तो उसने क्यों, क्या कोई प्रश्न नहीं किया और यदि दूध में शक्कर के स्थान पर नमक आ गया तो मैंने उससे कोई प्रश्न नहीं किया। अर्थात् विवाह करो तो ऐसी गृहस्थी रखना जहाँ दोनों का एक-दूसरे पर पूर्ण विश्वास हो, तर्क-कुतर्क न हो।

और उससे पूर्व मैं तुम्हें साधु के पास लेकर गया तो तुमने देखा हमने तपती दोपहरी में उनको 5 बार नीचे बुलाया, वे बार-बार आए, पहाड़ी चढ़कर गए किंतु उनके चेहरे पर शिकन भी नहीं आयी, उतना ही मुस्कुराकर आशीर्वाद दिया। वे समता के धनी थे। साधु बनो तो ऐसे साधु बनना जो प्रत्येक अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों में समता भाव धारण कर सके, साक्षी भाव रखे। क्योंकि साधु का मुख्य गुण समता ही है। जिस प्रकार नदी ऊपर-नीचे, टेढ़ी-मेढ़ी बहती हुई दो किनारों के बीच रहती हुई गन्तव्य तक पहुँच जाती है उसी प्रकार साधु सभी प्रकार की परिस्थितियों में समता भाव रखते हुए अपने गंतव्य मोक्ष तक पहुँच जाते हैं। यह समता ही सामायिक है। **''समदा सामायियं णाम''** और समतापूर्वक मरण ही समाधिमरण है।

तो महानुभाव ! यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं कि सामायिक के लिये चटाई आसन आदि हेतु नियामक नहीं है। धूप, छाया, गर्मी, सर्दी, द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि नियामक हेतु नहीं हैं सामायिक के लिये तो केवल एक ही कण्डीशन होना चाहिये वह है 'भाव'। भाव हैं तो हर द्रव्य, हर क्षेत्र, हर काल सामायिक का हेतु बन सकता है।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

आत्मा ही उत्तम संस्तर

न संस्तरो भद्र! समाधि साधनं, न लोक पूजा न च संघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं, विमुच्य सर्वामपिबाह्यवासनाम्॥२३॥

हे भद्र ! आसन लोक-पूजा, संघ की संगति तथा,
ये सब समाधी के न साधन, वास्तविक में है प्रथा।
सम्पूर्ण बाहर-वासना को, इसलिए तू छोड़ दे,
अध्यात्म में तू हर घड़ी, होकर निरत रति जोड़ दे॥23॥

अन्वयार्थ-(**भद्र**) हे भद्र ! (**यतः**) क्योंकि (**समाधि साधनम्**) समाधि का साधन (**न संस्तरः**) न संस्तर है, (**न लोकपूजा**) न लोकपूजा है, (**च**) और (**न सङ्घमेलनम्**) न संघ का समुदाय है (**ततः**) इसलिये (**सर्वाम् अपि**) समस्त ही (**बाह्यवासनाम्**) बाह्य पदार्थों को (**विमुच्य**) छोड़कर (**अनिशं**) हमेशा (**अध्यात्मरतः**) अध्यात्म में तल्लीन (**भव**) रहो।

यहाँ पर भी बता रहे हैं कि समाधि सामायिक की प्राप्ति कैसे होगी। तो कह रहे हैं-हे भद्र पुरुष ! भद्र माने-कल्याण का इच्छुक। भादों के महीने में जैसे परिणाम होते हैं ऐसे कल्याण पथिक यह घास का, लकड़ी का, प्लास्टिक का, पाषाण का ये कोई भी आसन समाधि के हेतु नहीं हैं इन पर लेटने से समाधि नहीं होती है।

और न ही लोक पूजा आदि से समाधि की प्राप्ति होती है। यदि कोई व्यक्ति किसी की खूब पूजा कर रहे हैं, बहुत प्रसिद्धि हो रही है, लोक में खूब जय-जयकार है तो उसको क्या अच्छी समाधि की प्राप्ति हो जायेगी? और क्या जिसकी ख्याति नहीं है, जिन मुनिमहाराज को कोई जानता नहीं, जिनका नाम भी याद नहीं, क्या उनकी समाधि नहीं होगी? समाधि के लिये शक्ल नहीं अक्ल चाहिये। समाधि के लिये सूरत नहीं चिन्मय मूरत चाहिये। समाधि के लिये बाहर का यश नहीं चाहिये अपितु समभाव चाहिये, समाधि के लिये ख्याति और जाति की आवश्यकता नहीं है, समाधि के लिये स्वयं के अंदर प्रभाति की आवश्यकता है। समाधि के लिये समतामय आचरण करना है। आचार्य कहते हैं-साधुता को मापने का पैमाना यश-कीर्ति नहीं है, कोई भीड़ नहीं है, साधुता को मापने का पैमाना अन्य कोई बाह्य दृष्टिगोचर पदार्थ नहीं है साधुता वहाँ भी हो सकती है जिसे कोई जानता नहीं है, मान सम्मान साधुता का नियामक हेतु नहीं है। या किसी साधु का बहुत बड़ा संघ है उसकी बहुत उत्कृष्ट सामायिक होती होगी, जिसके पास चार साधु हैं उसकी सामायिक हल्की होती होगी, ऐसा भी कोई नियामक हेतु नहीं है हजार साधु के संघ में भी असमाधि हो सकती है और चार साधु के बीच में भी समाधि हो सकती है। चूंकि ये सब समाधि के साधन नहीं हैं।

यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं-इसलिये अध्यात्मरति-आत्मा में लीनता, उसी को जानें, देखें, उसी को चाहें, उसी को गायें, उसी को सुनायें वही आध्यात्मिक रति है।

जब राम राज्य का विभाजन कर रहे थे तब शत्रुघ्न ने मथुरा का राज्य माँगा। राम ने कहा कि मथुरा पर राजा मधु राज्य करता है। उसे चमरेन्द्र द्वारा प्रदत्त शूल रत्न प्राप्त है। उसके रहते कोई उसे जीत नहीं सकता अतः तुम उस पर उस समय आक्रमण करना जब वह शूल रत्न से रहित हो अन्य समय नहीं। शत्रुघ्न ने बड़े भाई के वचनों को आज्ञा मानकर स्वीकार किया। सज्जनों की प्रवृत्ति होती है विनयपूर्वक अपने माता-पिता, अग्रज या गुरुजनों के सहज वचनों को तो आज्ञा मानकर शिरोधार्य करते ही हैं बल्कि उनके संकेतों को समझकर, मनोभावों को समझकर उसी के अनुसार कार्य करने का प्रयास करते हैं। तो वह शत्रुघ्न सेना सहित युद्ध के लिए प्रस्थान करता है। गुप्तचरों से पता लगवाता है तो वे बताते हैं कि इस समय राजा मधु नगर के बाहर विशाल उपवन में अपनी रानी के साथ है और उन्हें गए हुए छः दिन हो गए। वह इस समय शूल रत्न से रहित है।

तब ही शत्रुघ्न ने मथुरा में प्रवेश कर दिया। मथुरा में शत्रुघ्न को प्रविष्ट जानकर राजा मधु उद्यान से निकला। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। तब राजा मधु ने शत्रु को दुर्जेय और स्वयं को मृत्यु के समीपस्थ देखा तो दिगंबर साधुओं के वचन उसको स्मरण हो आए। तुरंत संसार की क्षणभंगुरता का विचार किया। आत्म हित के हेतु निराकुल होकर पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया, तत्त्व चिंतन किया। तब आचार्य भगवन् श्री रविषेण स्वामी पद्म पुराण में कहते हैं-

संस्तरः परमार्थेन न तृणं न च भूः शुभा।
मत्वा कलुषया मुक्तो जीव एव हि संस्तरः॥११०/८९॥

समाधिमरण के लिए यथार्थ में न तृण ही सांथरा है और न उत्तम भूमि ही संस्तर है किंतु कलुषित बुद्धि से रहित आत्मा ही उत्तम संस्तर है।

राजा मधु ने विचारा समाधि के लिए किसी विशेष वस्तु आदि की आवश्यकता नहीं और इस प्रकार समीचीन ध्यानारूढ़ हो सर्वपरिग्रह त्यागकर हाथी पर बैठे-बैठे ही मधु ने केश उखाड़कर फेंक दिए। यह देख शत्रुघ्न भी उनके चरणों में नतमस्तक हो गया और कहा हे साधो! मुझ पापी के लिए क्षमा कीजिए। आकाश से अप्सराओं ने विशुद्ध भावना से उनके वैराग्य का अनुमोदन करते हुए राजा मधु पर पुष्पवृष्टि की। शरीर में अनेक गहरे घाव लगे हुए थे तब भी समता भाव धारण करते हुए अपने शरीर का परित्याग कर दिया। समाधिमरण कर राजा मधु सनत्कुमार स्वर्ग में उत्तम देव हुआ।

ऐसी आध्यात्मिक रति तभी आती है जब व्यक्ति सम्पूर्ण बाह्य वासना को, सम्पूर्ण बाह्य विकारों को, वचन के जालों को, विकल्प जालों को, क्रियाओं के जालों को अन्य नाना-प्रकार के

विचारों को छोड़ देता है। इसलिए हे कल्याणेच्छुक तू उनको छोड़ दे और तू केवल अध्यात्म में रति कर।

दुनिया जिसे पागल कहती है, जो दुनिया की दृष्टि में पागल दिखाई देता है वह प्रभु परमात्मा की दृष्टि में काबिल दिखाई देता है। जब तक दुनिया की दृष्टि में विद्वान् बने रहोगे तब तक परमात्मा की दृष्टि में विद्वान् बनना मुश्किल व दुष्कर है क्योंकि दुनिया की दृष्टि में विद्वान् बनने के लिये अधिकांशतः वह करते हो जो नहीं करना चाहिये, जो करना चाहिये उसे करने का ढोंग रचाते हो, दूसरों को दिखाने के लिये किंतु वास्तव में सरलता, सहजता में जी नहीं पाते। साधुता तो वह है जहाँ अंदर भी अच्छा बाहर भी अच्छा।

तो यहाँ कह रहे हैं बाहर की सम्पूर्ण वासना को चाहे वह पुण्य रूप है या पाप रूप उन सभी को छोड़ दो। बाह्य उपाधियों को जब तक ओढ़ रखा है तब तक सामायिक नहीं है, जब सामायिक व समाधि है तब ये चीजें नहीं हैं। एक सुई में एक साथ दो धागे नहीं डाले जा सकते, वह सुई एक साथ दो दिशाओं में सिलाई नहीं कर सकती। राही एक बार में दो रास्ते नहीं चल सकते। कदाचित् एक सुई दोनों ओर सिलाई कर दे, कदाचित् एक नदी दो दिशाओं में बह जाये, कदाचित् एक राही दो दिशाओं में चला जाये, कदाचित् सुई के एक छेद में मोटे-मोटे कई धागे चले जायें ये भले ही संभव हो जाये किंतु फिर भी बाह्य वासना की लीनता और आत्मा की विशुद्धि ये दोनों एक साथ कदापि नहीं हो सकते। जब अंतरंग का आनंद आता है तो शब्द मुख से नहीं निकलते वे बोने पड़ जाते हैं कोई भी इन्द्रिय अपनी प्रवृत्ति कर नहीं पाती। तो कहने का आशय यह है अध्यात्म में डूबा व्यक्ति कुछ कह नहीं सकता-रहीम जी का एक दोहा है।

रहिमन बात अगम्य की कहन सुनन की नाय।
जानत हैं वे कहत नहीं, कहत वे जानत नाय॥

इसलिये छद्मस्थ कह रहा है मैं जानता नहीं। वह जब जानता है तब कहता नहीं, केवली भगवान् के गम्य की बात होगी। वे जान भी रहे हैं, कह भी रहे हैं, सर्वांग से जब दिव्य ध्वनि खिर रही है तब सब जान-कह रहे हैं।

तो महानुभाव ! सम्पूर्ण बाह्य विकल्पों को छोड़ दे और अध्यात्म में लीन हो जा, ये बाहर का लोक व्यवहार देखेगा तो चेतना की आहट से वंचित रह जायेगा। बाहर की लहर से डरेगा तो किसी कहर की चपेट में आ जायेगा और वह लहर तेरे लिये जहर बन जायेगा, इसलिये बाह्य विकल्पों को छोड़ अपने आपको लहरों के पार देख ले, पर्यायों के पार देख ले, लोकव्यवहार के पार देख ले, तुझे अपना वैभव दिखाई दे जायेगा। जितने समय तक तू वैभव को देखेगा उतने समय

तक तेरी सामायिक चल रही है। कब योगी आत्मा रूपी महल के अंदर चला गया उस समय भव्य जीवों को बता नहीं सकता। जब भव्यों को बता रहा है उस समय देख नहीं सकता। जो नदी में डूबा है उस समय वह उस आनंद को कह नहीं सकता। जब कह रहा है उस समय डूबा नहीं है। तो महानुभाव ! इसमें बस यही कहा -

केवल बाह्य साधनों को, केवल निमित्त को सब-कुछ मत मान लो, निमित्ताधीन जिंदगी मत बनाओ। निमित्त जो हैं उसी से काम चलाओ। यदि लिखना आता है तो कुमकुम से भी पत्र लिखा जा सकता है यदि प्रेम है अपने इष्ट आराध्य के प्रति तो। यदि अंदर में प्रेम नहीं हैं तो दवात भी रखी है, पेन भी रखा है, कागज भी रखा सब कुछ है पर अंदर में प्रेम के भाव नहीं है तो वह क्या लिखे। जब भावना उत्कृष्ट होगी तो शब्द अपने आप निकलते चले जायेंगे। कविता व्यक्ति लिखता नहीं है वो अपने आप लिख जाती है। भाव जब उमड़ते हैं तो शब्दों की पोशाक पहनकर के वर्ण वर्तिका के द्वारा लिप्यासन पर आसीन हो जाते हैं जैसे आकाश में बादल उमड़ते हैं तो आपस में टकराकर के घनघोर वर्षा कर देते हैं। पृथ्वी हरी भरी हो जाती है।

कोई कहता है जब तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि खिरेगी तब उस समवशरण में बैठकर ही अपना कल्याण करूँगा। एक बार दो मित्र वन भ्रमण के लिए गए। कुछ समय तक भ्रमण करने के पश्चात् जब वे लौटने लगे तो रात्रि हो गई जिससे वे भ्रमित हो गए। रास्ता खोजने का बहुत प्रयास किया किंतु नहीं खोज सके। दोनों मित्र थककर एक वृक्ष के नीचे बैठ गए। एक मित्र बोला अब तो आराम करो बिना प्रकाश के तो मार्ग देख पाना असंभव सा है। इतने में ठंडी हवा चलने लगी, बादल गड़गड़ाए और आकाश में बिजली चमकी।

तभी दूसरा मित्र बोला, मिल गया रास्ता मिल गया। पहला मित्र बोला अरे ! शांति से बैठो, कल सूर्योदय होगा तब चलेंगे। दूसरा मित्र बोला भाई ! यह जंगल है, जंगली जानवरों का निरंतर भय बना हुआ है, क्या पता कल का सूर्य देख पाएँ या नहीं, मेरी मानो तो बिजली की चमक से जिस मार्ग का अवलोकन किया है उसी से चल पड़ो, मैंने राजमार्ग देख लिया है। पहले मित्र को समझाया किंतु वह नहीं माना। पहला मित्र तो तभी अपने गंतव्य तक पहुँच गया किंतु दूसरे मित्र को जंगली जानवरों ने नहीं छोड़ा।

कहने का आशय यह है कि व्यक्ति के पास जो है उसी से अच्छा प्राप्त करे। अच्छा निमित्त मिलेगा तभी परिणाम विशुद्ध करेंगे, तीर्थंकर मिलेंगे तभी कल्याण करेंगे। इसी तरह हम भी अपनी जिंदगी को निमित्ताधीन न बनायें। क्योंकि मोक्षमार्ग तो प्रतिकूल निमित्तों में ही अनुकूलता देता है। अनुकूल निमित्तों में कभी मोक्ष मार्ग ने अनुकूलता नहीं दी, फूल तो हमेशा काँटों में खिलते हैं,

सेजों पर मुरझा जाते हैं इसलिये जितने दुःख प्रतिकूलतायें आती हैं उस समय साधक की साधना भी निखर जाती है और जब-जब भी अनुकूलता आती है साधक की साधना में गिरावट आती है इसलिये साधक सदा अलिप्त रहता है। जैसे नीतिकार ने विद्यार्थियों के लिये कह दिया-

सुखार्थिनां कुतो विद्या, विद्यार्थिनां कुतो सुखं।

सुखार्थी को विद्या कहाँ, विद्यार्थी को सुख कहाँ। ऐसे ही संयमी के जीवन में अनुकूलता कहाँ और जिसके जीवन में अनुकूलता है उसके जीवन में संयम कहाँ। संयम का अर्थ नियंत्रण करना, मन, वचन, काय पर नियंत्रण करना है। तो प्रतिकूलता में अनुकूलता का अनुभव करो। उस संयम का आनंद लो, सोचो-कि जब सब अनुकूलता हो तब संयम का पालन हो तो क्या संयम का पालन होगा ? नहीं, अनुकूलताओं को छोड़कर गृह त्याग करके ही तो दीक्षा ली जाती है, प्रतिकूलता को स्वीकार किया जाता है।

चिंता न करो तुम दुःखों की, ये यूँ ही कटते जाते हैं।
फूल सदा काँटों में खिलते, सेजों पर मुरझाते हैं॥

कोई भी फूल सेजों पर नहीं खिलते, काँटों पर ही खिलते हैं। जब-जब भी फूल सेज पर पहुँचकर शय्या बनता है तो मुरझाना प्रारंभ कर देता है और जब तक डाली पर लगा है काँटों के साथ तब-तब खिलता रहेगा।

जिसने भी शुद्ध मनोबल से, ये कठिन परीषह झेली हैं।
सब रिद्धि सिद्धियाँ नत होकर, उनके चरणों में खेली हैं।

जो अपने शुद्ध मनोबल से परीषहों को सहन करता है ऋद्धि-सिद्धियाँ उन्हीं के पास आती हैं। अनुकूलताओं में तो ये सब चली जाती हैं, उपलब्धि हमेशा प्रतिकूलता में होती है, अनुकूलता में उसका उपयोग किया जाता है, उपभोग किया जाता है। यदि उपलब्धि के अनुसार उनको सहन करो तो तुम्हें कोई न कोई उपलब्धि नियम से मिलेगी। और यदि अनुकूलता की आपने भीख माँग ली तो जितनी भी उपलब्धि हैं शनैः-शनैः वे सब नष्ट हो जायेंगी।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

वेदना का मूल-ममकार

महानुभाव ! विगत दिवस हमने यह जानने की चेष्टा की, कि सामायिक के लिये कोई आसन, कोई स्थान, कोई काल या द्रव्य का आलम्बन नियामक नहीं है। भाव नियामक होना चाहिये। रागद्वेष की क्षीणता, मोह का अभाव या मन्दता, कषायों का अत्यन्त शमन, इन्द्रियों का दमन, परमात्मा के स्वरूप के प्रति अंतरंग की श्रद्धा भक्ति के साथ पूर्ण नमन, ऐसे परिणाम जब होते हैं तब नि:संदेह वहाँ सामायिक उपलब्ध होती है और सामायिक की उपलब्धि स्वात्मा की उपलब्धि का कारण है क्योंकि समय आत्मा का नाम है, समय काल का भी नाम है, समय मत का भी नाम है किंतु यहाँ 'समय' यानि अपने 'समय' (आत्मा) का अवलोकन करने का नाम ही सामायिक है और अपने समय का अवलोकन करते-करते वह अपना समय (आत्मा) शुद्ध हो जाता है, परमात्मा हो जाता है। अत: सामायिक ही समाधि है, सामायिक की दीर्घ दशा सिद्धत्व है, बुद्धत्व है।

22, 23 काव्यों से हमारी ये भ्रांति टूट गयी कि सामायिक किसी चौकी, पाटे या चटाई पर ही होती हो, ऐसा नहीं है। अरे सामायिक तो बिना बैठे खड़े-खड़े भी हो सकती है। सामायिक तो समत्व के परिणामों से होती है, अन्य बाह्य आलम्बनों से नहीं। चित्त में यदि वीतरागता का भाव है, विरागता, गुणानुरागता का भाव है तो सामायिक हो सकती है। सामने भगवान् की एक नहीं अनेक मूर्तियाँ भी हों उससे क्या होने वाला है जब तक चित्त में विरागता, गुणानुरागता का भाव नहीं है।

सामायिक के लिये कोई काल आवश्यक नहीं प्रात:काल में भी सामायिक होती है, संध्याकाल में भी सामायिक होती है, मध्याह्नकाल में भी सामायिक होती है। मध्य रात्रि में भी सामायिक हो सकती है। देववंदना के काल तो नियत किये हैं किंतु सामायिक तो 24 घंटे में कभी भी की जा सकती है। सामायिक करने वाला, सामायिक का अनुभव, सामायिक का प्रारंभ या निष्ठापना, जब चाहे तब कर सकता है, उसके लिये कोई नियामक समय नहीं कोई समय पाबंदी नहीं है।

अब आगे देखते हैं-

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था:, भवामि तेषां न कदाचनाहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थ: सदा त्वं भव भद्र ! मुक्त्यै॥२४॥

जो बाहरी हैं वस्तुयें, वे हैं नहीं मेरी कहीं,
उस भांति हो सकता कहीं उनका कभी मैं भी नहीं।

यो समझ बाह्याडम्बरों को, छोड़ निश्चित रूप से,
हे भद्र ! हो जा स्वस्थ तू, बच जायेगा भव कूप से।।

अन्वयार्थ-(**केचन बाह्याः**) कोई भी बाहरी (**अर्थाः**) पदार्थ (**मम**) मेरे (**न सन्ति**) नहीं हैं और (**अहम् अपि**) मैं भी (**तेषाम्**) उन बाहरी पदार्थों का (**न कदाचन**) कदापि नहीं (**भवामि**) हूँ, (**इत्थम्**) इस प्रकार (**विनिश्चित्य**) दृढ़ निश्चय करके (**बाह्यम्**) बाहरी पदार्थों को (**विमुच्य**) छोड़कर (**भद्र**) हे आत्मन् ! (**मुक्त्यै**) मुक्ति के लिये (**त्वं**) तुम (**सदा**) हमेशा (**स्वस्थः**) अपनी आत्मा में स्थिर (**भव**) रहो।

यहाँ कह रहे हैं-जो बाहरी वस्तुऐं हैं वे मेरी नहीं हैं। जब वे वस्तु मेरी नहीं हैं तो मैं उन वस्तुओं का नहीं हूँ। इस बात को समझकर के निश्चय करके बाह्य आडम्बरों को त्याग दे और हे भद्र! कल्याण के इच्छुक तू स्वस्थ हो जा। यदि तू स्वस्थ हो जायेगा तो भवकूप से बच जायेगा। स्वस्थित का अर्थ होता है-अपनी आत्मा में लीन। जो अपनी आत्मा में लीन है वह संसार समुद्र में गोते खाने से, संसार वन में भ्रमण करने से बच सकता है। रोगी व्यक्ति सदैव दुःखी रहता है, भोगी व्यक्ति स्वयं को कभी-कभी दुःखी, कभी-कभी सुखी मानता है, योगी व्यक्ति सदा सुखी रहता है।

महानुभाव ! वियोगी व्यक्ति दुःख ही दुःख वियोग की अग्नि में जलता रहता है, भोगी व्यक्ति कभी भोगों में सुख का अनुभव करता है, कभी दुःख की कल्पना व सुख की कल्पना करता है और योगी व्यक्ति तो नियम से आत्मा में लीन है, योगों को स्थिर कर रहता है, नियोगी व्यक्ति अपने सिद्धत्व को, नियोग को, कर्म को जानता है, निश्चिंत रहता है जो है सो ठीक है। मेरे कर्म का फल कोई दूसरा नहीं ले सकता, दूसरे के कर्म का फल मैं नहीं ले सकता, जो लिखा है वो तो मिलना है, कोई किसी का छीन नहीं सकता। जितनी मैंने मजदूरी की उतना ही पारिश्रमिक मिलेगा।

जब ये सिद्धत्व समझ में आ जाता है तो व्यक्ति निश्चिंत हो जाता है यहाँ पर भी कह रहे हैं-**न सन्ति** नहीं है, अस्ति माने है अस्ति का बहुवचन सन्ति। **बाह्य**-जो बाहर से दिखाई दे रहे हैं। मेरी आत्मा के अतिरिक्त बाह्य चर्म चक्षुओं से दिखाई देने वाला अथवा न दिखाई देने वाला जितना भी आत्मा के अलावा सकल परिग्रह, सकल भौतिक वैभव है वह 'बाह्य' है। संसार में मेरी आत्मा के अलावा जितने भी पदार्थ हैं वे क्वचित् कदाचित् कुछ भी मेरे नहीं हैं, कहीं भी मेरे नहीं हैं, कभी भी मेरे नहीं हैं और किसी भी प्रकार से मेरे नहीं हैं। इन किंचित्, क्वचिद् कदाचित् का भी अलग-अलग अर्थ है। ये पदार्थ आज भी मेरा नहीं है, कल भी मेरा नहीं था और कल भी मेरा नहीं रहेगा।

यहाँ पर हूँ तब भी मेरा नहीं है, दूसरी जगह पहुँच जाऊँगा तब भी मेरा नहीं है, तीसरी जगह पहुँच जाऊँगा तब भी मेरा नहीं है, इसका कोई भी गुण धर्म पर्याय मेरी नहीं है। इसका जो स्वभाव है वह भी मेरा नहीं है, स्वभाव का अंश भी मेरा नहीं है, इसके साथ-साथ मेरा स्वभाव, मेरा गुण मेरी द्रव्य, मेरी पर्याय इसमें नहीं है। इसलिये संसार के जो पदार्थ हैं, उन पदार्थों से मुझे राग क्यों हो? क्योंकि ये मेरे हैं ही नहीं और द्वेष क्यों हो? मेरा जो है उसे कोई छीनेगा तो उसके प्रति द्वेष भावना हो सकती है किंतु जो मेरा है उसे कोई छीन नहीं सकता, जो मेरा नहीं है उसे मैं ग्रहण कर नहीं सकता। यदि जो मेरा है उसे कोई छीन ले तो मैं कुपित हो जाऊँगा और जो दूसरे का है यदि वह मुझे मिल जाये तो मुझे राग हो जायेगा, मैं तृष्णा का भाव रखूँगा। किंतु ये तो शाश्वत सिद्धान्त है कि मेरा किंचित् भी किसी दूसरे का नहीं हो सकता और दूसरे का किंचित् भी मेरा नहीं हो सकता। मेरा मेरे पास है दूसरे का दूसरे के पास फिर मुझे दूसरे के प्रति रागद्वेष क्यों? जब मेरा कोई एक भी अंश छीन नहीं सकता तो ऐसा क्यूँ? यदि मैं इन सब में स्वयं को न देखूँ तो।

हर सहारा बेअमल के वास्ते बेकार है।
गर आँख ही खोले नहीं तो कोई उजाला क्या करे॥

संसार के जितने भी सहारे हैं वे अपने आपमें बेसहारे हैं। इसलिये उन सहारों का सहारा क्या लेना जो अपने आप में ही बेसहारा हो। हमारे लिये न किसी सहारे की आवश्यकता है, न किसी के इशारे की आवश्यकता है, जो हमारे हैं बस वही हमारे हैं, वे ही हमें प्यारे हैं और सब तो बेकार हैं क्योंकि वे न हमारे हैं, न थे, न होंगे। ये पौद्गलिक वैभव या अजीव जड़ पदार्थ न कभी मेरे थे, न हैं, न होंगे इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने समयसार में कहा-आत्मा जो मेरी है, वह मेरी थी, है व रहेगी। आत्मा न कभी पुद्गल थी, न है, न रहेगी।

पुद्गल पुद्गल था, है व रहेगा। इसलिये जो कभी आत्मा रूप नहीं हो सकता उसे मैं क्यों चाहूँ और जो आत्मा कभी पुद्गल रूप नहीं हो सकती उसकी उपेक्षा मैं क्यों करूँ। जो मैं हूँ, मेरी निधि है उसको तो मैं आज तक जान नहीं पाया उसकी मैंने अपेक्षा कर दी और जो मेरी नहीं है उसके पीछे बेलगाम दौड़ता चला जा रहा हूँ। ये मेरी भूल है। स्वर्णमृग होता नहीं फिर भी राम की तरह से मृगमरीचिका की तरह दौड़ रहे हैं, स्वप्न की अप्सरा के पीछे दौड़ रहे हैं किंतु जो वास्तव में मेरी मुक्ति रूपी सुंदरी है उसके बारे में तो मेरा कुछ ख्याल ही नहीं है। तो गलती ये है कि जो दूसरे की है उसका तो मैं पीछा कर रहा हूँ, जो मेरी है उसे छोड़कर आ गया, उसका ख्याल नहीं है। मेरी जो मुक्ति रूपी सुंदरी है उसको तो भूल गया और जो विषय वासना रूपी परायी स्त्री है उसके पीछे दौड़ रहा हूँ तो सुख कैसे मिले। तो यहाँ कह रहे हैं-बाह्य पदार्थ किंचित् भी मेरे नहीं हैं।

भवामि तेषां न कदाचनाहम्-जो बाह्य पदार्थ मेरे नहीं हैं मैं भी उन बाह्य पदार्थों का नहीं हूँ। मैं कदाचित् किसी भी अपेक्षा से पर पदार्थों का नहीं हूँ। **इत्थं विनिश्चित्य**-इस प्रकार से निश्चय करके। अपने मन में ऐसा निश्चय कर लो कि संसार का बाह्य पदार्थ मेरा नहीं है और मैं उनका नहीं हूँ, जो चीज मेरी नहीं है उसे छोड़ो, जो मेरी है उसे छोड़ा नहीं जा सकता। जब बाह्य पदार्थों को छोड़ दूँगा तब मैं अपने आप में लीन हो जाऊँगा। मैं, मैंमय हो जाऊँगा। मैं केवल मैं को पकड़े रखता हूँ उस मैं को मय कर दिया जाये तो चिन्मय, चेतनमय हो जाऊँ बस वही तो मेरी आत्मा है। वह मैं थोड़ा सा फैल जाये, मय हो जाये। जैसे जब तक शक्कर अलग, दूध अलग है तब तक एक दूसरे का कोई असर नहीं है लेकिन जब वह शक्कर दूधमय हो जायेगी तो शक्कर अलग से पकड़ी नहीं जायेगी। उसी प्रकार मैं और मेरी आत्मा दोनों एक मय हो जायेंगे तो आत्मा का स्वभाव और आत्मा एकमेक हो जायेगी। अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में लीन कर लेना अनंतकाल के लिये। किंतु स्वस्थ होने के लिए बाह्य पदार्थों का छोड़ना आवश्यक है, मैं मय होना जरूरी है।

मिथिला के राजा नमि के विषय में आता है वे अध्यात्मवादी थे। एक दिन उनका स्वास्थ्य अत्यंत प्रतिकूल हो गया। वैद्य जी को बुलवाया गया। उन्होंने देखा तो बताया इनको दाह-ज्वर हो गया है। यदि इनके बावन चंदन का लेप शरीर पर किया जाएगा तो इनको शांति मिलेगी। चंदन मंगवाया गया। राजा नमि की कई रानियाँ थीं वे सभी कहने लगीं कि हम चंदन दास-दासियों से नहीं घिसवायेंगे, हम अपने पति की स्वस्थता के लिए स्वयं चंदन घिसेंगे।

सभी रानियों ने चंदन घिसना प्रारंभ किया। रानियों ने हाथ में चूड़ियाँ पहन रखी थीं। चूड़ियों की खनखनाहट राजा के कानों में चुभने लगी। राजा ने मंत्री से पूछा-ये क्या हो रहा है ? वह बोला-राजन् ! आपके लिए चंदन घिसा जा रहा है। राजा बोला ''लेकिन ये चंदन घिसने में शोरगुल कैसा?'' मंत्री ने उत्तर दिया ''राजन् ! ये चंदन आपके लिए आपकी रानियाँ घिस रही हैं। यह उन्हीं की चूड़ियों की आवाज है।'' राजा ने कहा-बंद करो यह शोरगुल, मेरा सिर बहुत दर्द कर रहा है, यह आवाज मुझसे सहन नहीं हो रही।

मंत्री, रानियों के पास पहुँचा और कहा ''क्षमा कीजिए, किंतु आपकी चूड़ियों की आवाज से राजा को कष्ट हो रहा है।'' रानियों ने कहा मंत्रिवर ! हम अभी इसका उपाय करते हैं, अब राजा को कोई कष्ट नहीं होगा।

मंत्री लौटकर आ गए। आवाज भी बंद हो गई। राजा ने पुनः मंत्री से पूछा मंत्रिवर ! अब शोरगुल नहीं हो रहा, क्या बात है चंदन घिसना बंद हो गया क्या? बोले नहीं राजन् ! चंदन तो अभी भी घिसा जा रहा है। पूछा क्या अब नौकर घिस रहे हैं? बोले नहीं, रानियाँ ही घिस रही

हैं। तब राजा बोले ''तो क्या मेरे रहते हुए ही सौभाग्यसूचक वे चूड़ियाँ रानियों ने उतार दीं।'' मंत्री बोले ''नहीं राजन्! उन्होंने सौभाग्य की प्रतीक एक-एक चूड़ी अपने हाथों में डाली हुई है जिससे अब अशांति नहीं है।''

राजा आध्यात्मिकता की गहराई में डूबते हैं और सोचते हैं सही तो है जब तक दो या दो से अधिक हैं तब तक द्वंद है, अशांति है और जब शांति प्राप्त करनी हो तो अकेले हो जाओ। आत्मा भी जब तक पर के साथ जुड़ी है तब तक संसार में परिभ्रमण कर रही है, दु:ख भोग रही है और जब अकेली हो जाती है जब आत्मा-आत्मा में लीन हो जाती है तब आनंद की प्राप्ति होती है।

इसीलिए आचार्य महाराज कह रहे हैं कि यदि संसार सागर में डूबने से बचना चाहते हो तो समस्त बाह्याडंबरों को छोड़ दो, उससे विरक्त हो जाओ क्योंकि ये ही दु:ख के कारण हैं। जिस पर को तुम अपना मानकर बैठे हो वह तो तुम्हारा है ही नहीं।

मेरा मेरा मानना ही तो तुम्हारी भूल है।
बस यही इक भूल तेरी वेदना का मूल है॥

संसार के अन्य पदार्थों को अपना समझना ही सबसे बड़ी भूल है और यही भूल संसार के दु:खों का मूल है। जब मूल में ही भूल हो तो दु:ख-कष्ट रूपी शूल तो प्राप्त होंगे ही।

महानुभाव ! आत्मा के अतिरिक्त तुम्हारा अपना कोई भी नहीं है। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी समयसार में कहते हैं-

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणु मित्तं पि॥४३॥

निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, किंचित् मात्र भी परद्रव्य-परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

तब जो अपना है ही नहीं उसको पकड़ना ही क्यों? यदि आपसे कोई कहे कि अपनी चांदी की अंगूठी दे दो तो दे दोगे क्या? आप लोग कह रहे हैं नहीं। किंतु मैं कह रहा हूँ आप दे सकते हैं। कैसे? यदि वह व्यक्ति कहे कि इसके बदले में मैं तुम्हें अपनी सोने की अंगूठी देता हूँ तो दे दोगे? आप लोग कह रहे हैं फिर तो दे देंगे। पुन: यदि वही व्यक्ति तुम्हारी सोने की अंगूठी मांगता है और बदले में प्लेटिनम की अंगूठी देता है तो क्या करोगे? बदल लोगे और यदि हीरा दे तो तुंरत बदल लोगे क्यों? क्योंकि तुम्हें विश्वास है कि जो वस्तु तुम प्राप्त करने जा रहे हो वह अधिक मूल्यवान् है तब जो तुम्हारे पास है, जिसे तुम कीमती समझ रहे हो, अमूल्य मान रहे हो वह छोड़ना नहीं पड़ता, छूट जाता है।

जब ऐसा ही विश्वास स्वयं के प्रति, आत्मा के प्रति हो जाएगा तो यह सब बाह्य पदार्थ छूट जायेंगे। अभी शायद कहीं अविश्वास है वरना चेतना का असीम आनंद पाने दौड़ गए होते। ये सभी बाह्य परिग्रह, आडंबर तो उस आत्मीय सुख में बाधक हैं। परिग्रह के कारण ही तो यह जीव इतने दु:खों को भोग रहा है।

राजा नमि के विषय में एक बात और आती है कि वे एक बार अपने महल की खिड़की पर खड़े हुए थे, बाहर का नजारा देख रहे थे तभी उन्होंने देखा कि सामने जलाशय के ऊपर से एक चील माँस का टुकड़ा लेकर जा रही है। उसके कारण कई चील उस पर झपट्टा मार रही हैं उससे वह माँस-पिण्ड लेने का प्रयास कर रही हैं और वह माँस पिण्ड नहीं छोडे जाने पर उस चील को ही नोंच रही हैं, जख्मी कर रही हैं परंतु वह चील उस माँस पिण्ड को छोड़ने को तैयार नहीं। वे विचार करते हैं यही तो सांसारिक मनुष्यों के साथ हो रहा है। इस परिग्रह के कारण कितना दु:ख झेलते हैं, किंतु फिर भी इसे छोड़ने को तैयार नहीं होते। यदि चील मांस पिण्ड छोड़ देती तो उसे जख्मी ही क्यों होना पड़ता। इसी प्रकार यदि मनुष्य परिग्रह का, बाह्याडंबरों का, बाहरी वस्तुओं का त्याग कर दे तो उसे दु:खी ही क्यों होना पड़े। तभी आचार्य महाराज कह रहे हैं इन सबका परित्याग कर तू स्वस्थ यानि अपने में स्थित हो जा।

सदा त्वं भव भद्र! मुक्त्यै- हे भद्र पुरुष ! तुम स्वस्थ यानि अपनी आत्मा में हमेशा के लिये लीन हो जाओ तभी तो मुक्ति की प्राप्ति होगी। मुक्ति प्राप्त करने के लिये तुम्हें अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में लीन करना पड़ेगा, और जब आत्मा आत्मा में लीन हो गयी तो समझो तुम स्वस्थ हो गये। ऐसी स्वस्थता भी शरीर आदि की स्वस्थता से प्राप्त होती है, यदि शरीरादि अस्वस्थ है, धातु-उपधातु यदि स्थिर नहीं हैं या प्रकृति प्रकोप है तो तुम प्राकृतिक रूप को प्राप्त नहीं कर सकते। तो शरीर में भी धातु उपधातु का स्थिर होना व प्रकृति प्रकोप का नहीं होना और शरीर में कोई रोग नहीं हो तभी नि:संदेह चेतना चेतना का भोग कर सकती है वह भी तब जब तीनों योगों की साधना हो जाये तब वही योगी नियोग रूप से चेतना का भोग कर सकता है। फिर उस भोग का कभी वियोग नहीं होता। यह उसका नियोग है। तो आत्मा को आत्मा में लीन करके हम स्वस्थ दशा को प्राप्त करें। यह इस 24वें काव्य का अर्थ हुआ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

सोऽहं-सोऽहं

आत्मानमात्मन्यवलोक मानस्, त्वं दर्शन-ज्ञान मयो विशुद्धः।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र, स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम्॥२५॥

निज को निजात्मा-मध्य में, ही सम्यगवलोकन करे,
तू दर्शन-प्रज्ञानमय है, शुद्ध से भी है परे।
एकाग्र जिसका चित्त है, तू सत्य उसको मानना,
चाहे कहीं भी हो समाधि-प्राप्त उसको जानना॥25॥

अन्वयार्थ-(**आत्मानम्**) आत्मा को (**आत्मनि**) आत्मा में (**अवलोकमानः**) स्पष्ट देखते हुये (**त्वं**) आप (**दर्शनज्ञानमयः**) अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान से युक्त तथा (**विशुद्धः**) विशुद्ध हो। (**खलु**) निश्चय से (**यत्र तत्र**) जहाँ कहीं (**अपि**) भी (**स्थितः**) स्थित (**एकाग्रचितः**) एकाग्रमन (**साधुः**) साधु ही (**समाधिम्**) समाधि को (**लभते**) प्राप्त होते हैं।

निज को निजात्मा के मध्य में, समीचीन रूप से अवलोकन करना चाहिये और हे आत्मन्! तू ज्ञाता दृष्टा है, दर्शनमय है, प्रकृष्ट ज्ञान मय है, शुद्ध है, संसार की सभी अशुद्धि से तू परे है, अत्यन्तशुद्ध सिद्ध दशा को प्राप्त है, ऐसा तू मानकर चलना तथा जब उस शुद्ध दशा का अनुभव होगा तब तू अपनी आत्मा की दशा को प्राप्त करेगा, तब तुझे समाधि की दशा प्राप्त होगी। वह दशा कहीं भी, कभी भी, कैसे भी प्राप्त हो जाये, उसके लिये बाह्य आडम्बरों की आवश्यकता नहीं है, बाह्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है।

जहाँ कहीं भी निश्चय से तेरा चित्त एकाग्र हो जाये, तेरी आत्मा-आत्मा में लीन हो जाये चाहे भरत क्षेत्र में, चाहे विदेह क्षेत्र में चाहे किसी भी द्वीप में जब तेरा चित्त लीन है, तो समझ लेना-वह स्थिति भी साधु प्राप्त करता है, वह स्थिति ही समाधि है। समाधि क्या है?

भेदविज्ञान के साथ-साथ निर्विकल्प दशा का नाम है-समाधि। बिल्कुल समताभाव से बिना किसी विकल्प के ध्यान करना समाधि है। निर्विकल्प दशा का अर्थ है जब मन में कोई विकल्प न हो, समता भाव से बैठे हों वह समाधि है। वह क्षणभर के लिए भी हो तब भी वह क्षण कोई सामान्य नहीं अपितु असंख्यात कर्मों की निर्जरा करने वाला है। जैसे हवाई जहाज आकाश में जा रहा हो, उसे एक बार देखकर आँख बंद कर ली और फिर उसे देखा तो वह बहुत दूर आगे निकल जाता है वैसे ही इतनी देर के लिए भी यदि आप समाधि लगा लेते हैं तो असंख्यात कर्मों की निर्जरा होती है। निर्विकल्प का अर्थ है आत्मा की समीपता पा जाना।

आचार्य भगवन् श्री नागसेन स्वामी तत्त्वानुशासन में कहते हैं-

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतं।
एतदेव समाधिः स्याल्लोक-द्वय-फल-प्रदः॥१३७॥

ध्येय और ध्याता का जो एकीकरण है, वह समरसी भाव माना गया है। यही एकीकरण समाधि रूप ध्यान है।

एक बार किसी महात्मा के पास एक युवक आया बोला महात्मा जी मैं आपका शिष्य बनना चाहता हूँ लेकिन कोई चमत्कार दिखाओ। महात्मा जी बोले कल मेरे पास लोहा लेकर आना तब दिखाऊँगा। अगले दिन वह युवक महात्मा जी के पास लोहा लेकर पहुँचा। महात्मा जी के पास पारस मणि थी उन्होंने पारसमणि को लोहे से स्पर्श करा दिया और वह तुरंत सोने में परिवर्तित हो गया। वह युवक यह देखकर आश्चर्य चकित रह गया। वह वहीं महात्मा जी के पास रहकर उनकी सेवा करने लगा। कुछ दिनों के बाद महात्मा जी को नगर से बाहर जाना पड़ा। उन्होंने अपने शिष्य से कहा देखो मैं किसी आवश्यक काम से बाहर जा रहा हूँ तुम इस पारसमणि का ध्यान रखना। महात्मा जी नगर के बाहर चले गए।

महात्मा जी के जाते ही शिष्य ने अपने मित्रों को बुलवाया और कहा कि आज शाम तक जितना लोहा ला सकते हो ले आओ मैं सबको सोना बना दूँगा। वे सभी मित्र शाम तक घर का कितना ही लोहा, हाथियों की सांकल आदि ले आए। शिष्य ने अपने मित्रों से कहा तुम आँखें बंद करो मैं अभी चमत्कार दिखाता हूँ, सारा लोहा सोने में बदल देता हूँ। उसने पारस मणि को लोहे से संस्पर्शित किया, चमत्कार तो हुआ किंतु शिष्य के लिए। मतलब, वह देखकर अचंभे में पड़ गया कि लोहा सोने में बदला क्यों नहीं। मित्रों ने आँखें खोलीं तो बोले अरे ! तुम तो कह रहे थे ये सोने की हो जाएगी लेकिन यह क्या ? शिष्य बोला तुम लोग कुछ दिन बाद आना।

अगले ही दिन महात्मा जी लौट आए। वह शिष्य, महात्मा जी से कहता है आपने मेरे मित्रों के सामने मेरी नाक कटा दी। आपकी यह पारस मणि झूठी है। उसने महात्मा जी को सब बात बताई। महात्मा जी बोले यह पारस मणि झूठी नहीं है। आप लोहा दिखाओ। दिखाया तो गुरु बोले, ''अरे! इस पर तो मिट्टी की पर्त और जंग लगी हुई है। पहले इसे ले जाकर नदी में अच्छी तरह से रगड़-रगड़कर धोओ, जंग निकालो तब इसका सोना बनेगा। शिष्य ने उन सांकलों को धोया और उसका जंग निकल गया। पुनः जब उन्हें पारसमणि से स्पर्शित किया तो वे सोने की हो गईं। इसी प्रकार आत्मा पर मिथ्यात्वादि का जंग लगा हुआ है और उस जंग को हटाए बिना आत्मा-परमात्मा रूप नहीं होगी। उसी जंग को हटाने की विधि है समाधि-सामायिक।

समाधि (निर्विकल्प दशा) में आत्मा-आत्मा में लीन हो जाती है। तब आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता है फिर तो जो परमात्मा है वह मैं हूँ, जो मैं हूँ वही परमात्मा है।

मिट्टी के नौमहले बैठा, हंस ज्योति फैलाये।
हं सोऽहं सोऽहं सोऽहं का, अमृत नाद सुनाये॥

मिट्टी का यह नौमहला अर्थात् शरीर जिसमें नव मल द्वार हैं इस शरीर रूपी महल में आत्मा रूपी हंस विराजमान है। शास्त्रों में आत्मा को हंस की उपमा दी। क्योंकि हंस नीर-क्षीर विवेकी होता है। वह आत्मा एक ही बात कहती है सोऽहं, सोऽहं। जो मैं हूँ वह परमात्मा है और जो परमात्मा है वही मैं हूँ। नियमसार में आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने तीन गाथाओं के माध्यम से सोऽहं की व्याख्या की।

केवलणाण सहावो केवल दंसण सहाव सुह मइओ।
केवलसत्ति सहावो सोऽहं इदि चिंतए णाणी॥९६॥

ज्ञानी जीव ऐसा चिंतन करे कि केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलशक्ति रूप स्वभाव वाला जो परमात्मा है, वही मैं हूँ। ध्यान सूत्राणि, अध्यात्म ध्यान सूत्राणि आदि ग्रंथों में निज स्वरूप का बहुत सुन्दर वर्णन आचार्य महाराज ने किया है।

महानुभाव ! मन के दो छोर हैं-एक अतीत और दूसरा भविष्य। अतीत में स्मृतियाँ हैं तो भविष्य में हैं आशाएँ, आकांक्षाएँ और कल्पनाएँ। ये दोनों ही सुख-दु:ख की अनुभूति कराने में सक्षम हैं। सुख और दु:ख का इन्हीं की कोख से जन्म होता है। ये मन की अवस्था है, स्थिति है, कुछ और नहीं है। मन के जो परकीय भाव हैं, बस उसी में सुख-दु:ख पलते हैं।

एक बार वर्द्धमान कुमार राजमहल में बैठे हुए थे। उनके चेहरे की कांति और शांति को देखकर उनके मित्र ने पूछा कि तुम इतने शांत कैसे रहते हो? वे बोले क्योंकि मैं अतीत यानि जो बीत गया उसको याद नहीं करता और भविष्य की चिंता नहीं करता, मैं वर्तमान में जीता हूँ। महानुभाव ! वर्तमान में जीने वाला ही वर्द्धमान बनता है।

तज अतीत की यादें सारी, त्याग अनागत मन से।
वर्तमान को वर्द्धमान बन, जीयें निज चेतन से॥

तो योगी यदि समाधि प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए मन की एकाग्रता आवश्यक है। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं "**चित्त विक्षेप त्यागो ध्यानं**" चित्त की विक्षिप्तता का त्याग ध्यान है। ध्यान या समाधि तभी प्राप्त हो सकती है जब चित्त स्थिर हो। पीपल के पत्ते के समान चंचल चित्त समाधि प्राप्त नहीं कर सकता। मन जागृत हो, स्वकीय भाव में उतर जाए तो सब स्वत: ही समरसता में बदल जाता है।

तो महानुभाव ! जब आत्मा आत्मा में लीन हो जाती है, तब वह समाधि है। सामायिक की दीर्घकाल की स्थिरता वह समाधि कहलाती है। तथा क्षणभर के लिये समत्व का भाव, समत्व की

झलक का आना सामायिक है। अपनी आत्मा में कुछ डूबे, फिर बाहर आये, फिर डूबे फिर बाहर आये ये तो अलग हो गया किंतु दीर्घ काल के लिये डूबना समाधि हो गयी। जैसे-कोई व्यक्ति नदी किनारे खड़े होकर जब तक नदी को देख रहा है तब तक डूबने का अनुभव नहीं, ऐसे ही जो धर्मध्यान के निकट होकर साधना करना चाहता है तो अभी धर्म का आनंद नहीं किंतु जो इसमें डूब जाता है, जैसे नदी में कोई उतर जाये और पानी कितना है माना कि कंधे तक है तो नाक बंद करके थोड़ी देर के लिये डूबता है फिर निकल आता है फिर डूबता है फिर निकल आता है। थोड़ी-थोड़ी दिक्कत आती है किन्तु जब जो तैराक बहुत कुशल हो जाता है फिर वह नीचे पानी में डूब जाता है उसे फिर कोई दिक्कत नहीं आती फिर उसे पानी में से ऑक्सीजन लेने में भी दिक्कत नहीं आती।

ऐसे ही योगी जब तक पापों से रहित नहीं होगा तब तक अंदर में डूब नहीं सकेगा। बार-बार उसका मन व्याकुल होगा, विक्षिप्त होगा, चंचल होगा, पुनः बार-बार बाहर आयेगा, बार-बार अंदर जायेगा। सप्तम गुणस्थान से जब आगे बढ़ता है तब अपने आप में डूब जाता है, तब ऐसी कला प्राप्त हो जाती है कि बाहर आने की आवश्यकता नहीं पड़ी, अंदर से ही उसने प्राणवायु ले ली। फिर अंदर से ही श्रेणी चढ़ता हुआ चारों कर्मों को नष्ट कर देता है जो कुछ दिखता है वह अंतरंग का वैभव ही दिखता है। इस प्रकार आचार्य महोदय ने कहा-यह दशा सामायिक की दशा, योगी की दशा होती है। जब तक इस दशा को प्राप्त न हो तब तक प्रयास रत रहो और जब ये दशा प्राप्त हो जाये फिर पुनः अन्य किसी पुरुषार्थ को करने की आवश्यकता नहीं है। चलना तब तक होता है जब तक मंजिल की प्राप्ति नहीं होती, जब मंजिल की प्राप्ति हो जाती है तब पुनः चलना नहीं होता फिर तो रास्ता खत्म।

तो महानुभाव ! चलना मार्ग में होता है और ठहरना मंजिल में होता है। जो मार्ग में ठहर जाते हैं वे अभी भूल कर रहे हैं, और जो मंजिल में भी चलने की चेष्टा कर रहे हैं वे भी भूल में हैं वहाँ चलना असंभव है। मार्ग में ठहरना भ्रामक है दुःखद है, त्रासकारक है व लक्ष्य को भटकाने वाला है। इसलिये आप सभी लोग अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में लीन करने के लिये कृत संकल्पित हों, पुरुषार्थ शील बनें यहीं मैं आप सभी के लिये मंगल भावना भाता हूँ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

आत्म परिचय

महानुभाव ! पूर्व काव्यों में आत्मा के यथार्थ स्वरूप को आचार्य महोदय ने बताया था। आज काव्य 26 को देखते हैं इसमें भी आचार्य महोदय आत्मा के स्वरूप को विस्तार से बता रहे हैं मुख्य रूप से इस ग्रंथ में एक-एक विषय को लेकर चार-चार काव्यों में, ऐसे 8 विषयों पर कथन किया है। यहाँ आत्मा का स्वरूप क्या है यह बताते हैं-

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगम स्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥२६॥

मेरी अकेली आत्मा, परिवर्तनों से हीन है,
अतिशय विनिर्मल है सदा, सद्ज्ञान में ही लीन है।
जो अन्य सब हैं वस्तुएँ, वे ऊपरी ही हैं सभी,
निज कर्म से उत्पन्न है, अविनाशिता क्यों हो कभी॥26॥

अन्वयार्थ-(**मम**) मेरी (**आत्मा**) आत्मा (**सदा**) हमेशा (**एकः**) एक है, (**शाश्वतिकः**) शाश्वत है, (**विनिर्मलः**) निर्मल है, (**साधिगमस्वभावः**) ज्ञानस्वभाव वाली है (**अपरे**) अन्य (**समस्ताः**) समस्त (**बहिर्भवाः**) बाहरी पदार्थ (**कर्मभवाः**) कर्म से उत्पन्न होने वाले (**सन्ति**) हैं (**स्वकीयाः**) स्वयं के (**शाश्वताः**) शाश्वत (**न सन्ति**) नहीं हैं।

यहाँ बताया-आत्मा में कभी कोई परिवर्तन नहीं है। आत्मा कभी अचेतन नहीं हो सकता, अचेतन कभी आत्मा रूप नहीं हो सकता। यह मेरी आत्मा स्वभाव से अत्यन्त निर्मल है, निर्विकारी है, अविनाशी है, निरंजन है। ज्ञानादि गुणों में लीन यह आत्मा इसका उपयोग स्व से कहीं बाहर नहीं जाये, ये मेरी आत्मा का स्वभाव है और संसार में जितने भी पदार्थ दिखाई देते हैं वे सभी मेरी आत्मा रूप नहीं बन सकते, सांसारिक वस्तुयें कभी मेरी आत्मा के प्रदेश रूप नहीं बन सकतीं और मेरी आत्मा का प्रदेश कोई भी संसार के द्रव्य रूप नहीं हो सकता। तीनों लोकों में इतनी शक्ति नहीं है कि मेरी आत्मा का एक प्रदेश बन जाये और तीनों लोकों में ऐसी शक्ति नहीं है कि मेरे एक भी आत्मप्रदेश को अचेतन बना दे या एक प्रदेश को भी कम कर दे या बढ़ा दे। आत्मा शुद्ध, निर्मल, शाश्वत, अविनाशी है और वही मैं हूँ। कहा भी है-

एगो मे सासदो अप्पा, णाण दंसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिराभावा, सव्वे संजोग लक्खणा॥१०२॥ नि.सा.

मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ, ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला हूँ, इससे भिन्न जितने भी परिणाम हैं, वे सब मुझसे बाह्य हैं, सब संयोग मात्र हैं और जहाँ संयोग है वहाँ वियोग अवश्य है। ज्ञान-दर्शन

का जीव से कभी वियोग नहीं हो सकता किंतु अन्य द्रव्यों के साथ आज संयोग, कल वियोग अवश्यम्भावी है और जिनसे वियोग है ही तो वह अपने कैसे हो सकते हैं।

पर को अपना मान बैठा निज को पहचाना नहीं।
भूल है यह आपकी जो आप को जाना नहीं॥
आप को जाने बिना परमात्म पद पाना नहीं।
परमात्म पद पा करके फिर संसार में आना नहीं॥

व्यक्ति अविनाशी को छोड़कर नाशवान् के पीछे लगा हुआ है और जो पहले ही नाशवान् है वो तो नष्ट होगा ही और उसका नष्ट होना व्यक्ति के लिए दु:ख का कारण बनता है। सुख को प्राप्त करने के लिए दु:ख के कारणों को छोड़ दो तब वह सुख भी स्वत: प्राप्त हो जाएगा।

एक व्यक्ति घूमते-घूमते कहीं नदी के किनारे पहुँचा। तभी उसे नदी में बहुत कांतिमान् एक रत्न दिखाई दिया, वह कोई सामान्य रत्न नहीं अपितु कोहिनूर हीरा था। वह व्यक्ति उस रत्न को लेने के लिए नदी में डुबकी लगाता है किंतु जहाँ उसे हीरा दिख रहा था वहाँ अब हीरा नहीं था। वह पुन: नदी के किनारे आकर खड़ा हुआ तो उसे फिर वही हीरा दिखाई दिया। उसने पुन: डुबकी लगाई परंतु हाथ कुछ भी नहीं लगा। यही क्रम 5-6 बार तक चलता रहा। वहीं थोड़ी दूर से एक साधु यह सब देख रहे थे। उन्होंने कहा "बेटा ! जिसके लिए तुम नदी में बार-बार डुबकी लगा रहे हो वह तो वहाँ है ही नहीं और जहाँ है वहाँ तुमने देखा नहीं। यह कोहिनूर हीरा इस वृक्ष पर रखा है और उसकी चमक पानी में चमक रही है।" वह व्यक्ति उन महात्मा जी के चरण स्पर्श करता है और कोहिनूर हीरे को प्राप्त कर लेता है।

महानुभाव ! इसी प्रकार संसारी प्राणी वैभव को, सुख को बाहर ढूंढ़ रहा है और जो वैभव बाहर है ही नहीं वह उसे बाहर कैसे मिलेगा? यदि व्यक्ति अनंत, नि:सीम और शाश्वत सुख चाहता है तो उस सुख का आधार भी अनंत, नि:सीम और शाश्वत होना चाहिए और शाश्वत, अविनाशी, अनंत संसार में केवल एक ही चीज है और वह है आत्मा। रूप और स्वरूप में भारी अंतर है। रूप वह है जो दिखता है और स्वरूप वह है जो देखता है। रूप परिवर्तनशील है, स्वरूप नहीं। तुम बचपन में कुछ और थे, जवानी में कुछ और रहे और अब बुढ़ापे में कुछ और हो। यह रूप का बदलना है, किंतु आत्मा शाश्वत है उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। जो तुम बचपन में थे, आज बुढ़ापे में भी वही हो। पैदाइश के वक्त जो थे, मरने के बाद भी वही रहोगे।

रूप को देखने के लिये आँखों की तो स्वरूप को देखने के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है। स्व-आत्मा सुख का भंडार है, वैभव से परिपूर्ण है। तब कस्तूरी मृग के समान बाहर भ्रमण करना व्यर्थ है। जिस प्रकार कस्तूरी मृग अपनी ही नाभि में से आने वाली सुगंध को बाहर ढूंढ़ता

है, दौड़ता है, भागता है क्योंकि उसे स्वयं के अंदर की गंध का ज्ञान नहीं उसी प्रकार अज्ञानी भी सुख की खोज बाहर करता है क्योंकि उसे भी अपने आत्म-वैभव का ज्ञान नहीं, आत्म-निधि की पहचान नहीं।

तो आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामी यहाँ कह रहे हैं कि एक आत्मा ही शाश्वत है वही मेरी है या वही मैं हूँ। जो अत्यंत निर्मल, परद्रव्यों से भिन्न, अविनाशी, निर्विकारी, ज्ञान-दर्शन-उपयोगमय है। अंतर बाह्य परिग्रह को दूर कर इसकी प्राप्ति की जा सकती है।

एक कथानक शुभचंद्र और भर्तृहरि के विषय में आता है। ये दोनों भाई राजकुमार थे। बाद में विरक्त होकर शुभचंद्र ने दिगंबरी दीक्षा को स्वीकार किया और भर्तृहरि ने जटाधारी संन्यासी का रूप धारण किया। संन्यास लेने के बारह वर्ष बाद भर्तृहरि एक रसायन तैयार करने में सफल हुआ जिससे सोना बनाया जा सकता था। तभी भर्तृहरि को अपने भाई का ध्यान आया। उसने सोचा वह कितनी दरिद्रावस्था में है कि उसके पास पहनने के लिए वस्त्र भी नहीं। थोड़ा सा रसायन लेकर शुभचंद्र मुनि के पास पहुँचा। बोला देखो मेरी बारह साल की साधना का कमाल। इससे जितना चाहे सोना तैयार किया जा सकता है। भर्तृहरि ने यह कहते हुए रसायन से भरी शीशी उनके हाथ में पकड़ा दी। शुभचंद्र मुनि ने वह शीशी उल्टी कर दी और सारा रसायन जमीन पर गिर पड़ा। यह देखकर भर्तृहरि तिलमिला उठा। बोला "ये क्या किया तुमने ? मेरी 12 साल की मेहनत को मिट्टी में मिला दिया।" शुभचंद्र मुनि बोले क्या तुमने साधना इसीलिए की थी। यदि यही सब करना था तो इसकी महलों में क्या कमी थी। भर्तृहरि क्रोधित होकर बोला तुम तो यहाँ नग्न रहते हो, तुम्हारे पास है ही क्या? वापिस कर पाओगे मेरा रसायन ?

शुभचंद्र मुनि ने नीचे से धूल उठायी, सामने वाले पहाड़ पर डाली। तत्क्षण पूरा पहाड़ सोने का हो गया। यह देख भर्तृहरि की आँखें खुली की खुली रह गईं। वह मुनिवर को प्रणाम करता है। मुनि शुभचंद्र कहते हैं जा ले जा, जितना सोना तुझे चाहिए किंतु यह सब नश्वर है। इससे सुख-शांति की प्राप्ति नहीं की जा सकती। मैं तो उस आत्म-वैभव को प्राप्त करना चाहता हूँ जिसको प्राप्त करने के पश्चात् वह कभी नष्ट नहीं होता। दुनिया का समस्त वैभव नश्वर है, क्षण भंगुर है किंतु आत्मनिधि ही ऐसी है जो अविनश्वर है, असीम है।

महानुभाव ! दो चीजें हैं एक निश्चय और एक व्यवहार। व्यवहार दृष्टि से कहा जाता है मैं स्वस्थ हूँ, रोगी हूँ, यह घर मेरा है, दुकान मेरी है। परंतु निश्चय से एक आत्मा ही है। आचार्य भगवन् श्री जयसेन स्वामी कहते हैं कि एक आँख से देखने से काम नहीं चलेगा। दोनों आँखों से देखना होगा अर्थात् व्यवहार से भी, निश्चय से भी। सिर्फ व्यवहार से काम नहीं चलता और सिर्फ निश्चय से भी काम नहीं चलता। निश्चय का मार्ग आकाश का मार्ग है जो अपने पद चिह्न नहीं

छोड़ता और व्यवहार का मार्ग भूमि का मार्ग है। हवाई जहाज भी पहले हवाई पट्टी पर दौड़ता है फिर उड़ता है या प्लेन तक पहुँचने के लिए पहले एअर पोर्ट आना पड़ेगा, फिर प्लेन में जाकर बैठना होगा उसके बाद थोड़ी दूर चलकर वह उड़ता है। इसी प्रकार बिना व्यवहार का सहारा लिए, बिना व्यवहार को जाने, बिना व्यवहार मार्ग पर चले निश्चय तक नहीं पहुँचा जा सकता। दोनों ही नयों से हर बात को देखना और समझना चाहिए। दो दृष्टि चाहिये एक व्यवहार की और एक निश्चय की। व्यवहार को व्यवहार की दृष्टि से देखो, निश्चय को निश्चय की दृष्टि से देखो। व्यवहार नय आंशिक सत्य को बताता है और निश्चय नय पूर्ण सत्य को बताता है। इसीलिए दोनों नयों से आत्मा का परिचय करना जरूरी है।

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी समयसार में कहते हैं-

जीवो चेव हि एदे, सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य, णत्थि विसेसो हु दे कोई॥६७॥

शरीर आदि के वर्ण को देखकर यदि तू ऐसा मानता है कि यह जीव ही है तो यह तुम्हारी अज्ञानता है। ज्ञानी आदमी जानता है कि ये मेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है।

निश्चय नय से न तो आत्मा किसी की है और न कोई आत्मा का है। व्यवहार में कई व्यक्ति एक साथ चलते हैं या चल सकते हैं किंतु निश्चय मार्ग में अकेली आत्मा ही प्रवेश करती है। यही बात आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामी कह रहे हैं मेरी आत्मा शाश्वत है, एक है, निर्मल है। अन्य सभी उस आत्मा से भिन्न हैं और आगे कहते हैं कि व्यक्ति जो कुछ भी प्राप्त करता है वह उस ही के द्वारा किए गए कर्म का फल है। सब कुछ कर्म के आधीन है और वह भी नश्वर है।

तो यहाँ बता रहे हैं-कि सभी बाह्य वस्तु एक नहीं, दो नहीं, समस्त वस्तुएँ आत्मा से परे हैं, वे कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है। जो कोई भी उपलब्धि सामने दिखाई देती है वह सहज उत्पन्न होती है, नष्ट होती है। या मुझे जीवन में जो कोई भी उपलब्धि प्राप्त हो रही है वह मुझे मेरे कर्म के फल स्वरूप प्राप्त हो रही है और उस कर्म का उपशम हो, कर्म का क्षयोपशम हो, कर्म की उदीरणा हो गयी, कर्म अनुदय में आने लगा या सत्ता से भी गया पुनः उस प्रकार की वस्तु मुझे नहीं मिल सकेगी, संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो अविनाशी हो। आपने सुख प्राप्त किया तो अपने पुण्य के उदय से, अच्छा पद, यश, प्रतिष्ठा जो कुछ पुण्य के उदय से तुम्हें मिला है वह शाश्वत नहीं रह सकता क्यों? क्योंकि पुण्य ही शाश्वत नहीं है, पुण्य ही नष्ट हो जाता है तो उसकी परछाई उसका फल शाश्वत कैसे रह सकता है। धूप कब तक रहेगी ज्यादा से ज्यादा सुबह से लेकर शाम तक, सूर्य को तो अस्त होना ही होना है। ऐसे ही पुण्य का सूर्य भी सदा

उदीयमान नहीं रह सकता तो पुण्य के सूर्य से प्राप्त होने वाली वह धूप स्वरूप सुख, इन्द्रियों के विषय, अनुकूलता वह शाश्वत कैसे रह सकती है ? वे तो नश्वर हैं ही इसमें कहीं भी कोई संदेह नहीं है।

यहाँ पर चार बात कहीं, पहली पंक्ति में कहा-ये आत्मा सदा-सदा से शाश्वत है। वह कभी नष्ट होने वाली नहीं है और मेरी आत्मा एक है वह कभी बिखरकर के 2-4-6 रूप नहीं बनाती। जिन्हें बहुरूपिणी विद्या भी सिद्ध होती है उनकी आत्मा भी कभी अलग-अलग नहीं होती। शरीर भले ही अलग-अलग बनाये, चाहे एक बनाये या अनेक आकार बनाये तो वह विक्रिया होती है आत्मा हमेशा अखण्ड अनुस्यूत रूप से रहती है। तो आत्मा सदा रहने वाली है वह आत्मा शाश्वत है, जो पदार्थ शाश्वत नहीं है वे आत्मरूप नहीं हो सकते। पर्यायें आती हैं चली जाती हैं पहले बात कही मेरी आत्मा एक है अनेक टुकड़े रूप नहीं हो सकती है। दूसरी बात-सदा से है, थी, रहेगी। अगली बात-'ममात्मा' वह आत्मा मेरी है, वह किसी और की नहीं हो सकती। अगली पंक्ति में विशेष रूप से कहा-

विनिर्मलः-वह स्वभाव से अत्यंत निर्मल है, उसका अनुभव करो। **साधिगमः स्वभावः**-उस आत्मा का स्वभाव क्या है? सा-माने सहित, अधिगम अर्थात् ज्ञान। वह ज्ञान स्वभावी आत्मा जानना उसका लक्षण है, गुण है, धर्म है, दर्शन उसका लक्षण स्वभाव गुण है, अनंत शक्ति उसका स्वभाव है, गुण है, धर्म है। अनंत सुख आदि आत्मा के गुण धर्म हैं। तो इसलिये मेरी आत्मा साधिगमस्वभावी है। तृतीय पद में आचार्य महोदय कह रहे हैं देखो जो तुम्हारी आत्मा के बारे में हम चर्चा कर रहे हैं वही वास्तव में तुम हो, उसके अलावा संसार में जो कुछ भी तुम्हें दिखाई दे रहा है, पदार्थ का अनुभव आ रहा है या दृष्टिगोचर न होकर के कर्णगोचर हो रहा है या अन्य इन्द्रियों के गोचर हो रहा है वे सब पदार्थ तेरी आत्मा से पृथक थे, हैं और पृथक ही रहेंगे वे कभी तेरे आत्म स्वरूप नहीं हो सकते। चौथी बात कही-कर्म के फल भी शाश्वत नहीं हैं। इस प्रकार यह 26वाँ काव्य यहाँ देखा।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

मृत्यु महोत्सव

न्यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्द्धं, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः, कुतोहि तिष्ठन्ति शरीर मध्ये॥२७॥

है एकता जब देह के भी साथ में जिसकी नहीं,
पुत्रादिकों के साथ उसका, ऐक्य फिर क्यों हो कहीं,
जब अंग भर से मनुज के चमड़ा अलग हो जायेगा,
तो रोंगटों का छिद्रगण, कैसे नहीं खो जायेगा॥27॥

अन्वयार्थ-(**हि**) निश्चय से (**यस्य**) जिसका (**वपुषा सार्द्धं अपि**) शरीर के साथ भी (**ऐक्यं**) एकपना (**न**) नहीं (**अस्ति**) है, (**तस्य**) उस जीव का (**पुत्रकलत्रमित्रैः**) पुत्र, स्त्री और बन्धुजनों के साथ (**किम्**) कैसे (**ऐक्यम्**) एकपना (**अस्ति**) हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है, (**चर्मणि**) चमड़ी के (**पृथक्कृते**) शरीर के मध्य में (**कुतः**) कैसे (**तिष्ठन्ति**) ठहर सकते हैं ? अर्थात् नहीं ठहर सकते हैं।

आप पढ़ते हैं बारह भावना में-

जहाँ देह अपनी नहीं तहा न अपना कोय।
घर सम्पत्ति पर प्रकट है पर है परिजन लोय॥

जो शरीर जन्म से भी पहले जिस आत्मा के साथ में है जब वह शरीर भी आत्मा रूप नहीं था, न है, न हो सकेगा, तो शरीर पर धारण किये वस्त्र मेरे कैसे हो सकते हैं ? शरीर से पृथक् माता-पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र मेरे कैसे हो सकते हैं ? और इस शरीर से अत्यन्त पृथक दिखाई देने वाला यह महल, मकान-दुकानादि, वाहन, घोड़ा, मुद्रा आदि बाह्य चीजें कैसे आपकी हो सकती हैं ? ये जो आपको दिखाई दे रही हैं वह चीज अलग हैं और मैं अलग हूँ। मिथ्यादृष्टि ही उस पर को अपना मानता है, वह उसमें ही लीन रहता है, मेरी दुकान, मेरी फैक्ट्री। अरे भाई ! तेरा कुछ भी नहीं है तू तो स्वयं ही चार दिन का मेहमान है। मेहमान से ये शब्द कह दिया जाता है-वह पूछे यह दुकान किसकी है? अरे साहब आप ही की है। ये मकान किसका है? अरे आपका ही है आदि-आदि बातें मेहमान से कह दी जाती हैं उसका मन रखने के लिये, क्योंकि उसके साथ एक्य भाव कर लिया, आपकी और हमारी चीज कोई अलग-अलग थोड़े ही है। तो ऐसे ही संसार की वस्तुएँ कहने में भले ही आयें, ये मेरी है-वो मेरी है किंतु वास्तव में तुम्हारी नहीं है। जैसे मेहमान की सम्पत्ति तो वह है जो उसके गाँव में उसके नाम से है। यहाँ मेहमान बनकर जहाँ आया है वहाँ वहीं के स्वामी की सम्पत्ति है उस पर इसका हिस्सा नहीं है।

महानुभाव ! व्यक्ति बाहरी वस्तुओं के पीछे पड़ा हुआ है। परंतु माता-पिता, स्त्री, पुत्र आदि उसके कोई नहीं हैं। यहाँ तक की उसका अपना शरीर भी अपना नहीं है।

एक बालक नई साइकिल लेने के लिए पहुँचा। उसने साइकिल खरीदी और लेकर चल दिया। उस साइकिल की एक साल की गारण्टी मिली। वह जैसे ही बाहर निकला दस मिनट भी नहीं हुए वह लौटकर वापिस आया और साइकिल खड़ी कर दी कहने लगा-सम्हालो अपनी साइकिल। कर्मचारियों ने देखा कि साइकिल में तो कोई कमी नहीं है, फिर क्या बात है? उससे पूछा-यह तो नई की नई साइकिल है इसमें क्या कमी है? क्या कोई पार्ट टूट गया, खराब हो गया? हम अभी ठीक कर देते हैं, हमने आपको एक साल की गारंटी दी है। वह बोला कि अरे ! यह साइकिल तो ठीक है लेकिन इस साइकिल से मेरा चश्मा टूट गया, मेरे दाँत टूट गए। मेरे लिए तो मैं अमूल्य हूँ, गारंटी तो मेरी होनी चाहिए।

महानुभाव ! इसी प्रकार संसारी प्राणी शरीर की रखवाली करता है, उसको सजाता है किंतु आत्मा जो बहुमूल्य है या कहें जो कुछ है वही है उसकी ओर देखता भी नहीं। आत्मा के लिए कभी विचार ही नहीं किया और उस शरीर के प्रति, बाहरी वस्तुओं के प्रति ममत्व भाव रखा जिसके कारण यह आत्मा कष्टों को झेलती रही। इस गति से दूसरी गति, संसार में परिभ्रमण कर दु:ख उठाती रही। आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी अपना नहीं है। आप स्वजन, परिजन, पुरजन की बात करते हैं जब आपका शरीर भी अपना नहीं है तो और क्या अपना हो सकता है।

संसार की प्रत्येक वस्तु का गारंटी कार्ड तैयार किया। यहाँ तक कि अब तो शरीर का यानि जीवन बीमा (लाइफ इंश्योरेंस) भी होता है। आत्मा तो कभी नष्ट होती नहीं है, शरीर ही नष्ट होता है तो उस नाशवान् शरीर का भी बीमा हो गया। किन्तु अब अपनी आत्मा है उसका क्या? तो उस आत्मिक सुख का गारंटी कार्ड हमारे आचार्यों के अतिरिक्त और कौन दे सकता है? आत्मा शीघ्र मोक्ष सुख प्राप्त करेगी उसके लिए आचार्य भगवन् श्री अमृतचंद्र स्वामी कहते हैं-मैं तुम्हें मोक्षमार्ग का, शान्ति का उपाय बताता हूँ इसे एक बार करो, मैं गारंटी के साथ कहता हूँ तुम्हारी आत्मा शीघ्र मोक्ष को प्राप्त कर लेगी। संसार में आज तक वस्तुओं की गारंटी दी गई, उपायों की गारंटी दी कि इस उपाय को करने से यह वस्तु मिल जाएगी, दर्द ठीक हो जाएगा, एडमीशन हो जाएगा आदि किंतु आत्मा को शिवत्व प्राप्ति कैसे हो उस उपाय की गारंटी यहाँ आचार्य महाराज दे रहे हैं।

विरम किमपरेणा कार्य कोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्यषण्मासमेकं।

हृदय सरसि पुंसः पुद्गलाद् भिन्न धाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥३४॥ स. कलश

हे जीव ! व्यर्थ के विकल्पों से कोई लाभ नहीं है। ठहरो! विश्राम लो। और यदि वात्मोपलब्धि की भावना है तो छः मास के लिए पुद्गल से भिन्न निज आत्म द्रव्य का चिंतन करो, अनुभव करो।

यह है महिमा भेद विज्ञान की। शरीर अलग है और आत्मा अलग है यह ज्ञान, केवलज्ञान का कारण बना। आचार्य महाराज भी यही कह रहे हैं कि किसी और चीज को तो दूर इस शरीर को भी अपना मत समझना।

महानुभाव ! दुनिया का सबसे बड़ा सच है-मृत्यु। आज और कल-ये दो हाथ हैं उस काल के, जिसे लोग 'मृत्यु' भी कहते हैं। इन्हीं से वह धीरे-धीरे, बिना कोई आहट किए प्रत्येक व्यक्ति को अपना भोजन बना रहा है। जिसने जन्म लिया है उसका मरण अवश्यम्भावी है। ऐसा कोई संयोग नहीं जब वियोग न हो, ऐसा कोई जन्म नहीं जब मरण न हो। यदि मृत्यु होनी ही है तो क्यों न उसे मंगलमय बनाया जाए। क्या मरण भी मंगलमय होता है? हाँ ! दुनिया में एक जैन दर्शन ऐसा है जो मरण को मंगलमय बनाने की बात करता है, मृत्यु को महोत्सव कहता है। जन्म को महोत्सव तो सब दर्शन कहते हैं परंतु मृत्यु को महोत्सव कहने वाला जैन दर्शन है। आयु पूर्ण हो जाने पर आत्मा यह शरीर छोड़, दूसरा शरीर धारण करती है यह मृत्यु है। किंतु समतामय विशुद्ध परिणामों के साथ प्रभु-परमात्मा का ध्यान करते हुए जो मृत्यु होती है वह महोत्सव का रूप ले लेती है।

जो व्यक्ति जीवन भर शुभ-धार्मिक कार्यों में रत रहा और अंत में शांत परिणामों के साथ शरीर का परित्याग किया तो ऐसा मरण मंगलमय है, महोत्सव है और जिस व्यक्ति ने जीवन में कोई शुभ कार्य नहीं किया, अच्छा काम नहीं किया और ऐसे ही शरीर का परित्याग कर दिया तो वह मरण मंगलमय नहीं कहला सकता। साधु भी पूरे जीवन समाधि की साधना करता है और आप भी यदि अपनी मृत्यु को महोत्सव बनाना चाहते हैं तो अभी से तैयारियाँ आरंभ कर दें। जिस प्रकार घर में कोई विवाह आदि महोत्सव हो तो तैयारियाँ उसी दिन करते हैं क्या? नहीं, महीनों पूर्व तैयारियाँ आरंभ हो जाती हैं। जब छोटे-मोटे महोत्सव की तैयारियाँ बहुत पहले से आरंभ कर देते हैं तब तो यह उत्कृष्ट मृत्यु-महोत्सव है जिससे यह अनंत संसार अत्यल्प रह जाता है उसकी तैयारियाँ तो आरंभ हो जानी चाहिए थीं। किन्तु यदि नहीं हुईं तो अब प्रारंभ कर दें। जब जागो तभी सवेरा।

कम से कम दिन में एक मिनट के लिए चिंतन करो आत्मा से पृथक् कुछ भी तुम्हारा नहीं है। स्वजन, पुरजन, परिजन यहाँ तक कि यह शरीर भी तुम्हारा नहीं है।

जल पय ज्यों जिय तन मैला, पै भिन्न-भिन्न नहीं भेला।
त्यों प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिल सुत रामा॥

जैसे दूध और पानी एक साथ रहते हुए भी भिन्न-भिन्न हैं, एक क्षेत्रावगाही होने पर भी दोनों का अस्तित्व भिन्न है उसी प्रकार शरीर और आत्मा एक दूसरे से भिन्न हैं, पृथक्-पृथक् हैं। जब दूध-पानी की तरह से मिले हुए दिखाई देने वाले शरीर और आत्मा भी एक नहीं हैं तो प्रत्यक्ष रूप से अलग दिखाई देने वाले स्त्री, पुत्रादि जीव के कैसे हो सकते हैं?

जिस प्रकार पुरुषार्थ के द्वारा दूध और पानी को अलग-अलग किया जा सकता है उसी प्रकार भेद विज्ञान के द्वारा शरीर और आत्मा को अलग-अलग करो।

तो महानुभाव ! जब आत्मा में विद्यमान कर्म, कर्म का फल भी तुम्हारा नहीं है वह पुण्य भी तुम्हारा नहीं है, पुण्य का फल भी तुम्हारा नहीं है उस पर भी तुम्हारा जोर नहीं चलता। जैसे-रोम हाथ में से निकालो तो वह निकल जाता है रोम अलग है छेद अलग है दोनों एक मेक नहीं हैं, चमड़ी जब निकल जाती है रोम तो ज्यों का त्यों लगा रह जाता है तो चमड़ी अलग है रोम अलग है।

जब अंगभर से मनुज के चमड़ा अलग हो जायेगा,
तो रोंगटों का छिद्रगण कैसे नहीं खो जायेगा॥

चमड़े को निकालो तो चमड़े में रोम का छेद दिखाई नहीं देता, वह जब लगा था तब दिखाई दे रहा था, निकाल दिया तो छेद दिखाई नहीं दे रहा ऐसे ही पृथक् किये जाने पर, क्या रोम छिद्र दिखाई देते हैं? नहीं देते। दोनों अलग-अलग हैं रोम अलग है चमड़ा अलग है ऐसे ही जब शरीर में रोम और चमड़ा अलग-अलग है वे एक नहीं हो सकते तो इस शरीर में विद्यमान आत्मा और शरीर एक कैसे हो सकते हैं ? आत्मा अलग है, शरीर अलग है, इस प्रकार आचार्य महोदय ने यहाँ समझाने का प्रयास किया कि जो व्यक्ति शरीर और आत्मा को एक मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। जो व्यक्ति आत्मा को आत्मा, शरीर को शरीर मानते हैं या जो जैसा है उसे वैसा मानते हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं। इस प्रकार 27वाँ काव्य पूर्ण हुआ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

दुःख का कारण-संयोग

महानुभाव ! आचार्य श्री अमितगति स्वामी की प्रेरणा देने वाली यह कृति, शब्दों में निबद्ध उनका वात्सल्य, ज्ञान की ज्योति, रत्नत्रय की प्रेरणा वह सब, ज्यों-ज्यों अंदर में घुसते चले जाते हैं त्यों-त्यों आत्मा निर्मल होती चली जाती है। वे कभी व्रतों के बारे में सावधान करते हैं तो कभी भक्ति की प्रेरणा देते हैं। उन्होंने परमात्मा का स्वरूप ऐसे बताया जैसे हाथ पर रखा आंवला, वैसे ही उस परमात्मा का स्वरूप बताया जैसे कि वह अभी यहीं ही है और जब निष्पक्षता से हम परमात्मा के स्वरूप को देखते हैं तो लगता है इसके अलावा परमात्मा का और कोई स्वरूप हो ही नहीं सकता। मेरा परमात्मा ऐसा है जिस पर मैं श्रद्धा करता हूँ ऐसे परमात्मा की व्याख्या यहाँ हमने देखी। इसके साथ-साथ बताया कि सामायिक के लिये किसी चौकी, शिला, आसन, वृक्ष की छाया की या विशेष सामग्री की नहीं अपितु अपने विशेष निर्मल मन की आवश्यकता है तभी समत्वरूप भाव से सामायिक बन सकती है और समाधि के लिये भी कहा-

हे भद्र आसन लोक पूजा संघ की संगति तथा।
ये सब समाधि के न साधन वास्तविक में हैं प्रथा॥

इन सब प्रथा, रूढ़ि से हटकर के आचार्य महोदय ने ये बात कही होगी उस समय तत्कालवर्ती कितने ही साधुओं ने इसका विरोध किया होगा कि हे महाराज ! आप क्या लिख रहे हैं। ये बात लिखकर आप साधुओं की, धर्मात्माओं की अवहेलना करना चाह रहे हैं क्या? अरे साधु की समाधि के लिये तो 48 मुनियों की बात कही है, कम से कम 4 की आवश्यकता कही है और आप कह रहे हैं इन सभी की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने कहा-हम किसी आगम की बात का निषेध नहीं करते किंतु हम ये कहना चाहते हैं कि जो कोई भी क्रिया आप कर रहे हैं वह क्रिया क्यों कर रहे हैं, उस क्रिया के लक्ष्य को समझ लो, उसके भाव को समझ लो तो तुम्हारी क्रिया सफल और सार्थक हो जायेगी।

यदि उसके भाव को नहीं समझा, जिस राह पर आप चल रहे हैं उसकी मंजिल के बारे में नहीं जाना तो कहीं ऐसा न हो बाद में आपको पश्चाताप करना पड़े और चले भी तो भूलकर कहीं गलत स्थान पर पहुँच गये तो लौटकर आना पड़ेगा। इसलिये आचार्य महोदय कह रहे हैं जल्दबाजी न करें पहले सोच लें, कि आत्मा को प्राप्त करना है तो वह आत्मा क्या है? ऐसा न हो कहीं भ्रमित हो जायें जिसे हाथ में लिया वह तो पुद्गल है, सुख के बदले दुःख की पोटली हाथ लग जाये, स्वभाव की जगह विभाव के दलदल में फंस जायें। वह तो सोच रहा है मैं स्वाधीन स्वतंत्र अवस्था को प्राप्त करूँगा और जब आगे बढ़कर देखा तो उन कर्मों के जाल में स्वयं को कसा पाया। कहीं तेरे साथ ऐसा न हो, इसलिये सावधान करना महापुरुषों का अनादि काल से कर्त्तव्य रहा, उन्होंने

चलने वाले हर राही को सही राह दिखाने के लिये पुरुषार्थ किया है, डूबते को बचाने के लिये सहारा दिया है आप भक्तामर में पढ़ते हैं-

''वालम्बनं भव जले पततां जनानां'' संसार सागर में जो पतित हो रहे हैं ऐसे मनुष्यों को हे प्रभु ! हे भगवन् ! आपने आलम्बन दिया है। महापुरुषों का यह कर्त्तव्य रहता है कि वे पतित हुये व्यक्तियों को उबारें। यदि कोई महापुरुष, समर्थ पुरुष, असमर्थ को सहारा देकर समर्थ नहीं बनाये तो उसका समर्थपना दो कोड़ी का है। यदि कोई व्यक्ति अरबपति-खरबपति है तो बना रहे उसके इतने अमीर होने से क्या लाभ? जब वह किसी गरीब व्यक्ति की क्षुधा को दूर न कर सके। किसी बेरोजगार को रोजगार न दे सके, उसका अमीर बनना किस काम का ? उसने देश, धर्म, समाज के लिये यदि कुछ किया है तो वह वास्तविकता में सामर्थ्यवान् है, नहीं कर सकता है तो किसी काम का नहीं।

जिसने दूसरे व्यक्ति के लिये त्याग किया है उसी की महिमा तीनों लोकों ने गायी है। त्यागी पूज्यनीय होते हैं, विरागी उससे भी ज्यादा पूज्यनीय होता है, वीतरागी तीन लोक में सबके द्वारा पूज्यनीय होता है। तो आचार्य महोदय इसलिए समझा रहे हैं, क्योंकि उनके पास दृष्टि है समीचीन धर्म दृष्टि, तत्त्वदृष्टि, कृपादृष्टि वह किसी के साथ पक्षपात नहीं रखना चाहते। तुम भी चल रहे हो तुम्हें भी लौटकर न आना पड़े इसलिये सही राह में कदम बढ़ाना। धीमे-धीमे चलो, भले ही 2 मिनट बाद चलो, हड़बड़ी में यदि गलत राह में चल दिये तो पूरा भव ही व्यर्थ चला जायेगा। तुम्हारा पुण्य का परिश्रम भी बेकार चला जायेगा। जल्दबाजी में अपने जीवन के कई निर्णय ऐसे ले लिये जाते हैं जिनके लिये बाद में पश्चाताप करना पड़ता है। यदि जीवन के अंत में भी होश आ जाये तब भी समाधि करके सामायिक के द्वारा अपने जीवन को सफल और सार्थक किया जा सकता है। गर उस समय भी पूर्वसंस्कारों वश होश नहीं आया, रस्सी हाथ से फिसलती जा रही है उस समय इतना साहस नहीं हो पाता कि फिसलती रस्सी को कसकर पकड़ लिया जाये फिर तो अपनी आँखों के सामने से रस्सी चली जाती है जीवन भी रस्सी की तरह अपनी आँखों के सामने से चलता चला जा रहा है मैं पकड़ नहीं पा रहा चाहूँ तो अपने जीवन को सफल और सार्थक कर लूँ। इन अंतिम परीक्षाओं के क्षण में भी यदि मैं जागरूक हो गया तो भी पूरे जीवन को सफल और सार्थक बनाया जा सकता है। महानुभाव! आचार्य महोदय और क्या-क्या कहना चाहते हैं-पिछले काव्य में कहा-जब इस शरीर से ही हमारा एकीभाव नहीं है तो बाहर के पदार्थों के साथ एकीभाव कैसे हो सकता ? वह तो पृथक है ही, आज 28वाँ काव्य देखते हैं-

संयोगतो दुःखमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम्॥२८॥

संसार रूपी गहन में है, जीव बहु-दुःख भोगता,
वह बाहरी सब वस्तुओं के, साथ कर संयोगता।
यदि मुक्ति की है चाह तो फिर जीवगण! सुन लीजिये,
मन से, वचन से, काय से, उसको अलग कर दीजिये।।28।।

अन्वयार्थ-(**यतः**) क्योंकि (**शरीरी**) प्राणी (**जन्मवने**) संसार रूपी वन में (**संयोगतः**) संयोग से उत्पन्न होने वाले (**अनेकभेदम्**) अनेक प्रकार के (**दुःखम्**) दुःख को (**अश्नुते**) प्राप्त होता है (**ततः**) इसलिए (**आत्मनीनाम्**) आत्मा के कल्याण को करने वाली (**निर्वृतिम्**) मुक्ति को (**यियासुना**) प्राप्त करने की इच्छा वाले पुरुष को (**असौ**) वह संयोग (**त्रिधा**) मन, वचन और काय से (**परिवर्जनीयः**) त्याग कर देना चाहिए।

यहाँ पर आचार्य किस प्रकार की कृपा दृष्टि हम पर कर रहे हैं। **संयोगतो दुःख मनेक भेदं**-संयोग से, अनेक प्रकार के दुःख इस आत्मा को प्राप्त होते हैं। किसके संयोग से?-कर्म के संयोग से। जब आत्मा कर्म का संयोग प्राप्त करती है तब दुःख प्राप्त होते हैं। कर्म के वियोग से दुःख प्राप्त कभी नहीं होता, पर वस्तुओं के संयोग से कदाचित् कभी-कभी सुखाभास की अनुभूति होती है किंतु सच्चा सुख कभी संयोग में नहीं है। संयोग तो दुःख का ही कारण है, सुख का नहीं।

यदि किसी बर्तन में पानी रखा है उस बर्तन के साथ किसी पदार्थ का संयोग हो जाये तो पानी अपने स्वभाव को छोड़ने लगेगा, यदि अग्नि का संयोग हो जाये तो जल अपनी शीतलता छोड़ देगा। यदि फ्रीजर में रख दिया जाये तो जम जायेगा। सहजता में जो उसकी शीतलता है वह नष्ट हो जायेगी, यदि पानी में कोई रंग डाल दिया जाये तो उसका रंग वैसा ही हो जायेगा। जो कोई भी संयोग उस पानी के साथ आता जायेगा पानी का स्वाभाविक गुण नष्ट होता चला जायेगा। हमारी आत्मा भी किसी भी वस्तु का संयोग प्राप्त करती है तब निःसंदेह वह विभाव अवस्था में पहुँच जाती है और विभाव में सुख-शांति नहीं है।

हमसे किसी व्यक्ति ने पूछा कि सभी संयोग दुःख के कारण हैं? क्या प्रभु और गुरु का संयोग भी दुःख का कारण है?

तब हमने कहा आपकी भाषा में तो हमें यह कहना पड़ेगा कि गुरु और प्रभु का संयोग सुख का कारण है किंतु हमारी भाषा में कहना पड़ेगा-प्रभु और गुरु का संयोग भी दुःख का कारण है। जब तक हम प्रभु और गुरु को थामे रहेंगे तब तक निश्चय मोक्षमार्ग में नहीं पहुँचेंगे, व्यवहार मोक्ष मार्ग में अटक कर रह जायेंगे। भगवान् महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के उपरांत गौतम स्वामी को जो अंतिम उद्बोधन मिला वह अंतिम शब्द श्वेताम्बर ग्रंथों में आता है-गौतम तू संसार सागर पूरा पार कर गया, तेरा राग मेरे प्रति है। जब तक तू इसे नहीं छोड़ेगा तब तक तू आत्मा के वैभव को

नहीं पा सकेगा। वह राग जब छोड़ा तभी आत्म वैभव प्राप्त किया। उसी दिन संध्याकाल में केवल ज्ञानी बन गये।

तो संयोग कोई भी हो वह संसार का कारण है और संसार को सुख का स्थान कभी नहीं कह सकते। संसार के कितने भी उत्कृष्ट पुण्य के फल प्राप्त हो जायें तब भी वह दु:ख ही है। दूसरी बात कोई कहे कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इनका संयोग आत्मा को प्राप्त होता है तो क्या ये भी दु:ख के कारण हैं? दरअसल में बात ये है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र कोई बाह्य चीज नहीं है जो इसे आत्मा के साथ मिलाया जाये अपितु आत्मा में विद्यमान वह आत्मा का ही स्वभाव है। उस पर जो कर्मों का आवरण है उसे नष्ट करके आत्मा में प्रगट किया जाता है। संयोग वह कहलाता है जो बाहर से पदार्थ आकर आत्मा के साथ मिले, रत्नत्रय को बाहर से आत्मा में धारण नहीं किया जाता यह तो व्यवहार की भाषा में बोला जाता है कि सम्यग्दर्शन धारण किया, स्वाध्याय कर ज्ञान धारण किया या चारित्र को संकल्पपूर्वक धारण किया। ये व्यवहार की भाषा है अपितु आत्मा में रत्नत्रय है।

रयणत्तयं ण वट्टइ, अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि।
तम्हा तत्तिय मइओ, होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा॥४०॥द्र.सं.

आत्मा ही मोक्ष का कारण है, आत्मा में ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है बाहर में नहीं है। इसलिये रत्नत्रय और आत्मा का संयोगी संबंध नहीं मान सकते। वह तो एक ही है, अलग कुछ है ही नहीं। इसलिये वह रत्नत्रय नियम से सुख का व स्वभाव को प्राप्त कराने का कारण होता है।

हमारी आत्मा का स्वभाव है सुख और शांति। अज्ञान वैभाविक परिणाम है स्वाभाविक नहीं। हमारा स्वाभाविक गुण लक्षण है ज्ञान, सुख, दर्शन, अमूर्तपना किंतु वैभाविक गुण को, कर्म को साथ लिया तो वे हमें अधोगति में लेकर चल देंगे। कर्म अपनी गाड़ी में बैठाकर ले जायेंगे कभी स्वर्ग की ओर, कभी नरक की ओर, कभी तिर्यंच गति में, कभी मनुष्य गति में, कभी भोग-कुभोग भूमि में। जब-जब भी हम कर्मों की नाव पर सवार हुये, कर्म के वाहन पर बैठे तो ये कर्म हमें तीनों लोकों की यात्रा कराता रहा और जैसे ही आत्मा कर्मों से रहित हो जायेगी तो आत्मा, आड़ी-तिरछी कहीं गमन न करेगी, फिर वह आत्मा ऊर्ध्वस्वभाव गमन करेगी-

जीवो उवओगमओ अमुत्तिकत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥२॥द्र.सं.

ऊपर जाना उसका स्वभाव है उसे प्राप्त कर लेगी। जीवंतता उसका स्वभाव है, उसमें पर की आवश्यकता नहीं। उसके सभी सहज स्वभाव हैं। बनावटपन आत्मा का स्वभाव नहीं है, मिलावट,

दिखावट, सजावट, कड़वाहट, मुस्कुराहट आत्मा के स्वभाव नहीं हैं ये सब तो वैभाविक परिणाम हैं। कभी हम मिलावट को अच्छा मानते हैं। आत्मा में जिन वैभाविक परिणामों को मिलाते हैं उससे डिमोशन ही होता है। कभी हम आत्मा को सजाते हैं तो इसकी भी आवश्यकता नहीं वह सहज शुद्ध सौन्दर्य से युक्त है। कभी कुछ बनाकर आत्मा को प्रस्तुत करना चाहते हैं तो वह भी कृत्रिमता है सहजपना नहीं। या हम आत्मा के साथ कोई भी सुलूक करते हैं इससे आत्मा में कड़वाहट ही आती है। व्यवहारिक जिंदगी जीने के लिये मुस्कुराहट जरूरी है, रोओ मत, हँस कर जीओ। आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा-जो व्यक्ति अपने किसी मित्र की इंतजारी कर रहा है तो वह धूप में बैठकर इंतजारी क्यों करे छाया में बैठकर कर ले।

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वतनारकम्।
छाया तपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्॥३॥ इष्टोपदेश

व्रतों का पालन करके स्वर्ग में रहना अच्छा है अव्रती बनकर नरक में रहना अच्छा नहीं है। यदि आज आपका मोक्ष नहीं है तब तक स्वर्ग में रहकर भगवान् की पूजा पाठ कर लो या महाराज बनकर संयम का रसास्वादन कर लो। ठीक है हमारी जितनी भी पर्याय बाकी रह गयीं 2-5-6 उन पर्यायों में हम नरकादि के दुःख क्यों भोगें? अच्छे पुण्य के कार्य कर सुख भोगें न।

तो सहजता में ही सुख की प्राप्ति है। हम अपनी आत्मा में ऐसे अभद्र परिणाम क्यों लायें जिससे कड़वाहट आये। हम जब तक मोक्ष नहीं जा रहे तब तक संसार में मुस्कुरा कर जीयें, रोयें नहीं, इस अपेक्षा से तो ठीक है किंतु वास्तव में न तो स्वर्ग में रहना हमारा स्वभाव है, न मुस्कुराना हमारा स्वभाव है ये सब वैभाविक परिणाम हैं। तो यहाँ कह रहे हैं-'संयोगतो'-जो भी संयोग हैं 'दुःख मनेक भेदं'-अनेक दुःख देने वाले हैं। कर्म के उदय से कोई सुख नहीं मिलता, बताओ कौन से कर्म के उदय से आत्मा में अनंत सुख की प्राप्ति होती है? किसी भी कर्म के उदय से नहीं, अपितु चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से अनंत सुख की प्राप्ति होती है। सर्वज्ञानावरणी कर्म के क्षय से अनंतज्ञान की प्राप्ति होती है, दर्शनावरणी कर्म के क्षय से अनंत दर्शन की, अंतराय कर्म के क्षय से अनंत शक्ति की प्राप्ति होती है। किसी भी कर्म के उदय से सिद्धत्व की प्राप्ति नहीं होती, सभी कर्मों के क्षय से सिद्धत्व की प्राप्ति होती है। कोई भी कर्म हमें स्वभाविक अवस्था में नहीं ले जा सकता। यहाँ तक कि तीर्थंकर प्रकृति ही क्यों न हो, जब तक वह प्रकृति उदय में रहेगी तब तक स्वभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती, अंशतः स्वभाव की प्राप्ति भले ही हो जाये पूर्णतः स्वभाव की प्राप्ति तभी होगी जब वह कर्म नष्ट हो जायेगा तब सिद्धत्व की प्राप्ति हो जायेगी।

तो यहाँ बता रहे हैं-**यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी**-यह जन्म और मरण एक संसार वन है, जंगल है, शरीरी माने जीवात्मा। वह इस वन में भ्रमण कर रहा है कभी पर्वतों पर चढ़ जाता है,

कभी कंदराओं में चला जाता है, कभी झाड़ियों में फँस जाता है सब जगह इस प्रकार जंगलों में घूमना यह उसका स्वभाव नहीं है। उस जंगल में जो सबसे ऊपर महल बना है उसमें रहना उसका स्वभाव है तो ऐसे ही जो संसारी संसार रूपी जंगल में भटक रहे हैं वे वास्तव में स्वभाव को भूलकर भटक रहे हैं सिद्धालय में जाना हमारा स्वभाव है। इसलिये इन बाहरी संयोगों को मनसा वाचा कर्मणा तीनों प्रकार से छोड़ देना चाहिये, नहीं छोड़ोगे तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि तुम्हारे मन में जिजीविषा है, याचना है, चाहते हो कुछ मांगते हो तो क्या करना है मन-वचन-काय से सभी संयोगों को छोड़ दो।

''गर मुक्ति की है चाह तो फिर जीवगण ! सुन लीजिये।
मन से वचन से काय से, उसको अलग कर दीजिये॥

एक परमाणु भी तुम्हारा नहीं है सब बाह्य पदार्थ हैं। कोई भी परमाणु आत्मा का स्वभाव नहीं है। कोई परमाणु आज दु:ख का कारण है, कोई सुखाभास का कारण है। किन्तु वास्तव में है तुम्हारी आत्मा से पर। जो आत्मा से विलग है उसे अपना क्यों मानते हो ? यह बात यहाँ बतायी। इसी के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

खारजलं खलु धोवदि, बहुमलपुंजं वि मलिणवत्थाणं।
तह जिणभत्ती धोवदि, सव्व-राय-दोसमल-पुंजं॥३९॥

अर्थ:-निश्चय ही क्षारयुक्त जल वस्त्रों के मल पुंज को धोता है उसी प्रकार जिनभक्ति सर्व रागद्वेष-मल पुंज को धो देती है।

-जिणवर-थोत्तं
(आचार्य श्री वसुनंदी मुनि)

शरीर और आत्मा

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं, संसार कान्तार निपात हेतुम्।
विविक्तमात्मान मवेक्ष्य-माणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे॥२९॥

देही ! विकल्पित जाल को तू दूर कर दे शीघ्र ही,
संसार वन में डालने का मुख्य कारण है यही।
तू सर्वदा सबसे अलग निज आतमा को देखना,
परमात्मा के तत्त्व में तू लीन निज को लेखना॥29॥

अन्वयार्थ-(**संसारकान्तारनिपातहेतुम्**) संसाररूपी वन में पतन के हेतुभूत (**सर्वं**) सम्पूर्ण (**विकल्पजालं**) विकल्प जालों को (**निराकृत्य**) दूर करके (**विविक्तम्**) एकमात्र (**आत्मानम्**) आत्मा को (**अवेक्षमाणः**) देखते हुए (**त्वम्**) तुम (**परमात्मतत्त्वे**) परमात्मतत्त्व में (**निलीयसे**) लीन रहो।

यहाँ बता रहे हैं-**सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं**-सम्पूर्ण विकल्पों के समूह को दूर कर दे, निराकरण कर दे। जितने भी विकल्प हैं वे तुझे संकल्प नहीं लेने देते और ये बिना संकल्प के तुझे कृल्पवृक्ष जैसे फल की प्राप्ति नहीं होने देते। एक बार संकल्प कर ले अपनी आत्मा के वैभव को प्राप्त करने के लिये तो संसार का कोई भी व्यक्ति, कोई भी पुद्गल, कोई भी शक्ति तुझे बाधक नहीं बन सकती। किन्तु पहले सभी विकल्पों के जालों को तो तोड़ना पड़ेगा। संकल्प होता है एक और दो हो गये तो विकल्प। पहले ये करूँ या ये करूँ। पहले गृहस्थी के कर्त्तव्यों से मुक्त हो जाऊँ या कल्याण का मार्ग अपनाऊँ। वह झूला सा झूलता रहेगा और संकल्प वह है जहाँ कोई भी विकल्प नहीं। मुझे अपना कल्याण करना ही है। जिस जीव का जैसा होना होगा, उसकी परिणति उस पर निर्भर करती है मुझे अपनी आत्मा को देखना है।

संकल्प के माध्यम से लक्ष्य की प्राप्ति होती है। जब दो होते हैं तब द्वन्द चलता रहता है। विकल्प वि-दो, कल्प-कल्पनायें। जब दो कल्पनायें जीवन में एक साथ चलती हैं तो विकल्प हो जाता है और सं याने समीचीन कल्प याने कल्पना उस समय बुद्धि ने कहा-तेरे लिये समीचीन यही है कि पहले दायित्व से मुक्त हो जा तब जाना। उसने एक को ग्रहण कर लिया तो संकल्प है या अपना कल्याण करना है उस समय बुद्धि ने जो भी समझा ग्रहण किया वह 'एक' संकल्प कहलाता है। तो यहाँ कह रहे हैं समस्त विकल्पों को छोड़े बिना साक्षात् अमृत का पान नहीं किया जा सकता। समस्त विकल्पों को छोड़कर ही योगी आत्मा में रमण करने में समर्थ होते हैं। आचार्य अमितगति स्वामी जी ने कितनी अच्छी कारिका लिखी है-जो आत्मा को झकझोरने वाली है, ऐसा लगता है सब छोड़कर जंगल में बैठ जाओ जहाँ कोई आदमी दिखे ही नहीं क्योंकि जितना परिचय

बढ़ेगा, उतना परिग्रह बढ़ेगा और विकल्प जाल आते चले जायेंगे। जितना परिचय व परिग्रह कम होगा उतने विकल्प जाल कम होते चले जायेंगे। इसलिये कहा-

संसार कान्तार निपात हेतुम्-ये विकल्प जाल ही कान्तार, अर्थात् अटवी में डालने के हेतु हैं यदि संसार सागर में डालने का या पतित करने का कोई कारण है तो वह विकल्पजाल है चाहे देह का विकल्प हो, चाहे देह के रिश्तेदारों का विकल्प हो, किसी भी प्रकार का विकल्प संसार का मुख्य कारण ही है।

''बांधवो बंध मूलं स्यात्''-बंधुजन, बांधव बंधन के मूल कारण हैं अथवा **'देह मूलं संसारं'**-संसार का मूल देह को कहा है पूज्यपाद स्वामी आदि ने समाधि शतक आदि ग्रंथों में। आ. नागसेन आदि आचार्यों ने भी इत्यादि प्रकार से कहा कि शरीर ही मुख्यरूप से भव का कारण है शरीर को अपना मानते ही शरीर के संबंध अपने से लगने लगते हैं। शरीर को गर दूर कर दोगे तो शरीर के संबंध, शरीर के सपने, फिर शरीर के अपने नहीं लगेंगे।

जिस शरीर को अपना समझा है, जिसके पालन-पोषण में दिन-रात लगे हो उस शरीर की कीमत केवल तब तक है जब तक उसमें आत्मा है। आत्मा निकल जाने के बाद आप ही लोग उसे मिट्टी कह देते हैं। उसके निकट जाना भी कोई पसंद नहीं करता, उसके स्पर्श मात्र होने से भी व्यक्ति स्नान करता है।

यह शरीर यहीं रह जाता है और आत्मा आगे पहुँच जाती है। एक समय आत्मा शरीर से कहती है चल तू मेरे साथ। आज तक सबसे अधिक समय मैंने तुझे दिया। तुझे तो मेरा साथ प्रति पल निभाना ही चाहिए। आत्मा कहती है-

सोलह सिंगार विलेपन भूषण, ये निशिवासर तोय सम्हारे।
पुष्ट करी बहु भोजन पानन, धर्म रु कर्म सभी बिसराये॥
सेये मिथ्यात्व अन्याय किये बहु, तो तन कारण जीव संहारे।
भक्ष्य गिने न अभक्ष्य गिने, अब तो चल काय तू संग हमारे॥

देख तन ! सोलह श्रृंगार कर रात-दिन तुझे सम्हारा, नाना प्रकार के व्यंजन खिलाये, तेरी वजह से सब धर्म-ध्यान छोड़ दिया। मिथ्यात्व का पोषण किया, तेरे लिए कितने जीवों की हिंसा की, तेरी तृप्ति के लिए भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विचार नहीं किया, अब तो तू हमारे साथ चल। चेतना की बात सुन वह स्वार्थी काया कहती है-

सोलह सिंगार विलेपन भूषण, ये निशिवासर तोय सम्हारे।
पुष्ट करी बहु भोजन पानन, धर्म रु कर्म सभी बिसराये॥

सेये मिथ्यात्व अन्याय किये बहु, तो तन कारण जीव संहारे।
भक्ष्य गिने न अभक्ष्य गिने, अब तो चल काय तू संग हमारे॥

देख तन ! सोलह श्रृंगार कर रात-दिन तुझे सम्हारा, नाना प्रकार के व्यंजन खिलाये, तेरी वजह से सब धर्म-ध्यान छोड़ दिया। मिथ्यात्व का पोषण किया, तेरे लिए कितने जीवों की हिंसा की, तेरी तृप्ति के लिए भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विचार नहीं किया, अब तो तू हमारे साथ चल। चेतना की बात सुन वह स्वार्थी काया कहती है-

क्या अनहोनी कहो तुम चेतन, भंग खई कि भये मतवारे।
संग चली न चलूँ कबहूँ लखि यही अनादि स्वभाव हमारे॥
इंद्र नरेंद्र धरणेन्द्रन के संग नाहि गई तुम कौन विचारे।
कोटि उपाय करो तुम चेतन, तोहू चलूँ नहिं संग तुम्हारे॥

शरीर कहता है-अरे तुम्हें क्या हो गया जो मुझसे ऐसी अनहोनी सी बात करती हो। मैं तो इंद्र, नरेंद्र महापुरुषों के साथ भी नहीं गया तुम तो हो ही कौन ? कुछ भी कर लेना पर मैं तुम्हारे साथ जाने वाला नहीं हूँ। तो महानुभाव ! शरीर तो स्वार्थी है, जीवनभर देखभाल करने के बाद भी यह साथ नहीं देता। जबकि इस शरीर का महत्त्व आत्मा से ही है। जब यह आत्मा शरीर से कूच कर जाती है तब यह शरीर महत्त्वहीन हो जाता है।

एक बार एक बच्चा मिठाई लेने दुकान पर पहुँचा। उसने रसगुल्ला माँगा। दुकानदार ने एक दोना उठाया और उसमें रसगुल्ला रखकर दे दिया। बच्चे ने दोनों हाथों से दोने को सम्हाल कर पकड़ा और घर की ओर चल दिया। रास्ते में दोना, रसगुल्ले से बोला कि देखा, मेरा कितना महत्त्व है, यह बालक मुझे कितना सम्हाल कर ले जा रहा है। विश्वास नहीं होता तो देख और यह कहकर थोड़ा टेढ़ा हो गया। बच्चे ने पुनः और ध्यान से दोने को सम्हाला। दोना बोला-देखा, मैं कितना कीमती हूँ, दोनों हाथों से आदर सहित लेकर चल रहा है। अरे! तुझे तो मेरा उपकार मानना चाहिए जो मैंने तुझे शरण दी, मेरी ही वजह से तू भी थोड़ा बहुत सम्मान पा रहा है। यह सब सुनकर रसगुल्ला शांत रहा। बच्चा अपने घर पहुँचा उसने दोने में से रसगुल्ला उठाया और दोने को कचरे के ढ़ेर में फेंक दिया। तब दोना रोने लगा उसे अपनी असलियत समझ में आयी कि मेरी वजह से रसगुल्ले का सम्मान नहीं बल्कि रसगुल्ले की वजह से मेरा सम्मान था।

महानुभाव ! यह शरीर भी दोने की तरह है जिसमें ज्ञान दर्शन मिठास से भरी आत्मा है। जब तक दोने में रसगुल्ला है तब तक दोने की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती किंतु रसगुल्ले को भूलकर दोने में लग जाना बुद्धिमानी नहीं। दोने में लगे रहे, रसगुल्ला गिर गया तो पश्चाताप ही शेष रहेगा। इसी प्रकार जब तक शरीर में आत्मा है तब तक शरीर की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि

आचार्य महाराज कहते हैं **''शरीर माद्यं खलु धर्म साधनं''**। यह शरीर धर्म साधना का माध्यम है। किंतु शरीर में ही लगे रहना, उसकी सजावट में लगे रहना बुद्धिमानी नहीं। शरीर को तो उतना देखो जिससे धर्म ध्यान में बाधा न आए। वास्तविकता में तो इसमें बैठी आत्मा का चिंतन करो।

जिस प्रकार गाड़ी से यात्रा कर गंतव्य स्थान तक पहुँचा जाता है उसी प्रकार यह शरीर भी आत्मा को शिवत्व की प्राप्ति करा सकता है। किंतु गाड़ी में बैठा यात्री भूख-प्यास से पीड़ित है, प्राण निकलने वाले हैं और कोई उस पर ध्यान न देकर गाड़ी को ही पैट्रोल देता रहे, धुलाई में लगा रहे तो उससे क्या लाभ? आत्मा रूपी यात्री को ज्ञान रूपी भोजन से तृप्त करो। क्योंकि **''ज्ञानामृतं भोजनं''** ज्ञान रूपी अमृत ही आत्मा का भोजन है। तो आचार्य महाराज यहाँ आत्मा और शरीर की वास्तविकता बता रहे हैं। जो अपना है उसकी पहचान करा रहे हैं।

आगे कहा-**विविक्तमात्मानमवेक्ष्य माणो** अपनी आत्मा को जब अलग करके देखा जाता है, अवलोकन किया जाता है तब वास्तव में लगता है संसार कुछ नहीं, मोक्ष कुछ नहीं। मैं ही संसार हूँ। मैं ही मोक्ष हूँ, जब मेरी आत्मा रागद्वेषादि से स्निग्ध है तब संसार है, जब उनसे मुक्त हो गयी तो मोक्ष है। मोक्ष तो हमारी आत्मा के प्रदेशों में है। जब अरिहंत भगवान् सभी कर्मों को नष्ट करके सिद्ध हो जाते हैं वही तो सिद्ध होता है। वहाँ सिद्धालय में तो केवल जाकर रहते हैं वहाँ मोक्ष नहीं होता मोक्ष तो यहाँ होता है। मोक्ष किसका होता है?-आत्मा का होता है। कैसे होता है? आत्मा से जब सम्पूर्ण अनात्मा दूर हो जाती है तो मोक्ष हो जाता है तो मोक्ष कहीं बाहर नहीं है। **निलीयसे त्वं परमात्म तत्त्वे**-स्वकीय तत्त्व स्वभाव तुम्हारी आत्मा का है। आत्मा का जो परमात्मपना स्वभाव है उस स्वभाव में हे भद्र ! तुम 'तू'-शब्द अति निकटता का प्रतीक है इसीलिये आचार्य महोदय ने यहाँ त्वं शब्द का प्रयोग कर दिया है। 'निलीयसे'-तुम लीन हो जाओ। तो आचार्य महोदय सामने वाले व्यक्ति से ही मानो कह रहे हों। हे भद्र ! 'तू' अपनी आत्मा में लीन हो जा, तुझसे कह रहा हूँ। जब 'तू' कहा तो ऐसा लग रहा है आचार्य महाराज बिल्कुल जोर देकर कह रहे हैं, आत्मीय संबंध दिखाते हुये कह रहे हैं कि हे भद्रपुरुष ! तू क्यों लीन हो रहा है इस संसार में, मकान में, दुकान में, स्त्री, पुत्र, माता-पिता में क्यों लीन हो रहा है ? क्यों अपने जीवन में मकड़ी जैसा जाला बनाकर क्यों उसमें मृत्यु को प्राप्त होता है ? रेशम का कीड़ा बनकर क्यों मर रहा है ? अपने ही मुख से लार निकाल रहा है उसी में मर जायेगा। तू क्यों इसे नहीं छोड़ता ?

संसार में कोई ऐसा नहीं जो मृत्यु से बचा हो। व्यक्ति कितनी भी चतुराई कर ले किंतु मृत्यु से नहीं बच सकता। किसी नगर में एक मूर्तिकार रहता था। उसकी प्रसिद्धि बहुत दूर-दूर तक थी। यमराज का दूत उस मूर्तिकार को लेने आया। मूर्तिकार ने उससे उसका परिचय पूछा। उसने कहा मैं यमदूत हूँ यमराज की आज्ञा है कि मैं तुम्हें यमलोक ले जाऊँ। मूर्तिकार यह सुनते ही बोला कि

मेरा निवेदन है अभी मैं अपने बेटे को थोड़ा काबिल बना दूँ तब ले जाना। यमदूत तब चला गया और कुछ वर्षों पश्चात् आया। मूर्तिकार ने कहा अभी मैंने बेटे को तो कला सिखा दी बस पोते को और सिखा दूँ। यमदूत पुनः लौटकर चला गया व कुछ वर्ष पश्चात् आया। मूर्तिकार ने फिर गिड़गिड़ाकर प्रार्थना की कि बस आज से ठीक तीस दिन बाद आप आ जाना। यमदूत ने कहा नहीं, अब नहीं तुम्हारे कहने से मैं कई बार मान गया परंतु अब तो वृद्धावस्था में पहुँच गए। मूर्तिकार ने उसके दोनों पैर पकड़ लिए। यमदूत ने कहा आज तो जा रहा हूँ लेकिन ठीक तीसवें दिन आऊँगा और ध्यान रखना तब तुम्हारा कोई बहाना नहीं चलेगा।

तीसवें दिन वह यमदूत लौटकर आया तो आश्चर्य में पड़ गया। क्योंकि इन तीस दिनों में मूर्तिकार ने अपने ही जैसी हू-ब-हू नौ मूर्तियाँ बनाईं। वे मूर्तियाँ इतनी सुंदर थीं, इतनी अच्छी बनाईं थीं कि असली मूर्तिकार और मूर्तियों में कोई अंतर नहीं बता सकता था। तो मूर्तिकार उन नौ मूर्तियों को लिटाकर उनके बीच में लेट गया। यमदूत ने हर प्रकार से प्रयास किया कि असली मूर्तिकार को ढूंढ ले किंतु नहीं ढूंढ पाया। वह दूत यमराज के पास पहुँचा और सारी बात कही। यमराज वहाँ पहुँचा, देखा तो वह भी नहीं पहचान पाया कि इन दस में से असली मूर्तिकार कौन है? उसने उपाय सोचा और बोला कि क्या बात है? कितनी सुंदर मूर्तियाँ बनाई हैं। काश! वह मूर्तिकार यहाँ होता तो उसका सम्मान करता और उसकी कीर्ति चहुँ ओर फैलाता। पता नहीं कौन है वह, जिसने ये मूर्ति बनाईं हैं, काश! ऐसी दिव्य मूर्ति बनाने वाले के मैं दर्शन कर लेता।'' अपनी प्रशंसा सुनकर वह मूर्तिकार चुप न रह पाया और बोल उठा अरे ! मैं हूँ वह कलाकार जिसने ये मूर्तियाँ बनाईं हैं, मैं हूँ।

यमराज ने उस मूर्तिकार को पकड़ा और खींचकर ले गया। किसी ने कहा भी है-

अद्यापि दुर्निवारं स्तुति कन्या वहति कौमार्यम्।
सद्भयो न रोचते साऽसन्तोप्यस्यै न रोचते॥

यह पृथ्वी जब से है तब से कीर्ति स्तुति कन्या कुँवारी ही है। क्योंकि सज्जन लोग कीर्ति चाहते नहीं, दुर्जन के पास वह जाती नहीं। व्यक्ति यश, प्रतिष्ठा, धनादि के लोभ में कई अनुचित प्रवृत्तियाँ कर बैठते हैं, शायद भूल जाते हैं कि यह सब कुछ साथ में जाने वाला नहीं है। जिन्हें तुम अपना समझ रहे हो कहीं वही तुम्हारे पतन का कारण तो नहीं बन रहा? मृत्यु जिस दिन भी तुम्हें आ पकड़ेगी उस दिन सब यही रखा रह जाएगा। इसीलिए जो तुम्हारा नहीं है उसके पीछे समय व्यर्थ मत करो अपने शुद्ध आत्म द्रव्य का चिंतन करो। अपनी आत्मा में लीन हो जाओ जिससे अनंत काल के लिये कर्मबंधनों से विमुक्त हो जाओगा।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

जिसकी करनी उसे ही भरनी

यं कृतं कर्म यदात्मनापुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥३०॥

पहले समय में आत्मा ने कर्म हैं जैसे किए,
वैसे शुभाशुभ फल यहाँ पर इस समय उसने लिए।
यदि दूसरे के कर्म का फल जीव को हो जाए तो,
हे जीवगण! फिर सफलता निज कर्म की खो जाए तो॥30॥

अन्वयार्थ-(**आत्मना**) आत्मा के द्वारा (**पुरा**) पहिले (**यत् कर्म**) जो कर्म (**स्वयं कृतं**) स्वयं ने किये हैं (**तदीयं**) उन कर्मों का (**शुभाशुभम्**) शुभ और अशुभ (**फलं**) फल को (**लभते**) प्राप्त होता है (**स्फुटं**) स्पष्ट रूप से (**यदि**) यदि (**परेण दत्तं**) दूसरे के किये कर्मों को (**लभ्यते**) प्राप्त होता है तो (**तदा**) तब (**स्वयं कृतं**) स्वयं के द्वारा किये गये (**कर्म**) कर्म (**निरर्थकम्**) निरर्थक हो जायेंगे।

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन।
विचारयन्नेव-मनन्यमानसः, परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्॥३१॥

अपने उपार्जित कर्म-फल को जीव पाते हैं सभी,
उसके सिवा कोई किसी को कुछ नहीं देता कभी।
ऐसा समझना चाहिए एकाग्र मन होकर सदा,
'दाता अपर है भोग का' इस बुद्धि को खोकर सदा॥31॥

अन्वयार्थ-(**निजार्जितम्**) स्वयं के द्वारा अर्जित (**कर्म**) कर्म को (**विहाय**) छोड़कर (**कोऽपि**) कोई भी अन्य पुरुष (**कस्याऽपि देहिनः**) किसी भी प्राणी को (**किञ्चन**) किञ्चित् भी (**न ददाति**) नहीं देता है (**एवम्**) इस प्रकार (**विचारयन्**) विचारते हुये [हे आत्मन् !] (**परः**) दूसरा कोई (**ददाति**) देता है (**इति**) इस प्रकार की (**शेमुषीम्**) बुद्धि को (**विमुञ्च**) छोड़ और (**अनन्यः मानसः**) एकाग्र मन हो।

पहले आत्मा के द्वारा जो कोई भी अच्छे-बुरे भाव बनाये, जो कोई भी आत्मा ने कर्म किये उन कर्मों का फल नोकर्म के रूप में पौद्गलिक वस्तु के रूप में इस समय उसने प्राप्त किया है। उन कर्मों का ही शुभ व अशुभफल यह आत्मा प्राप्त करता है। जिसने अच्छा किया तो अच्छा मिल रहा है, बुरा किया तो बुरा मिल रहा है, जैसे किसी व्यक्ति ने कोई कर्ज लिया, पुनः वह उस स्थान को छोड़कर अन्य स्थान पर रहने लगा तो क्या वह कर्ज मुक्त हो गया, नहीं। गृह, देश,

वेष बदलने से आदमी नहीं बदलता सिर्फ स्थान परिवर्तित होता है, कर्ज भी नहीं छूटता ऐसे ही शरीर बदलने से आत्मा नष्ट नहीं होती। जिस आत्मा ने जैसा भी कर्म किया है उसका वैसा फल उसको प्राप्त करना पड़ता है, अलग से कुछ नहीं मिलता।

तो यहाँ यही बता रहे हैं जो आत्मा के द्वारा पूर्वकाल में स्वयंकृत कर्म जैसे भी किये थे उन कर्मों का उस ही प्रकार का फल प्राप्त किया जाता है। यदि प्याज के खेत में काम कर रहे हो तो काम करते-करते भी प्याज की गंध सहन करो और बाद में पारिश्रमिक भी प्याज की गांठ वह खेत वाला आपको दे देगा। यदि किसी पुष्पवाटिका में काम कर रहे हो तो काम करते-करते भी पुष्पों की गंध प्राप्त हो रही है और पुनः काम करने के उपरांत वह आपको पुष्प ही देगा। तो जैसे भी कर्म व्यक्ति वर्तमान काल में कर रहा है तो वर्तमान में भी उसी के अनुरूप फल मिलेगा यदि पाप कर रहा है तो संक्लेशता व दुःख, पुण्य कर रहा है तो वर्तमान में भी सुख शांति और आनंद व भविष्य में भी सुख शांति आनंद मिलेगा।

महानुभाव ! आचार्य महाराज अपनी आध्यात्मिक सूक्ष्म परिणति का अवलोकन कर रहे हैं क्योंकि आत्मा को शुद्ध बनाने का लक्ष्य है उनका। आत्मा को परमशुद्ध बनाने के लिये आवश्यक है कि आत्मा के साथ लगे स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के मल प्रक्षालित हों। सर्वप्रथम स्थूल मल (बाह्य मल) का प्रक्षालन होता है। बाह्यमल का प्रक्षालन उन्होंने कर लिया है, इस बात का प्रतीक ये है कि वे यथाजात दिगम्बर मुनि हैं, जिन्होंने इस यथाजात दिगम्बर अवस्था को स्वीकार नहीं किया है, तो समझो उन्होंने अभी बाह्यमल का प्रक्षालन नहीं किया है। और जो बाह्य मल का प्रक्षालन कर चुके हैं उन्हें अंतरंग मल के प्रक्षालन के लिये पुरुषार्थरत हो जाना चाहिये। कोई व्यक्ति चाहे मैं गृहस्थी में रहता हुआ, आरंभ करता हुआ, परिग्रह को रखता हुआ, कषायों का पोषण, विषयों का सेवन और पापों में प्रवृत्ति करता हुआ अपने बाह्यमल का प्रक्षालन कर दूँ तो संभव नहीं होगा, अंतरंग मल का प्रक्षालन करना तो और ज्यादा असंभव है।

मूंगफली का पहले बाहर का कड़ा छिलका तोड़ा जाता है बाद में अंतरंग की लालिमा निकाली जाती है। धान्य का पहले ऊपर वाला छिलका हटाया जाता है, बाद में अंतरंग की लालिमा निकाली जाती है। चने का पहले घेंटी रूपी बाह्य छिलका निकाला जाता है बाद में अंतरंग का छिलका निकलता है। इसी तरह आचार्य अमितगति स्वामी कह रहे हैं कि पहले अपने बाह्य छिलके को तो बाहर निकाल करके आओ, तब अंतरंग का छिलका निकालना। बाह्य छिलका निकालने के लिये दलना नहीं पड़ेगा, वह चोट से टूटेगा, किंतु अंतरंग का छिलका निकालने के लिये दलना पड़ेगा। व्यक्ति भी संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होता है उसके जीवन में कोई-न-कोई एक आघात होता है, बिना आघात के विरक्ति नहीं होती। राग की रस्सी तोड़ने का एक ही उपाय

है कि उसे झटके से खींचो तो वह टूटे। धीमे-धीमे घिस-घिस करके राग की रस्सी को तोड़ा नहीं जा सकता, झटका लगना चाहिये, और झटका भी अचानक लगे, यदि झटका बुद्धिपूर्वक लग रहा है तो फिर वैसा वैराग्य नहीं होगा।

जैसे व्यक्ति के किसी एकीभावकृत वस्तु या व्यक्ति का वियोग हो जाये, किंतु यदि वह जानता है उसकी मृत्यु होनी है। उसका बालक है वह जानता है इसकी मृत्यु होनी है वह बालक दीर्घकाल से बीमार है क्योंकि डॉ. ने मना कर दिया बचेगा नहीं, वर्षों से उसे लेकर घूमता रहा, शायद ठीक हो जाये, सभी प्रयास व पुरुषार्थ कर लिये, उसे लगा कि आज मरा, कि कल मरा, ऐसा करते-करते 12 वर्ष निकल गये यदि उसकी मृत्यु हो जायेगी तो उस पिता का राग टूटेगा नहीं, धक्का नहीं लगेगा। अचानक वही बालक जो 25-30 साल का था उसकी एक्सीडेंट में मृत्यु हो गयी तो उसका राग टूट जाता है। तो ये सब चेतना के बाह्य छिलके को उघाड़ने में कारण बन जाते हैं। आचार्य अमित गति महाराज सूक्ष्म छिलके की सूक्ष्म गंदगी को भी दूर करना चाहते हैं। देखो! पैर आदि पर यदि गंदगी लग जाये तो उस गंदगी को कपड़े से पोंछे, या लकड़ी की खच्चर से अलग करे या पानी से धोये, किंतु सूक्ष्म गंदगी को दूर करने के लिये न केवल पानी आवश्यक है, उन गंदे परमाणु को साफ करने के लिये खूब रगड़ता है, तेल, इत्रादि लगाता है जिससे उसकी दुर्गंध आदि भी निकल जाये अथवा ऐसा मटका या कलश आदि जो गंदगी से लिप्त है, पानी से धोने पर स्थूल गंदगी तो निकल गयी, किन्तु जो दुर्गंध है वह नहीं जायेगी, उसके लिये तपाना पड़ता है। अग्नितप्त करो तभी उसके अंदर के संस्कार नष्ट होंगे। तो आचार्य अमितगति स्वामी भी अंतरंग के विकार को नष्ट करने के लिये यहाँ बात कह रहे हैं:-

सामायिक अंतरंग के कुसंस्कारों को नष्ट करने की एक अग्नि है सामायिक अंतरंग के मल को साफ करने का साबुन है, यह सामायिक आत्मा का आत्मा से मिलन कराने वाली है। 'वैराग्य' सखी-सहेली है आत्मा के पास ले जाने वाली है। 'भावना' वह आत्मा से बात कराने की प्रेरणा देने वाली है। यह सामायिक आत्मा का आत्मा से साक्षात्कार कराने वाली है। उस सामायिक में आचार्य महाराज कह रहे हैं:-

जिस आत्मा के द्वारा, स्वयं के द्वारा किये हुये कर्म (पूर्व में किये हुये कर्म) उसके वह शुभ-अशुभ फल स्वयं ही प्राप्त करता है। समझने वाली चीज यहाँ यह है-कि यहाँ कर्ता को व भोक्ता को अभेद बताया है।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद् विमुच्यते॥

यह जीव स्वयं ही कर्म करता है, स्वयं ही उनका फल भोगता है, स्वयं ही संसार में घूमता है और स्वयं ही उनसे विमुक्त होता है। कर्ता व भोक्ता अभेद है द्रव्य की अपेक्षा से, कर्ता व भोक्ता अभेद रहेगा द्रव्य की अपेक्षा से, कर्ता व भोक्ता अभेद था द्रव्य की अपेक्षा से। जैन दर्शन कहता है कर्ता भोक्ता भेद भी है, भिन्न-भिन्न भी है पर्याय की अपेक्षा से। जिस पर्याय में (ने) कर्म किया है वही पर्याय कर्म भोगे ऐसा आवश्यक नहीं है, इसलिये कह सकते हैं करने वाला कोई और है और भोगने वाला कोई और।

वैदिक परम्परा में कर्ता भोक्ता को अलग-अलग बता दिया जाता है। ''तू कर्म किये जा फल की इच्छा मत कर, भगवान् तुझे फल दे देगा'' तू कर्म कर, बुरा कर, भगवान् की शरण में पहुँच जा, भगवान् तेरे कर्मों के फल को नष्ट कर देगा किंतु जैन परम्परा ऐसे नहीं स्वीकारती। जैन परम्परा कहती है कोई भी भगवान् किसी के कर्मों को नष्ट नहीं करते, कोई भी भगवान् किसी के पापों को नहीं छीनता, कोई भी भगवान् किसी को पुण्य नहीं देता। जैन संस्कृति कहती है जिसने जैसा किया है उसे वैसा ही भोगना है, हाँ, भगवान् पुण्य की प्रेरणा देने वाले हैं-''**अपुण्य पापं पर पुण्यं हेतुं**'' भगवान् कैसे हैं ? भगवान् पुण्य और पाप से रहित हैं, किंतु दूसरों के पुण्य के हेतु हैं और संसारी प्राणी-''**सपुण्यपापं परपापहेतुं**'' या ''सपुण्यपापं उभय हेतुं'' संसारी प्राणी कोई पुण्य से सहित हैं कोई पाप से सहित हैं और ''उभयहेतुं'' पुण्य के भी हेतु हैं और पाप के भी हेतु हैं किंतु हमें उसका सहारा लेना है जो नियम से हमारे पुण्य का हेतु बन जाये। तो उसकी शरण में जाओ जो पुण्य-पाप से रहित है ताकि हम भी पुण्य-पाप से रहित हो पायें।

दूसरी बात समझने लायक है, यहाँ शब्द दिया है ''यत् आत्मना पुरा'' इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान के कर्म का फल वर्तमान में नहीं प्राप्त किया जा सकता। कम से कम प्रत्येक कर्म का आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त तो होता ही है, हम जिस समय कर्म कर रहे हैं उस समय उस कर्म का फल नहीं भोग रहे, और जिसका फल भोग रहे हैं उस समय उस कर्म को कर नहीं रहे। हमारे हाथ में वह मार्कशीट है जो कक्षा हमने पास कर ली। जिस कक्षा में पढ़ रहे हैं उसका सर्टिफिकेट हमारे हाथ में नहीं है। सर्टिफिकेट है तो इसका आशय यह है कि हम उसे पढ़ चुके हैं उसकी परीक्षा दे चुके हैं। कोई भी कुशल से कुशल महिला जो आटे को गूंथ रही है उसकी लोई तोड़कर के रोटी बना रही है, उसे खा नहीं सकती, जो खा रही है उसकी रोटी बेल नहीं रही। आटे की लोई तोड़ना, बेलना, तवे पर डालकर सेंकना, अंगारों पर सेंकना ये प्रक्रिया चल रही है, ऐसे ही कर्म की प्रक्रिया होती है कर्मों का बुलाना उनका आगमन आश्रव हुआ, फिर कर्मों का बंधना हुआ, फिर कर्मों का अबाधाकाल हुआ, फिर कर्मों का पकना हुआ, फिर उदय में आना हुआ तब फल देते हैं।

तो यहाँ पर कह रहे हैं कर्म कौन करता है? तो आचार्य अमित गति स्वामी ने भ्रम तोड़ दिया-लोग कहते हैं मैं शरीर से कर्म करता हूँ, मैं वचन से कर्म करता हूँ, मैं मन से कर्म करता हूँ, नहीं। उन्होंने यह भ्रम ही तोड़ दिया, कहा कर्म करने वाला तो आत्मा ही होता है, आत्मा कर्ता है वह अपने साथ में सहयोगी लेकर चलता है मन, वचन, काय को, धन, वस्तु आदि को निमित्त बना सकता है कर्मों के बंध में, किंतु करने वाला आत्मा होगा।

अगर आत्मा नहीं है तो शरीर कर्म नहीं बांध सकता, आत्मा नहीं है तो वचन से कर्म नहीं बंधते, आत्मा नहीं है तो मन से कर्म नहीं बंधते। कर्म तो आत्मा में बंधेंगे, आत्मा ही भोगेगा। जब दूल्हा है तभी तो बारात चढ़ेगी, बिना दूल्हा-दुल्हन के आज तक शादियाँ नहीं देखीं। शादी में दूल्हा-दुल्हन का होना जरूरी है चाहे बाराती न हों। जैसे बिना तीर्थंकर के समवशरण नहीं होता, बिना संयम के आत्मा का ध्यान नहीं होता, जैसे बिना मादा के कोई गर्भज शिशु उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार बिना आत्मा के बाह्य साधनों से आत्मा न तो कर्मों से बंध सकती है और न कर्मों से मुक्त हो सकती है। कोई कहे कि मैंने देखा-तो बता बिना आँख के कैसे देखा? चाक्षुस वस्तुयें बिना आँख के नहीं देखी जा सकतीं। महत्त्व वहाँ पर चक्षुओं का है, वस्तुओं का नहीं। ऐसे ही यहाँ पर महत्त्व आत्मा का है कर्मों का नहीं। आत्मा महत्त्वपूर्ण है उस आत्मा को समझो। तो कहा ''स्वयं कृतं कर्म यदात्मनापुरा, फलं तदीय लभते शुभाशुभम्'' स्वयं के द्वारा किये हुये कर्म शुभ अशुभ दोनों। ऐसा नहीं कि शुभ-शुभ कर्म तो तुम भोग लो और अशुभ कर्म का फल भगवान् को सौंप दो भगवान् तुम नष्ट कर देना, हम तुम्हारी भक्ति कर लेंगे। नहीं, वे भी तुम्हें ही भोगने पड़ेंगे।

''अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम्।
कृत कर्म क्षयो नास्ति कल्प कोटि शतैरपि॥''

अवश्य ही वे शुभाशुभ कर्म भोगने योग्य हैं, कृत कर्म अपने आप क्षय नहीं होते हैं कल्प काल भी निकल जायें तब भी। सैंकड़ों कल्प काल के निकल जाने पर भी स्वयं द्वारा किये गये कर्म अपने आप नष्ट नहीं होते उन्हें नष्ट करना पड़ता है या उनका काल (अवधि) पूर्ण हो जाये तो झर जाते हैं, अन्यथा उन्हें और कोई छीन नहीं सकता, नष्ट नहीं कर सकता। व्यक्ति को अपने कर्म का फल भोगना पड़ता है। उसे जो कुछ भी सुख या दु:ख प्राप्त होता है वह उसके ही द्वारा किए गए अच्छे या बुरे कर्मों का फल है। किसी घर में दो भाई रहते थे परंतु दोनों का स्वभाव बिल्कुल भिन्न था। एक भाई धर्मात्मा था तो दूसरा व्यसनी। हालांकि धर्मात्मा भाई, अपने भाई को बहुत समझाता था परंतु वह मानने को तैयार नहीं था। प्रात:काल दोनों भाई घर से निकले और शाम को लौटकर आए। बड़ा भाई लंगड़ाता सा आया क्योंकि उसके पैर में काँटा चुभ गया था।

दूसरा भाई जो व्यसनी था वह उछलता-कूदता आया क्योंकि उसे आज मार्ग में रत्नों की पोटली मिली थी। बड़ा भाई यह देखता है तो सोचता है कि मैंने तो भगवान् की पूजार्चना की, शुभ कार्य किए उसके पश्चात् भी काँटे ने मेरे पैर को लहूलुहान कर दिया और जो मेरा छोटा भाई है उसे करोड़पति बना दिया।

उससे रहा नहीं गया और एक मुनि के पास पहुँचा। मुनिराज के सामने उसने सारी बात कही। मुनिराज अवधिज्ञानी थे, उन्होंने बताया कि ''पूर्व भव में तुमने लोगों को, पशु-पक्षियों को खेल-खेल में कष्ट दिया, अपनी खुशी के लिए उन्हें परेशान किया, उन्हें तड़पाया जिसके फल स्वरूप तुम्हें कल फाँसी लगनी थी परंतु तुम्हारे प्रशस्त कार्यों के कारण वह एक काँटे में परिवर्तित हो गयी और तुम्हारे भाई ने पूर्वभव में पूजा, दान, परोपकारादि कार्य किए जिससे इस भव में कल उसे राजा बनना था किन्तु उसके पाप कर्मों के कारण वह रत्न की पोटली जितना ही रह गया।''

महानुभाव ! कर्म की दस अवस्थाएँ होती हैं। जिनमें एक अवस्था संक्रमण भी होती है। किंतु स्वोपार्जित कर्म का फल तो व्यक्ति को भोगना ही पड़ता है। भीष्म पितामह के विषय में आता है कि लगभग पूर्व के 101वें भव में छड़ी से साँप को उछाला था जिससे वह झाड़ियों पर जा गिरा और उसी का परिणाम था जो शर शैय्या यानि बाणों की सेज पर उनका अंत हुआ। कनकोदरी ने 22 पल के लिए ईर्ष्यावश जिन प्रभु की प्रतिमा छिपायी थी जिससे अंजना की पर्याय में 22 वर्ष पति का वियोग सहना पड़ा। वेदवती की पर्याय में सुदर्शन मुनि व सुदर्शना आर्यिका का अपलाप करने से सीता की पर्याय में कलंक को प्राप्त हुई। मृगसेन धीवर द्वारा मछली को पाँच बार जीवन दान देने से, धनकीर्ति की पर्याय में उसकी पाँच बार प्राणों की रक्षा हुई। धण्णंकर-पुण्णंकर की पर्याय में 5 कोड़ी से जिनपूजा करने के कारण अमरसेन वइरसेन की पर्याय में उत्कृष्ट पाँच विद्याओं की प्राप्ति हुई। कर्म करनी की परछाई है। ये सबसे अधिक न्यायप्रिय होते हैं। जो जैसा करते हैं उन्हें वैसा ही फल देते हैं।

कर्मों का फल नहीं होता तो कोई बचपन से ही राजकुमार, दरिद्र, विकलांग, सुंदर, कुरूप क्यों होता? व्यक्ति पूर्व में जैसा करता है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है।

आगे आचार्य महाराज कह रहें हैं ''परेणदत्तं यदि लभ्यते स्फुटं'' पर के द्वारा दिया गया, यदि प्रकट रूप में दूसरे के कर्म का फल प्राप्त किया जा सके, दूसरों के द्वारा सुख दुःख दिया जा सके या लिया जा सके तो स्वयं के द्वारा किये हुये कर्म निरर्थक हो जायेंगे। दादागिरी करके कोई भी किसी तपस्वी के पास जायेगा और उसका तपश्चरण छीन लेगा, उससे कहेगा कि तू जा यहाँ से तेरी तपस्या का फल तो मैं प्राप्त करूँगा। तो ऐसा हो नहीं सकता। निज स्वरूप को अपने दर्पण में, यानि जहाँ पर दर्प नष्ट हो जाता है ऐसी आत्मा को आत्मा में निहारो, तो तुम्हारी आत्मा निर्मल

हो जायेगी आत्मा ही दर्पण है आत्मा ही दर्पण में झलकने वाला बिम्ब, प्रतिबिम्ब है। तो आत्मा ही देखने वाला, आत्मा ही दिखने वाला, आत्मा ही झलकने वाला, आत्मा ही झलकाने वाला, सब आत्मा ही है इसलिये जब देखेगा तो आज नहीं तो कल लगी गंदगी को स्वयं दूर करेगा ही करेगा। पर वस्तु या व्यक्ति नहीं करेंगे। जो व्यक्ति कमरे में बंद हो गया है कुंडी अंदर से उस कमरे में लगी हुयी है, तो उस कुण्डी को आज नहीं तो कल खोलना तो उसे ही पड़ेगा, ऐसे ही हमें अपनी आत्मा का हित स्वयं करना है दूसरा बाहर से आकर हमारे कर्मों की कुण्डी नहीं खोलना सकता।

मिल ही जायेगा ठिकाना, इतनी बड़ी दुनिया पड़ी है। ऐसा लोग कहते हैं किंतु दुनिया में ठिकाना कहीं नहीं मिलेगा, ठिकाना खोजना है तो अपनी आत्मा में खोजो, ''ठिकाना खोजते हो क्या हमारा क्या ठिकाना है।'' हमारा ठिकाना बाहर में है ही नहीं, हमारा ठिकाना तो अंदर में है, और अंदर में तुम पहुँच नहीं सकते। मेरे अंदर में तुम नहीं पहुँच सकते, तुम्हारे अंदर में मैं नहीं पहुँच सकता तुम मुझे कैसे पाओगे।

मैं तुम तक आ ही नहीं सकता क्यों? क्योंकि तुम अभेद्य हो और मैं अचल। मैं अपने स्थान से चल नहीं सकता, यदि कदाचित् चल भी जाऊँ तो तुम्हारा कोट इतना अभेद्य है कि मैं उसमें आ नहीं सकता। तो मैं तुम तक कैसे आ सकता हूँ और तुम मुझ तक नहीं आ सकते, तुम अभेद्य हो मेरे पास आ भी जाओगे तो मेरे अंदर प्रवेश नहीं पा सकोगे, तुम्हारे लिये मैं अभेद्य हूँ, मेरे लिये तुम अचल हो। तो तुम मेरी दृष्टि में चल नहीं सकते तुम्हारी दृष्टि में मैं नहीं चल सकता, हम दोनों एक दूसरे की दृष्टि में अभेद्य हैं इसलिये तुममें मैं, और मुझमें तुम आ नहीं सकते, समा नहीं सकते।

कोई भी बूंद, बूंद में बूंद को समेटती है, बूंद में सागर नहीं है, सागर में बूंद नहीं है। लोग कहते हैं व्यवहार की भाषा में -'सागर बूंद समाय' सागर में बूंद समा गयी, बूंद में सागर समा गया, किंतु नहीं ये सब व्यवहार की बात है। आचार्य अमितगति स्वामी इससे भी 4 कदम आगे चलने की बात कह रहे हैं। दूसरों के द्वारा दिया हुआ कभी भी तुम्हारे काम नहीं आ सकता। तुम्हारा पुण्य है तो दूसरों से तुम्हें मिल जायेगा। दूसरा यदि छीनकर भी ले जायेगा तब भी वह तुम्हारे ही काम आयेगा, तुम ढो नहीं पा रहे थे, छीन कर ले गया और जहाँ तुम्हें काम पड़ा वह वस्तु वहाँ तुम्हें स्वत: किसी न किसी निमित्त कारण से मिल जायेगी। इसीलिये आचार्य महोदय इस बात को बड़ी अच्छी तरह से दृढ़ीभूत कर रहे हैं कि यदि दूसरों के द्वारा दिया हुआ प्राप्त हो जाये (प्रकट रूप में) यह भ्रम में तो है कि मैं दूसरों का प्राप्त कर सकता हूँ छीन सकता हूँ किन्तु प्रत्यक्ष रूप में नहीं है। भ्रान्ति रूप में तो है और जिसकी भ्रान्ति टूट जाती है वह दूसरों का छीनता नहीं है।

यदि कदाचित् ऐसा हो जाये कि दूसरों के द्वारा दिया हुआ प्रकट रूप से हमें मिल जाये तो? आचार्य महाराज कह रहे हैं-तो फिर क्यों हम कर्म करें ? दूसरे की वीतरागता छीनकर बन जाओ सिद्ध भगवान्। किंतु दूसरों की वीतरागता छीनी नहीं जा सकती और दूसरों पर अपनी वीतरागता थोपी नहीं जा सकती। लो हमारी वीतरागता हम तो संसार में रहेंगे। यदि ऐसा होता तो सिद्ध भगवान् अकुलाकर नीचे नहीं आ जाते और कोई संसारी प्राणी किसी मुनिराज से जो दुबले-पतले हों 3½ हाथ के उनसे उनका केवलज्ञान छीन ले और कहे लाओ तुम्हारा ज्ञान हमें दो हम जायेंगे सिद्धालय में। तो क्या ऐसा हो सकता है? नहीं हो सकता, व्यक्ति के स्वयं किये कृत निरर्थक ही हो जायेंगे। इसीलिये आचार्य महाराज कह रहे हैं कि कर्म कभी भी किसी का निरर्थक नहीं होता। अनर्थक तो हो सकता है, सार्थक तो हो सकता है किन्तु निरर्थक नहीं होता। निष्प्रयोजनीय नहीं होता, उसका कोई प्रयोजन होता है। प्रत्येक प्राणी अपने ही कर्म का फल भोगता है। दूसरे का कर्म फल नहीं, इसलिए अपनी ही करनी सफल और सार्थक है।

यदि माँ के पुण्य का उदय है और बेटा खूब सोचे कि मैं माँ को दु:खी कर दूँ तो ऐसा नहीं हो सकता यदि पुण्य का उदय है तो कोई दु:खी नहीं कर सकता पाप का उदय है तो कोई सुखी नहीं कर सकता। द्वारिका में जब आग लगी थी द्वीपायन मुनि के निमित्त से तो क्या हुआ था? श्रीकृष्ण और बलदाऊ ने आग बुझाने का प्रयास किया। द्वारिका कहाँ पर थी? द्वारिका 'जल' के बीच में थी फिर भी अग्नि से जल गयी। पाप का उदय ऐसा ही होता है। लंका भी कहाँ थी? शास्त्रों में दो कथानक आते हैं कि दो महानगर जल गये एक द्वारिका और दूसरी लंका, संयोग की बात देखो दोनों ही जल के बीच में थे। जल भी बुझा नहीं सका अग्नि को। जब पाप जलाता है तो संसार का कोई भी पानी बुझा नहीं सकता और पुण्य जब बचाता है तब संसार की कोई अग्नि जला नहीं सकती। सीता अग्नि कुण्ड में कूदी जली थी क्या? नहीं जली। जलाने वाली वह अग्नि तो बाह्य निमित्त है वास्तविकता में तो अपना-अपना कर्म होता है।

तो क्या करना है? हमें पर का आलम्बन नहीं लेना है, आचार्य महोदय कह रहे हैं-सामायिक वह कहलाती है जिसमें स्वयं का आलम्बन हो। स्वयं को देखो।

निज रूप निहारो दर्पण में दर्पण उजला हो जायेगा।
मत रूप निहारो दर्पण में दर्पण गंदा (गदला) हो जायेगा।

यह संसारी प्राणी, जो भी अपने द्वारा कर्मों का अर्जन किया है, जैसे भी कर्म इस प्राणी ने कमाये चाहे पुण्य रूप या पाप रूप, जैसे भी कर्मों का संचय किया है, मनसा वाचा कर्मणा उसके अनुसार ही वह कर्म का आश्रव करता है, और जैसे कर्म का आश्रव होता है वैसे ही कर्म का बंध होता है और जैसे कर्म का बंध होता है यह जीव वैसे ही कर्म फल को प्राप्त करता है।

संसार का कोई भी प्राणी किसी भी जीव को कुछ देता नहीं है संसार का प्रत्येक प्राणी अपने ही पुण्य और पाप को भोगता है, ये व्यक्ति की मिथ्या धारणा है कि वह मेरा मित्र है मेरे लिये अच्छा कर रहा है, ये मेरा शत्रु है, मैं इसको नष्ट करके ही रहूँगा। न कोई मित्र को हमेशा साथ रख सकता है और न कोई शुत्र को कभी नष्ट कर सकता है। शत्रुता को नष्ट करने से शत्रु मर जाता है किंतु शत्रु को मारने से शत्रुता नहीं मिटती, कई भवों तक भी बैर चल सकता है इसलिये कभी शत्रु को मिटाने का भाव मन में मत लाओ, यदि मिटाना है तो अपने बीच की शत्रुता की रेखा को मिटा दो। एक मित्र चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकता इसलिये अपने मन में मित्रता का भाव रखो, जिस किसी को देखो तो वह मित्र ही मित्र दिखाई दे। तो महानुभाव ! यहाँ कह रहे हैं विचारयन्नेव मनन्य मानस:-अनन्यचित्त होकर के अपने चित्त में ये बात ऐसे अंकित कर लो जैसे पाषाण पर उकेरी हुयी प्रशस्ति। वह पाषाण टूट जायेगा किंतु प्रशस्ति मिटती नहीं ऐसे ही तुम्हारे चित्त में से बात निकले नहीं कि मुझे जो कुछ भी मिलेगा मेरे कर्म का फल मिलेगा, संसार का कोई भी प्राणी न तो मेरा बुरा कर सकता है और न भला। मैं स्वयं ही स्वयं का अच्छा बुरा करने वाला हूँ। मैं ही स्वयं का शत्रु-मित्र हूँ, यह तो मिथ्या धारणा है कि मैं दूसरों को शत्रु व मित्र के रूप में खड़ा करके केवल राग और द्वेष करता रहता हूँ किंतु अपनी आत्मा में मित्र-शत्रु भाव को अलग करने का पुरुषार्थ नहीं करता।

आगे कह रहे हैं-परो ददाति विमुञ्च शेमुषीम्-इस बुद्धि को खो देना चाहिये कि मुझे भोग देने वाला दाता कोई दूसरा है। संसार में कोई भी परमात्मा मुझे अपना पुण्य नहीं दे सकता, संसार में कोई भी पापी जीव अपना पाप नहीं दे सकता। पाप जो करता है वही उसका फल भोगता है। जो पुण्य को करता है, वह पुण्य का फल भोगता है, तुम किसी के साथ रहते हो तो साथ रहने से तुम नरक में नहीं चले जाओगे, ना ही स्वर्ग में चले जाओगे तुम तो वहाँ जाओगे जहाँ की आयु का बंध तुम स्वयं करोगे।

प्रत्येक प्राणी अपने ही पुण्य-पाप का फल भोगता है दूसरा उसमें कोई सहयोगी नहीं हो सकता। चेतना की भूमि पर जो भी बीज तुम बोओगे, वह बीज तुम्हारा कभी भी निष्फल नहीं हो पायेगा। क्यों? क्योंकि उसका फल तो अवश्य आयेगा। आम के बोओगे तो आम आयेगा, काँटे के बोओगे तो काँटा आयेगा। चित्त की भूमि बंजर नहीं है। चाहे कितनी ही कषायों की अग्नि जल रही है, विषय-वासना के झाड़-झंकर खड़े हैं, एक भाव भी बो दिया तो वह भाव फलेगा। कषायों से भी नहीं जलेगा, जितनी-जितनी कषायें जलेंगी उतना-उतना और फलेगा और यह विषय कषायों में गलेगा भी नहीं यह तो फलेगा, क्योंकि चित्त की भूमि कभी बंजर नहीं होती। हाँ तपस्या की अग्नि में, ज्ञान की अग्नि में कर्म जलाये जाते हैं। ज्ञान की अग्नि में झाड़-झंकड़ जलाये जाते

हैं, और ध्यान की अग्नि में आत्मा रूपी भूमि में विद्यमान दुर्गुण व कर्मरूपी दोष अनुपजाऊ कुतत्त्व तपाये जाते हैं। इसलिए तपस्वी की, ज्ञान की, ध्यान की अग्नि से कर्म डरते हैं। आर्त्त रौद्र ध्यान की अग्नि से जो गुल खार बन जाते हैं धर्म ध्यान की अग्नि से खार भी गुल बन जाते हैं, जीवन का सार बन जाते हैं।

आचार्य महोदय कह रहे हैं-दूसरों के द्वारा दिया तुम्हारे काम नहीं आयेगा तुम्हारे भाग्य में जो है वही मिलेगा। भिखारी भी कहता है भीख मांग-मांग कर अपना पेट भर लूँगा, यदि इतना भी पुण्य उसका नहीं है तो भीख मांग कर भी अपना पेट भर न पायेगा भिखारी का पुण्य है तभी भीख मिलती है और यदि अमीर का भी पाप का उदय आ जाये तो करोड़ों का, छः खण्डों का राजा भी हो, चाहे प्रभु ही क्यों न हों तो भी 13 महीने 8 दिन तक भूखे फिरते देखा है वो भी मुनि (परमेष्ठी) अवस्था में, ये हँसी खेल नहीं है, बिना पुण्य के दाना नहीं मिलता और पुण्य का उदय हो तो लोग भिखारी की भी खुशामद करते हैं कहते हैं-हम तो तेरी बाट देख रहे थे तू आज इतनी देरी से आया। भिखारी को भी मना कर खिला रहे हैं क्योंकि उसके भी पुण्य का उदय होता है-

''बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख।
तू भी ये सब जान ले यही सद्गुरु की सीख॥''

जब पुण्य का उदय है तब बिना माँगे मोती मिलते हैं और पाप का उदय हो तो मांगने पर भीख भी नहीं मिलती।

तो यहाँ पर आचार्य महाराज कह रहे हैं कर्म की सत्ता को स्वीकार करो यदि जिसने कर्म की सत्ता को स्वीकार नहीं किया उसने जीवन के सत्य को स्वीकार नहीं किया। कर्म की सत्ता स्वीकार करना जरूरी है, ये कर्म सता-सता करके तुम्हें सत्य की राह तक पहुँचाना चाहते हैं, और जब तक तुम सत्य को प्राप्त न कर लोगे, तब तक कर्म तुम्हें सताते ही रहेंगे। और सता-सता कर बताते रहेंगे, तुम्हारा (तेरा) स्वरूप जताते रहेंगे। इसलिये यहाँ पर आचार्य महाराज ने जो बात कही है हम उसे समझने का प्रयास करें, जो सुना है उसे गुनें और चुनें तभी हम स्वयं को सफल और सार्थक कर सकते हैं।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

भक्ति, मुक्ति का अंकुर

यैः परमात्माऽमितगतिवन्द्यः सर्वविविक्तो भृशमनवद्यः।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते, मुक्ति निकेतं विभववरं ते॥३२॥

सबसे अलग परमातमा है, अमितगति से वन्द्य है,
हे जीवगण ! वह सर्वदा सब भाँति ही अनवद्य है।
मन से उसी परमातमा को ध्यान में जो लाएगा।
वह श्रेष्ठ लक्ष्मी के निकेतन मुक्ति पद को पाएगा।।32।।

अन्वयार्थ-(**यैः**) जिन आत्माओं द्वारा (**अमितगतिवन्द्यः**) अपरिमित ज्ञान वाले होने से-अमितगति द्वारा वन्दनीय है (**सर्वविविक्तः**) जो सब कर्मों से रहित हैं, (**भृशम् अनवद्यः**) अत्यन्त निर्दोष हैं (**परमात्मा**) ऐसे परमात्मा (**मनसि**) मन में (**शश्वत्**) निरन्तर (**अधीते**) चिन्तन किये जाते हैं (**ते**) वे जीव (**विभववरम्**) परम वैभव वाले (**मुक्तिनिकेतम्**) मुक्तिरूपी महल को (**लभन्ते**) प्राप्त होते हैं।

यैः परमात्माऽमितगति वन्द्यः-अर्थात् जो परमात्मा है वे परमात्मा अमितगति के द्वारा वन्द्य है। आचार्य अपना नाम भी कह रहे हैं। मैं उन सभी परमात्माओं की वन्दना करता हूँ, अथवा जिसने भी 'अमितगति' को प्राप्त किया है अर्थात् सिद्धत्व की गति को प्राप्त किया है। संसार की तो सभी गति सीमित हैं और मोक्ष की गति अमित है। तो जो भी भविष्य में मोक्ष की गति को प्राप्त करने वाले हैं ऐसे सभी योगियों के द्वारा वह परमात्मा वंदनीय है। योगी ही परमात्मा के बारे में जानते हैं जो भोगी हैं वे परमात्मा के बारे में नहीं जानते। जब जिसको जानते ही नहीं तो क्या करेंगे उसकी वंदना, जो मानते ही नहीं तो क्या करेंगे उनकी चर्चा और चर्या। जो जानते ही नहीं उसके बारे में तो प्यास कैसे जगायेंगे। परमात्मा की प्यास तो तब जगेगी जब परमात्मा रूपी अमृतजल का अहसास हो जाये अन्यथा प्यास का अहसास होता नहीं है।

वह परमात्मा कैसा है तो कहा **सर्वविविक्तो भृशमनवद्यः**-जो सम्पूर्ण प्रकार के पापों से कर्मों से रहित है, घाति अघाति सभी कर्मों से रहित है वही परमात्मा है। जो जन्म-मरण कर रहा है, भोगों को भोग रहा है, स्त्री पुत्रादि, अस्त्र वस्त्र शस्त्र से सहित है ऐसा हमारा परमात्मा नहीं है।

परमात्मा कैसा है? तो एकत्वसप्तति में कहा है-

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्तिः
सकलविमल दृष्टिः शाश्वतानन्द रूपः।

सहज परमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोऽयं,
निखिल मुनि जनानां चित्तपंकेजहंसः॥

वह परमात्मा सदा जयवंत रहे जो केवलज्ञान रूप मूर्ति से युक्त है, केवल दर्शन मय है, सदा आनंद रूप है, स्वाभाविक परम चैतन्य शक्तिमय है, नित्य है और समस्त मुनिजनों के चित्त रूप कमल को विकसित करने के लिए सूर्य के समान है।

शश्वदधीतो मनसि लभन्ते-अधीतो-धारण करके या अधीत का अर्थ पढ़ने के अर्थ में भी आता है। तो जब तू उस परमात्मा को जानेगा या धारण करेगा, पहचानेगा, मानेगा तो उसी परमात्मा के स्वरूप को तू अपनी आत्मा में पढ़ेगा। परमात्मा को खोजने के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है, वह तो हमारी आत्मा में ही विद्यमान है। त्याग-तपस्या व आत्मचिंतन से कर्मों का क्षय करके परम पद को प्राप्त किया जा सकता है। परमात्मा कहाँ है, कैसे मिलेगा। वह परमात्मा बाहर नहीं, स्वयं में ही है।

एक बार किसी नगर में परमात्मा रहता था। लेकिन लोगों ने उसको घेर-घेरकर बहुत परेशान कर दिया। परमात्मा जब भीड़ से परेशान हो गया तब उसने सोचा कि रहने का स्थान बदल लूँ कहीं ऐसी जगह चला जाऊँ जहाँ लोग मुझे ढूंढ़ न पाएँ। तो वे परमात्मा वन में चले गए। कुछ दिन तो लोगों ने उन्हें नगर में ढूंढ़ा किंतु वे पीछा करते-करते वन में भी पहुँच गए। परमात्मा वहाँ भी दुःखी हो गया। फिर स्थान बदलकर पहाड़ की चोटी पर पहुँच गया। कुछ दिन तो शांति रही लेकिन लोग ढूंढ़ते-ढूंढ़ते वहाँ भी पहुँच गए। परमात्मा फिर परेशान हो गया उसने सोचा अब तो मैं जहाँ जाता हूँ लोग मेरे पीछे-पीछे आ जाते हैं और कुछ विचारकर व्यक्ति के अंदर ही जाकर, बैठ गया। तब से परमात्मा अंदर ही विराजमान है। आज भी व्यक्ति के अंदर वह परमात्मा विराजमान है परंतु वह उसे अब भी बाहर ही ढूंढ़ रहा है और जो चीज अंदर है वह बाहर कैसे मिलेगी। उस परमात्मा का अवलोकन निजात्मा में करें।

जैसे तिल में तेल है, और चकमक में आग।
तेरा प्रभु तुझमें बसा, जाग सके तो जाग॥

बाहर के नेत्रों से नहीं, बाहर के क्षयोपशम से नहीं निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक् चारित्र इन तीनों के माध्यम से यदि पढ़ेगा, तो **मुक्तिनिकेतं विभववरं ते**-मोक्षलक्ष्मी का जो महल है, मुक्तिश्री का जो वैभव है उसको प्राप्त कर सकेगा। वे ही व्यक्ति उस लक्ष्मी का वरण करने वाले होते हैं अथवा मुक्तिश्री का वरण करने वाले होते हैं, आत्मा का समग्र वैभव प्राप्त करने वाले होते हैं जो उस परमात्मा की वंदना करते हैं।

परमात्मा की स्तुति, वंदना, भक्ति शिवत्व को प्रदान करने में समर्थ है। परमात्मा के गुणों का कीर्तन, स्तवन आत्मा पर जमी कर्मरूपी किट्ट कालिमा को साफ करने में समर्थ है। संस्तवन करते हुए स्तोता स्तुत्य बन जाता है। स्तुति मार्ग है, स्तोता राहगीर है, स्तुत्य मंजिल है। स्तुति से स्तुत्य दशा की प्राप्ति चलने का फल है। चलना भी जरूरी है, स्तुति करना भी जरूरी है। व्यवहार भक्ति परंपरा से मोक्ष का कारण है और निश्चय भक्ति साक्षात् मोक्ष का कारण है। आचार्य महाराज ने भक्ति को बहुत सुंदर परिभाषित करते हुए कहा **''स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिः''** अपने स्वरूप का अनुसंधान खोज करना भक्ति है। सच्ची भक्ति तो वह है जहाँ भक्त अपने इष्ट-आराध्य के गुणों को ग्रहण करने की भावना भाता है, उन जैसा बनने का प्रयास करता है।

भक्ति मानसिक भावबोध की उत्कृष्ट सरागावस्था है। भगवान् की अष्टद्रव्य से पूजन, कीर्तन, स्तवन, दर्शनादि भक्ति की पर्यायें हैं। मुक्तावस्था से पूर्व भक्ति का आलंबन शनैः-शनैः आत्मा पर अनादिकाल से दृढ़लिप्त कर्म कश्मल की निर्जरा में उपकारी सिद्ध होता है। परमात्मा की भक्ति से रहित जीवन उस सीप के समान है जो मोती से रहित है, उस छिलके के समान है जिसके अंदर कुछ नहीं है। जब भक्त भगवान् की तन्मय होकर भक्ति करता है तब वह भगवान् से यही कहता है हे भगवन्! जब तक निर्वाण पद की प्राप्ति न हो तब तक मैं आपके चरणों में नतमस्तक रहूँ। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी स्तुति विद्या में प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहते हैं-

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते,
हस्तात्ञ्जलये कथा श्रुति रतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नति परं सेवेदृशी येन ते,
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृतिस्तेनैव तेजः पतेः॥

हे तेजपुंज अधिपति ! मैं आपकी श्रद्धा में डूबा रहूँ, आपका अर्चनमात्र याद रहे, शेष सभी बात मैं भूल जाऊँ। मेरे कर अंजलिबद्ध होकर आपके समक्ष अकिंचन भक्ति का नैवेद्य लिए रहें। कानों से आपकी पवित्र कथा सदैव सुनाई देती रहे और आँखें त्राटक सिद्ध होकर अनिमेषवृत्ति से आपके दर्शन का लाभ लेती रहें। हे देव ! मुझमें किसी प्रकार से व्यसन न हो, अगर हो तो आपकी स्तुति करने का, भक्ति करने का व्यसन रहे एवं यह मस्तक आपके चरणों में सदैव झुकता रहे ये मेरी सभी भावनाएँ चरितार्थ हों। मैं आपके प्रताप से तेजस्वी, सुजन व पुण्यवान् होऊँ।

महानुभाव ! प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी ही भावना भानी चाहिए। यह भावना भव का नाश करने में निमित्त बनेगी। यदि भगवान् के चरणों में अहर्निश भक्ति रही तो संसार में ज्यादा समय तक ठहर नहीं पाओगे। भगवान् के समक्ष भावना भाओ हे भगवन् ! मेरी अचल भक्ति आपके चरणों

में रहे। बाकी सब दुनिया में जो होना है होता रहे, मुझे इसकी कोई परवाह नहीं है। लाभ हो या नुकसान हो, संकट आये या जो भी होना है हो किंतु मैं आपकी भक्ति से कभी विचलित न होऊँ। बस एक ही प्रार्थना है कि मोक्ष जाने तक मेरी आपके प्रति अटल श्रद्धा भक्ति बनी रहे। यही भक्ति मुक्ति को देने वाली होती है। जो भक्ति करता है उसके हाथ में मुक्ति है। जैसे वटवृक्ष का बीज सरसों के दाने जितना होता है और बोने पर कालांतर में विशालवृक्ष बनता है उसी प्रकार छोटी सी भी की गई भगवान् की भक्ति बहुत बड़े फल या मोक्ष फल को देने वाली होती है।

भगवान् की भक्ति से, भगवान् का नाम लेते ही सारे कर्म अपने आप पिघल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। जैसे मोर पक्षी के बोलते ही सर्प अपने बिल में घुस जाता है, गरुड़ पक्षी को देखकर साँप इधर-उधर हो जाता है उसके प्राण कंठ में आ जाते हैं उसी प्रकार भगवान् के दर्शन, पूजन, भक्ति से असंख्यात कर्मों की निर्जरा एक-एक क्षण में हो जाती है। आचार्य वादिराज स्वामी कहते हैं कि जिस प्रकार बीन की ध्वनि सुनकर सर्प अपने बिलों से निकलकर आ जाते हैं, उसी प्रकार भगवान् का नाम लेने मात्र से आत्मा रूपी वामी से कर्म रूपी सर्प बाहर निकल आते हैं। धवला जी में तो यहाँ तक कहा है कि जो कर्म तपादि से नहीं कटते वे कर्म जिन बिंब के दर्शन मात्र से, उनकी भक्ति मात्र से कट जाते हैं ढीले हो जाते हैं और क्या कहें यहाँ तक कह दिया कि निकाचित कर्म भी ढीले हो जाते हैं।

महानुभाव ! एक बहुत बड़ा महल है। वह लाइट आदि से सुसज्जित है। सौ से अधिक लाइट्स उस महल में लगाई गई हों सब कनेक्शन बिल्कुल ठीक है किंतु जो मेन तार है वह हटा हुआ है तो क्या महल प्रकाशित हो पाएगा? नहीं। और यदि एक क्षण के लिए भी वह तार जोड़ दिया तो पूरा महल जगमगा जाएगा। इसी प्रकार यदि भक्ति का तार परमात्मा से जोड़ दिया जाए तो आत्मा रूपी महल पूर्ण रूप से जगमगा उठेगा। तो परमात्मा से लगातार, तार तो लगाओ किंतु कैसे? लगातार। यदि लगातार परमात्मा से भक्ति रूपी तार लगाया जाएगा तो आत्मा केवलज्ञान रूपी प्रकाश से जगमगा उठेगी। आप रोज पढ़ते हैं "मेरी तो तौं सों बनी" मेरी लगन तो आपसे लगी हुई है और ऐसी लगी है कि अब मुक्ति रूपी कन्या के साथ वरण कराकर ही रहेगी।

मिथिला का राजा पद्मरथ व्यसन से युक्त था उसकी रानी बहुत समझाती परंतु वह तो समझने को तैयार ही नहीं था। एक दिन प्रात:काल राजा शिकार के लिए वन की ओर गया किंतु संयोग की बात उस दिन कोई जानवर शिकार के लिए वन में नहीं दिखा। राजा ने सोचा कुछ भी हो किंतु बिना शिकार किए वापिस नहीं जाऊँगा। दोपहर हो गई किंतु राजा को कोई पशु नहीं दिखा। कुछ समय बाद उसे एक खरगोश दिखाई दिया। वह खरगोश दौड़ने लगा और राजा उसका पीछा करने लगा। संध्याकाल का समय था वह खरगोश कहीं छिप गया। सामने गुफा थी राजा ने सोचा हो

न हो खरगोश इसी में छिपा है। राजा घोड़े से नीचे उतरा। गुफा में घोर अंधकार था। थोड़ा अंदर बढ़ा तो हल्का-हल्का सा प्रकाश दिखाई दिया। राजा अचंभे के साथ और आगे बढ़ा कि आखिर गुफा में इस प्रकाश का क्या कारण है? वह और आगे बढ़ा तो एक प्रकाश पुंज दिखाई दिया देखा तो दिगंबर वेष धारी निर्ग्रंथ मुनिराज वहाँ विराजमान थे।

वह राजा उनको अनिमेष दृष्टि से निहारता रहा। सोच रहा था ये कौन हैं? क्या ये धरती के देवता हैं? हाथ जोड़कर वहाँ बैठ गया। ऐसा अद्‌भुत दृश्य उसने पहले कभी नहीं देखा था। एक अद्‌भुत शांति उसे वहाँ मिली। परिणाम निर्मल और विशुद्ध होने लगे। मुनिराज ध्यान से उठे और उसकी भव्यता देखकर उसको उपदेश दिया। मिथ्यात्व रूपी मैल उसकी बहती हुई अश्रुधारा से धुल गया। उसने मुनिराज से पूछा क्या आप पृथ्वी पर सबसे बड़े हैं? क्या आप जैसा महापुरुष, महासंत इस धरती पर कोई और भी है। मुनिराज ने कहा ''इस समय धर्मनायक, धर्मप्रवर्तक श्री वासुपूज्य स्वामी चंपापुर नगरी में विराजमान हैं जिनका उपदेश अनेक भव्य जीवों को संसार सागर से पार लगाने में समर्थ है। यहाँ इस समय उनसे बड़ा और कोई नहीं। यह सुन भक्ति का अविरल झरना उसके हृदय से फूट पड़ा। वह दर्शन कर वापिस लौटा। राजा में आकस्मिक परिवर्तन देख महल में सभी अचंभित थे।

राजा ने कहा कल सुबह ही मैं श्री वासुपूज्य भगवान् के दर्शन करने प्रस्थान करूँगा। रानी, मंत्री ने बहुत समझाने का प्रयास किया। मंत्रियों को डर था कि राजा जैन हो जाएगा और फिर इसी धर्म का प्रचार-प्रसार करेगा। परंतु भक्ति की सरिता में अवगाहन करने वाला वह राजा अत्यंत शांत था केवल एक ही धुन थी श्री वासुपूज्य भगवान् के दर्शन।

इसी बीच देवों के बीच सौधर्म सभा में भक्ति के विषय पर चर्चा चल रही थी। सौधर्मेन्द्र ने कहा कि इस समय पृथ्वी पर सबसे तीव्र भक्ति मिथिला के राजा पद्मरथ की है। सभा में बैठे अन्य देव यह सुनकर आश्चर्यचकित थे। दो देवों ने राजा पद्मरथ की परीक्षा लेने की ठानी। प्रात:काल जब राजा पद्मरथ निकल रहे थे तब देवों ने बहुत अपशकुन किए किंतु उसने किसी पर ध्यान नहीं दिया और 'श्री वासुपूज्य भगवान् की जय' बोलता हुआ आगे बढ़ा। देवों ने उसके रथ का छत्र, ध्वज पुन: पहिये तोड़ दिए। राजा रथ से उतरा पैदल चलने लगा। तब उन्होंने जोरों की वर्षा, आंधी, तूफान किया किंतु वह नहीं रुका और श्री वासुपूज्य भगवान् की जय बोलते हुए उनके समवशरण में पहुँचा। भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और इतना ही नहीं वह श्री वासुपूज्य भगवान् का गणधर हुआ।

महानुभाव ! यह भक्ति मुक्ति का अंकुर है। एक भक्ति होती है अभेद भक्ति। जिसमें स्वयं को और परमात्मा को अलग-अलग नहीं रखा जाता। वहाँ कोई भेद नहीं होता है। तब एकीभाव

हो जाता है। भगवान् जो तुम हो वो मैं हूँ और जो मैं हूँ वह तुम हो। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी समाधितंत्र में कहते हैं-

यः परात्मा स एवाऽहं, योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥३१॥

जो परमात्मा है वह ही मैं हूँ, जो मैं हूँ वह परमात्मा है। इसीलिए जब मैं और परमात्मा एक ही हूँ तब मेरे द्वारा मैं ही आराधने योग्य हूँ। इस प्रकार अपने स्वरूप में ही आराध्य आराधक भाव की अवस्था है पर की आराधना विकल्प रूप व सराग है, अपने आपकी या निजात्मा की उपासना निर्विकल्प रूप तथा वीतराग है। यह भक्ति मोक्ष का कारण है इसीलिए आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामी भक्ति के विषय में कह रहे हैं।

इस संसार में यह आत्मा अनंतानंत पर्याय भोग चुकी है, पा चुकी है, अब कोई पर्याय पाना बाकी नहीं। सिर्फ एक पर्याय भोगनी है जो असीम और अनंत है, जिस पर्याय को पाने के पश्चात् दूसरी पर्याय को नहीं प्राप्त करना पड़ता और वह है सिद्ध पर्याय।

तो महानुभाव ! अपने चित्त में जो उसी परमात्मा की उपासना करते हैं वे स्वयं भी परमात्मा बन जाते हैं। मोक्ष लक्ष्मी का वरण कर लेते हैं।

अब उपसंहार स्वरूप अंतिम काव्य को देखते हैं-

इति द्वात्रिंशतावृत्तैः, परमात्मानमीक्षते।
योऽन्यगत चेतस्को यात्यसौ पदमव्ययम्॥३३॥

पढ़कर इन द्वात्रिंश पद्य को, लखता जो परमात्म वन्द्य को।
वह अनन्य मन हो जाता है, मोक्ष निकेतन को पाता है॥33॥

अन्वयार्थ-(**यः**) जो (**अनन्यगतचेतस्कः**) एकाग्रमन होकर (**इति द्वात्रिंशता**) इन बत्तीस (**वृत्तैः**) पद्यों से (**परमात्मानम्**) परमात्मा का (**ईक्षते**) दर्शन करता है (**असौ**) वह (**अव्ययम्**) अविनाशी (**पदम्**) शिव पद को (**याति**) प्राप्त होता है।

यह परमात्म द्वात्रिंशतिका नामक ग्रंथ का अंतिम काव्य है। आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामी जो मित गति से संतुष्ट नहीं हैं। मित अर्थात् सीमित, मर्यादित, बंधनबद्ध या विभावयुक्त। वे मित गति नहीं अमित गति चाहते हैं। बंधन में बंधना किसी को पसंद नहीं परंतु वह उस बंधन को महसूस तो करे। संसारी प्राणी सांसारिक बंधनों में रहने का आदि हो गया है। जब बंधन को तोड़ने की इच्छा हो जाती है, बंधन से छूटने का संकल्प ले लेता है तब कोई न कोई मार्ग निकल ही आता है। जहाँ चाह, वहाँ राह।

एक बार राष्ट्रपति भ्रमण करने हेतु जेल में पहुँचा। उन्होंने वहाँ उद्‌बोधन दिया और कहा कि मुझसे जो कोई कुछ भी माँगेगा उसको मैं पूरा करूँगा। राष्ट्रपति एक-एक करके सबके पास गया किसी ने कहा मुझे शीशा-कंघा रखवा दो, किसी ने कहा मेरे अच्छे भोजन की व्यवस्था करा दो, किसी ने कहा मेरे लिए फ्रिज रखवा दो, किसी ने कहा गद्दों की व्यवस्था हो जाए तो अच्छा होगा हजारों कैदियों में केवल एक कैदी ऐसा था जिसने कहा मुझे यहाँ से मुक्ति दिला दो। राष्ट्रपति ने जिसने जो माँगा उसको वह दिया किंतु वे अचंभित थे कि यदि चाहते तो सब मुक्त हो सकते थे किंतु केवल एक ही व्यक्ति ने मुक्त होने की कामना की। यही स्थिति संसारी प्राणी की है वह संसार से छूटना ही नहीं चाहता। संसार में सुखपूर्वक रहने के लिए भौतिक वस्तुओं की वांछा तो करता है किंतु संसार को छोड़ने की प्रबल इच्छा नहीं है।

किंतु आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामी मित नहीं अमित गति चाहते हैं। चारों गतियों में से जीव जहाँ पहुँचता है वहाँ आयु पूर्ण होने पर दूसरी गति में पहुँचता है। किंतु उस एक जीव के लिए इन चारों में से कोई गति अमित नहीं है केवल एक गति अमित है, वह है पंचम गति, मोक्ष, सिद्धावस्था जो असीम है, अमित है, अनंत है। तो ऐसे आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामी ने 32 काव्य लिखे (संभवतः इसीलिए 32 काव्य लिखे क्योंकि 3 और 2 पाँच। पंचम गति को प्राप्त करने हेतु या पाँचवें ज्ञान, केवलज्ञान की प्राप्ति हेतु) और जानते हैं **''अंकानां वामतो गति''**। 2 यानि 'आ' या 'अ' वर्ण 3 यानि इ वर्ण। अति के बिना इति नहीं होती। जो अवर्ण को नहीं जानता वह इ 'वर्ण' को प्राप्त नहीं कर सकता। अ-अनादि, अनिधन आत्मा जिसका कभी अभाव नहीं हुआ, न ही हो सकता है उसका बोधक है। 'अ' अ यानि अव्यय। हिंदी में और, तथा आदि, इंगलिश में but, so etc., प्राकृत में सया, य आदि, संस्कृत में च, यतः, ततः आदि अव्यय होते हैं ये कभी भी, कहीं भी, किसी भी काल में विभक्ति में नहीं बदलते। व्यय से रहित हैं, नष्ट नहीं होते। उसी प्रकार आत्मा भी अव्यय है। इसका कभी नाश नहीं होता और सिद्धावस्था प्राप्त करने के पश्चात् इसके प्रदेश सिकुड़ेंगे या फैलेंगे नहीं। आत्मा अनुपमेय, अनुमान से सिद्ध, पर्यायों से अनुबद्ध व अक्षर ज्ञाता है अर्थात् जिसका कभी क्षरण नहीं हुआ वह स्वभाव से नित्य, निरंजन पूर्ण विकासी है। उसको जानने वाला ही अरहंत, भगवंत, तीर्थंकर बन सकता है, अपने चित्त में विद्यमान गुण सागर को प्राप्त कर सकता है।

अथवा अति जिसने 'अ' (आत्मा) को जान लिया है वही तिरने में समर्थ है। अति होती है तो इति होती है। अवर्ण के बाद इ वर्ण होता है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' 'इ' शक्ति के ऊर्ध्वारोहण का प्रतीक है, बहुत से कार्यों को करने में समर्थ है, विश्व का नेत्र है। कहा भी है-

इकारं चिन्तयेन्मंत्री, जपा कुसुमसन्निभम्।
विश्वचक्षुस्तथा सर्वं समर्थं बहुकर्मसु॥

''इति द्वात्रिंशतिका वृत्यै'' इति यानि इस प्रकार आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामी ने 32 काव्य कहे। तीन रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का प्रतीक है। इस रत्नत्रय को दोनों प्रकार से, निश्चय से और व्यवहार से प्राप्त करो। सिर्फ निश्चय से भी काम नहीं चलता और सिर्फ व्यवहार से भी काम नहीं चलता। दोनों दृष्टियों का होना आवश्यक है। अथवा जिनोपदेश बत्तीस प्रकार के होते हैं। तब आचार्य भगवन् ने बत्तीस काव्य कहे कि मैं इन बत्तीस काव्यों में बत्तीस प्रकार के जिनोपदेश का सार निचोड़ रहा हूँ।

जिस प्रकार तिल का सार तेल है। जब तक तिल में तेल है तब तक वह तिल है, तेल निकल जाने के बाद वह खल है। तेल यानि स्निग्धता। ऐसे ही जिस व्यक्ति के जीवन में से प्रेम, वात्सल्य, परोपकार की भावना, दया, समन्वयता व सौहार्दता निकल जाती है वह व्यक्ति भी उस खल की तरह होता है जो किसी व्यक्ति के काम का नहीं रहता है। खल यानि दुष्ट भी होता है। जब वात्सल्यादि स्निग्धता उसके अंदर से चली जाती है तब शिष्ट व सज्जन नहीं रह पाता, दुष्ट दुर्जन हो जाता है। व्यक्ति का सार उसका शिष्ट-मिष्ट व इष्ट व्यवहार आचरण है।

तो बता रहे थे कि तिल का सार तेल है। तेल का सार क्या है? क्या तेल का भी कोई सार होता है। हाँ होता है, तेल में से भी अर्क निकाला जाता है। यदि उस अर्क को सूँघ भी लिया जाए तो आँखों में से पानी बहने लगता है। इसी प्रकार यह सामायिक पाठ बत्तीस प्रकार के जिनोपदेशों का अर्क है। सात तत्त्व, नव पदार्थ, षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय।

और यह अर्क कैसा है? इसका आकार कैसा है? यह त्रिभुजाकार है, चतुर्भुज है, वर्ग है, आयत है, षट्भुजाकार है कैसा है ? नहीं यह तो अभुज है, अबुझ है। आत्मा का आनंद इसके माध्यम से कितना भी लेते जाओ कभी बुझेगा नहीं, कभी समाप्त नहीं होगा। यह अभुज है। यानि जिसकी कोई भुजा नहीं, कोई आदि नहीं, कोई अंत नहीं। यह वृत्ताकार है, इसी प्रकार भगवान् के उपदेश का कोई आदि नहीं है, कोई अंत नहीं है। कह नहीं सकते सबसे पहले दिव्य ध्वनि किन तीर्थंकर की खिरी; कुछ नहीं कह सकते, सबसे बाद में किसकी होगी यह तो अनादि-अनंत है। जिनेंद्र प्रभु को नाथ भी कहते हैं। न+अथ जिनका कोई प्रारंभ नहीं। तो महानुभाव ! यह सामायिक पाठ इसके माध्यम से परमात्मा को देखा जा सकता है। यदि परमात्मा पर धूल जम गई हो तो 32 युगल चँवर उठाकर ढोर लो, धूल हट जाएगी। इन 32 काव्यों के द्वारा जो आचार्य महाराज ने दिए हैं आत्मा को, परमात्मा को देखा जा सकता है। और आत्मा का परमात्मा का जिसने अनुभव किया हो, अवलोकन किया हो वही दूसरों को वह मार्ग बता सकता है।

एक व्यक्ति बहुत ज्यादा परेशान था। उसकी परेशानी यह थी कि वह जो कुछ भी देखता था उसको सब दो-दो डबल दिखाई देता था। एक पुस्तक रखी हो तो दो दिखाई देती थीं। उसने

कुछ समय तो ऐसे ही काम चला लिया जितना दिखता था उसका आधा कर देता था परंतु अब वह इससे दु:खी हो गया। उसने अपनी यह बात अपने एक मित्र को बताई। मित्र ने कहा-तू चिंता मत कर। किसी अच्छे डॉक्टर से अपना इलाज करवा ले क्योंकि यह लक्षण ठीक नहीं। उस नेत्ररोगी ने डॉक्टर से अपॉइन्टमेन्ट लिया और निश्चित समय पर पहुँच गया। वहाँ डॉक्टर साहब ने पूछा-''बताइए, आपको क्या परेशानी है।'' वह बोला डॉक्टर साहब मैं जो कुछ भी देखता हूँ मुझे सब दो दिखाई देते हैं, सब कुछ डबल दिखाई देता है। डॉक्टर साहब यह सुनकर बोले-''क्या तुम चारों को एक ही परेशानी है?'' बात ये थी कि उस डॉक्टर को एक के चार दिखते थे। वह व्यक्ति समझ गया कि मुझको तो एक के सिर्फ दो दिखते हैं और इनको तो चार नजर आते हैं और लौटकर अपने घर आ गया।

महानुभाव ! जो व्यक्ति स्वयं जिस रोग से पीड़ित है, जो औषधि वो स्वयं नहीं प्राप्त कर सका वह दूसरों को कैसे वह औषधि दे सकता है? तो आचार्य भगवन् यहाँ कह रहे हैं कि जो इन बत्तीस काव्यों को पढ़ते हुए अपनी आत्मा में परमात्मा को देखता है वह मोक्ष-महल में प्रवेश पाता है अर्थात् सिद्धत्व की प्राप्ति कर लेता है। आप सब भी इसके माध्यम से समतामय परिणाम व परिशुद्ध भावनाओं के साथ मोक्ष मार्ग पर गमन करें और अंत में मोक्ष निकेतन प्राप्त करें।

''सर्वेषां मंगलं भवतु''

सामायिक पाठ

(आ. श्री अमितगति स्वामी कृत)

(पद्यानुवाद)

-मुनि प्रज्ञानंद

मंगलाचरण

अरि रज रहस से भिन्न उन सब सिद्ध का सुमिरन करूँ,
चउ घातिया के हंत श्री अरिहंत को उर में धरूँ।
सब सूरि पाठक साधुगण के पद युगल वंदन करूँ,
वसुनंदी गुरु को नमन कर, सुग्रंथ अनुवादन करूँ॥

मित्र भाव हो सब जीवों में, दुःखी जनों पर दया प्रभो,
गुणी जनो को लखकर हर्षित, रहूँ सदा जिनराज विभो।
धर्म विरोधी जन के प्रति भी, सम भावों को नित्य धरूँ,
इन चारों भावों से निज की, मुक्ति रमा का वरण करूँ॥१॥

यथा म्यान तलवार अलग है, रत्नपुंज अरु रत्नाकर,
ज्यों मुक्ता अरु सीप विलग है, यथा स्वर्ण से भी पाथर।
हे जिन ! मम आतम भी वैसे, त्रिविध कर्म से पृथक प्रभो,
कृपादृष्टि तेरी मैं पाकर, बनूँ स्वयं परमात्म विभो॥२॥

आरत हो न दुख में जिनवर ! अहंकार न हो सुख में,
बैरीजन से बैर न हो अरु, राग न हो बंधुजन में।
इष्ट वियोग अनिष्ट योग में, स्वर्ण महल में या वन में,
निराकरण हो दुर्बुद्धि का, समता हो परिणामों में॥३॥

हे मुनीश ! तव अघ तम-नाशक, दीप युगल सम चरण कमल,
अंकित हों मम उर सरोज पर, जैसे कीलित बिम्ब प्रबल।
स्थित अरु उत्कीर्ण हुए सम, तव पद हों आसीन विभो,
तव पादारविन्द में जिनवर, मम चित हो तल्लीन प्रभो॥४॥

एकेन्द्रिय आदिक प्राणी जो, भ्रमते हैं पृथ्वीतल पर,
टूट गए हों, दुखित हुए हों, मरण हुआ हो जल-मल कर।

इन कृत्यों से पाप कर्म जो, अर्जित है मैंने कीना,
दुष्कृत सारे शीघ्र नष्ट हों, हे जिन अरज ये सुन लीना॥५॥

अक्ष कषायों के वश होकर, हुई प्रभु मम दुर्बुद्धि,
शिवपथ के प्रतिकूल आचरण, किया बना मैं जड़बुद्धि।
सच्चरित्र का लोप हुआ हो, विषयों में होकर के लीन,
झूठ सभी दुष्कृत्य बने प्रभु, शीघ्र करों पापों को छीन॥६॥

हे जिनेन्द्र ! जो दुख के निर्मित, पाप किए मन-वच-तन से,
दुष्टाचरण भी मैंने कीना, अरु कषाय के मिश्रण से।
जैसे वैद्यवर विष को हरता, मंत्रों के आलम्बन से,
वैसे अघ को नष्ट करूँ मैं, निज निंदा आलोचन से॥७॥

हे जिनेन्द्र ! यदि लोप किया हो, सच्चरित्र सद्भावों का,
या प्रमादवश कोई अतिक्रम लगा व्यतिक्रम भावों का।
अतिचार अरु अनाचरण भी ज्ञाताज्ञात में लगे कभी,
व्रत शुद्धी के हेतु जिनेश्वर प्रतिक्रमण मैं करूँ तभी॥८॥

मन की शुद्धी का घट जाना, अतिक्रम वह कहलाता है,
व्यतिक्रम वह कहलाता जिसमें, व्रत का लंघन होता है।
विषय भोग में हुई प्रवृत्ति, अतिचार उसको जानो,
अत्यासक्ति हो विषयों में, अनाचार वह पहचानो॥९॥

अक्षर पद मात्रा से दूषित, जो कुछ मैंने कह डाला,
प्रमाद अरु अज्ञान भाव की, मैंने पीकर के हाला।
हे माता जिनवाणी मुझको, क्षमा पूर्णतः कर देना,
मेरे अंतर में हे देवी, पूर्ण बोध को भर देना॥१०॥

वंदन मेरा स्वीकारो तुम, हे माँ सरस्वती देवी!,
चिंतामणि के सदृश हो तुम, दो मुझको केवल बोधि।
मरण समाधी चित्त विमलता, स्वात्म लब्धि का दो वरदान,
शिव सुख की सिद्धि हो मुझको, हे देवी कर दो कल्याण॥११॥

गणधर गण भी करें स्मरण, जिनका निर्मल भावों से,
स्तुति के जो योग्य हुए हैं, नरेन्द्रादि शत इन्द्रों से।

वेद पुराणरु शास्त्र सभी मिल, जिनकी महिमा नित गावें,
देवों के भी देव वो मेरे, उर कमलासन पर आवें॥१२॥

नंत ज्ञान दर्शन सुख वीरज, अरु अनंत गुण धारी हैं,
जग जंजाल विकल्प रहित जो, शिव सुख के अधिकारी हैं।
है समाधि के गम्य अरु, परमातम जिनका नाम कहा,
मम उर आसन पर आ तिष्ठें, देवों के भी देव महा॥१३॥

नष्ट किया है जिसने जग के, दुःख रूपी जंजाल को,
देख लिया है सर्व जगत की, इस अन्तर की चाल को।
अन्तःकरण में तिष्ठित हैं जो, मुनियों द्वारा गम्य हुए,
मम अन्तस्तल में वो राजे, जो देवों के देव हुए॥१४॥

शिव पथ के प्रतिपादक हैं जो, जन्म-मृत्यु से हुए विमुक्त,
अशरीरी है शुद्ध सिद्ध जो, अकलंकी है परम विशुद्ध।
नंत ज्ञान-दर्शन से जिसने, किया विश्व का अवलोकन,
ऐसे श्रीजिनदेव विराजें, मेरे उर के सिंहासन॥१५॥

तन समूह को कर अधीन जो राग-द्वेष से भिन्न हुए,
निज को निज में लीन किया तो कर्म शत्रु सब खिन्न हुए।
अक्षातीत ज्ञान के धारी, पाप पंक से पूर्ण रहित,
हृदयासन पर शीघ्र विराजो, हे जिनेन्द्र तुम परम पवित्र॥१६॥

सर्व व्यापि जो कहलाते हैं, सकल विश्व हितकारी हैं,
कर्म बंध से रहित सदा जो, सिद्ध शुद्ध अविकारी हैं।
ध्यान योग्य हैं, ध्यान अग्नि से, नष्ट किए हैं सर्व कुभाव,
हे जगदीश्वर मम उर तिष्ठे, त्रिभुवन के परमेश्वर आप॥१७॥

जैसे अंधकार सूरज को, किंचित भी न छू सकता,
वैसे तव चेतन प्रदेश को, कर्म पंक न छू सकता।
जो है निरंजन वस्तु अपेक्षा, एकानेक है नित्य सदा,
उसी देव की शरणागत हूँ जो देवाधिदेव तदा॥१८॥

विश्व प्रकाशित करने वाला, फीका पड़ता सूर्य प्रखर,
लज्जा युत हो सम्मुख छिपता, जहाँ विराजे परमेश्वर।

आत्म भवन में तिष्ठित हैं जो, ज्ञान दीप से आलोकित,
उसी आप्त की शरण प्राप्त हूँ, सर्वदर्शी जो करते हित॥१९॥

सर्व जगत ही एक समय में, भिन्न-भिन्न है दिख जाता,
जब होता है अवलोकन जो, सर्वदर्शी तव कहलाता।
शांत शुद्ध अरु शिव स्वरूप जो, आदि अंत से हुए रहित,
मैं जाता हूँ उसी शरण में, जो परमेश्वर ग्रंथ कथित॥२०॥

अनल लपट से नष्ट है होती, जैसे श्रृंखला वृक्षों की,
वैसे नष्ट किए हैं जिसने, काम मूर्च्छा विषयों की।
भय विषाद निद्रा अरु चिंता, दोष न जिसमें व्याप्त हुए,
शरण पड़ा हूँ उन जिनवर की, निष्कलंक जो आप्त हुए॥२१॥

संस्तर पृथ्वी, तृण समूह अरु फलक आदि का कहा नहीं,
काष्टासन अरु घास का आसन, "सु" मरण की ये विधा नहीं।
अक्ष कषाय अरी रहित जो, निर्मल आत्मा पूज्य महा,
सुधी जनों को परमेश्वर ने, उस आसन को श्रेष्ठ कहा॥२२॥

विविध भांति हों संस्तर जग के अरु संघों का सम्मेलन,
लोकख्याति की इच्छा, हे भवि ! नहीं समाधी के साधन।
चाह यदि है मुक्ति वधु की, आतम में रति जोड दे,
सर्वाडम्बर बाह्य जगत के, इसीलिए तू छोड़ दे॥२३॥

कोइ न मेरा बाह्य पुद्गल, हुआ कभी न हो सकता,
और न बाह्य वस्तु का मैं भी, त्रिभुवन में हो सकता।
इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके, बाह्य वस्तु को झट छोड़ो,
निज आतम का आश्रय लेकर, शिवसुख से नाता जोड़ो॥२४॥

निज आतम को निज आतम में, स्थिर करके तो देखो,
है विशुद्ध तू नंत ज्ञान युत, अरु दर्शनमय ये सोचो।
इस प्रकार एकाग्रचित्त जो, निश्चल ध्यान लगाते हैं,
चाहें कहीं भी रहे वे साधु, श्रेष्ठ समाधी पाते हैं॥२५॥

मम आतम है ज्ञान स्वरूपी, अविनश्वर है इस जग में,
है अखण्ड अरु सदा सर्वदा, निर्मल शुद्ध मोक्षमग में।

बाह्य सभी जो विषय वस्तुऐं, मेरी हैं न कभी हुईं,
पुण्य कर्म से प्राप्त हुई अरु पाप समय में नष्ट हुई॥२६॥

निश्चय से जो एक्य नहीं है, मम आतम नश्वर तन से,
तो फिर सुत तिय मित्र जनों से, एक पना होगा कैसे।
यदि मानव के सर्व अंग से, चर्म भिन्न हो जाएगा,
रोम कूप का ये समूह फिर, तन में ना रह पाएगा॥२७॥

वन रूपी संसार भ्रमण का विशेष कारण एक रहा,
बाह्य वस्तु के संयोगों से, पाए मैंने दुःख महा।
मुक्ति की है चाह यदि तो, प्राणीगण सुन लीजिए,
मन वाणी अरु काया से फिर, पर से मोह तज दीजिए॥२८॥

यह संसार महा अटवी है, जिसमें मेरा पतन हुआ,
राग विकल्पों का जाला ही, भव संतति का हेतु कहा।
इन विकल्प जालों को तजकर, कर शुद्धातम का चिंतन,
परमातम में लीन रहो तो पाओगे निज आतम धन॥२९।

पूर्व समय में मम आतम ने, यथा शुभाशुभ कृत्य किए,
उन कर्मों के फल स्वरूप ही, सुख-दुख मैंने प्राप्त किए।
यदि दूसरे के कर्मों का, फल निज को ही मिल जाता,
तो निज द्वारा कृत्य कर्म ही, विफल सदा वो कहलाता॥३०॥

स्वयं किए जो कर्म शुभाशुभ, निज को ही वह फल देते,
यही विचार कर निज में चेतन, अन्य कोई न दे सकते।
निज को पर का पर को निज का, कर्ता न स्वीकार करो,
ऐसी खोटी बुद्धि तजकर, निज मन को एकाग्र करो॥३१॥

क्षायिक ज्ञान स्वरूपी है जो, अमितगति से वंदित है,
कर्म पंक से पृथक हुआ है, नंत गुणों से मंडित है।
ऐसे निर्मल परमातम का, नित जो चिन्तन करते हैं,
श्रेष्ठ लक्ष्मी के वो निकेतन, शिवपुर में पग धरते हैं॥३२॥

चौपाई छंद

जो पढ़ता द्वात्रिंशत पद को, स्थिर करके अपने चित को।
वह परमातम को लखता है, अविनाशी शिवपद पाता है॥३३॥

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108

वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा

रचित व संपादित साहित्य

मौलिक कृतियाँ

प्राकृत साहित्य

1. प्राकृत वाणी भाग-1, 2, 3
2. अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)
3. अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
4. अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)
5. जिणवर-थोत्तं (जिनवर स्तोत्र)
6. जदि-किदि-कम्मं (यति कृतिकर्म)
7. णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)
8. णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)
9. तच्चसारो (तत्त्व सार)
10. धम्म-सुत्तं (धर्म सूत्र)
11. रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)
12. सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)
13. अप्पणिब्भर भारदो (आत्मनिर्भर भारत)
14. विज्जा-वसु-सावयायारो (विद्या वसु श्रावकाचार)
15. अप्प-विहवो (आत्म वैभव)
16. अट्ठंग जोगो (अष्टांग योग)
17. णमोयार महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)
18. मूल-वण्णो (मूल वर्ण)
19. मंगल-सुत्तं (मंगल सूत्र)
20. विस्स-धम्मो (विश्व धर्म)
21. विस्स-पुज्जो-दियंबरो (विश्व पूज्य दिगम्बर)
22. समवसरण सोहा (समवशरण शोभा)
23. वयण-पमाणत्तं (वचन प्रमाणत्व)
24. अप्पसत्ती (आत्म शक्ति)
25. कला-विण्णाणं (कला विज्ञान)
26. को विवेगी (विवेकी कौन)
27. पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)
28. तित्थयर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)
29. रयणकंडो (सूक्ति कोश)
30. धम्म-सुत्ति-संगहो (धर्म सूक्ति संग्रह)
31. कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)
32. खवगराय सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)
33. सिरि सीयलणाह चरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)
34. अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)
35. समणायारो (श्रमणाचार)

भावार्थ

1. अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
2. णिग्गंथ-थुदि (निर्ग्रंथ स्तुति)
3. तच्च-सारो (तत्त्वसार)
4. रट्ठसंति-महाजण्णो (राष्ट्रशांति महायज्ञ)
5. णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)
6. अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)

टीका ग्रंथ

1. प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)
2. वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3. नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)

इंग्लिश साहित्य

Inspirational Tales Part- 1 & 2

वाचना साहित्य

1. मुक्ति का वाग्दान (इष्टोपदेश)
2. बोधि वृक्ष (प्रश्नोत्तर रत्नमालिका)
3. शिवपथ का रथ (सामायिक पाठ)
4. स्वात्मोपलब्धि (समाधि तंत्र)

प्रवचन साहित्य

1. आईना मेरे देश का
2. उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3. उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दु:खदानी)
4. उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)
5. उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)
6. उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7. उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)
8. उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9. उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)
10. उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दु:ख ही मानो)
11. उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)
12. खुशी के आँसू
13. खोज क्यों रोज-रोज
14. गुरुत्तं भाग 1-16
15. चूको मत
16. जय बजरंगबली
17. जीवन का सहारा
18. ठहरो! ऐसे चलो
19. तैयारी जीत की
20. दशामृत
21. धर्म की महिमा
22. ना मिटना बुरा है न पिटना
23. नारी का धवल पक्ष
24. शायद यही सच है
25. श्रुत निर्झरी
26. सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा
27. सीप का मोती (महावीर जयंती)
28. स्वाती की बूँद

हिंदी गद्य रचना

1. अन्तर्यात्रा
2. अच्छी बातें
3. आज का निर्णय
4. आ जाओ प्रकृति की गोद में
5. आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान
6. आहारदान
7. एक हजार आठ
8. कलम पट्टी बुद्धिका
9. गागर में सागर
10. गुरु कृपा
11. गुरुवर तेरा साथ
12. जिन सिद्धांत महोदधि
13. डॉक्टरों से मुक्ति
14. दान के अचिन्त्य प्रभाव
15. धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)
16. धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17. निज अवलोकन
18. वसु विचार
19. वसुनन्दी उवाच
20. मीठे प्रवचन (भाग 1-6)
21. रोहिणी व्रत कथा
22. स्वप्न विचार
23. सद्गुरु की सीख
24. सफलता के सूत्र
25. सर्वोदयी नैतिक धर्म
26. संस्कारादित्य
27. हमारे आदर्श

हिंदी काव्य रचना

1. अक्षरातीत
2. कल्याणी
3. चैन की जिंदगी
4. ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5. मुक्ति दूत के मुक्तक
6. हाइकू
7. हीरों का खजाना
8. संस्कार वाटिका

विधान रचना

1. कल्याण मंदिर विधान
2. कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3. चौसठऋद्धि विधान
4. णमोकार महार्चना
5. दु:खों से मुक्ति (बृहद् सहस्रनाम महार्चना)
6. यागमंडल विधान
7. समवशरण महार्चना
8. श्री नंदीश्वर विधान
9. श्री सम्मेदशिखर विधान
10. श्री अजितनाथ विधान
11. श्री संभवनाथ विधान
12. श्री पद्मप्रभ विधान
13. श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)
14. श्री चंद्रप्रभ विधान
15. श्री पुष्पदंत विधान
16. श्री शांतिनाथ विधान
17. श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान
18. श्री नेमिनाथ विधान
19. श्री महावीर विधान
20. श्री जम्बूस्वामी विधान
21. श्री भक्तामर विधान
22. श्री सर्वतोभद्र महार्चना

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य

1. आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)
2. आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य जी)
3. आध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)
4. कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5. कर्म प्रकृति (सिद्धांत चक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)
6. गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7. चार श्रावकाचार संग्रह
8. जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)
9. जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)
10. जिन सहस्रनाम स्त्रोत
11. तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)
12. तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
13. तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)
14. तत्त्वज्ञान तरंगिणी (श्री मद्भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15. तच्च वियारो सारो (आ. श्री वसुनंदी जी)
16. तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17. धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)
18. धम्म रसायण (आ. श्री पद्मनंदी स्वामी जी)
19. ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)
20. नीतिसार समुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदी स्वामी जी)
21. पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)
22. प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य जी)
23 पंचरत्न
24. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्र स्वामी जी)
25. मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)
26. भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी जी स्वामी)
27. भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)
28. मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्ति स्वामी जी)
29. योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबालचंद्र जी)
30. योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री बालचंद्र जी)
31. रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)
32. वसुऋद्धि
    - रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)
    - पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)
    - लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)
    - अर्हत प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)
    - स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
    - इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
    - वैराग्यमणि माला (आ. श्री विशाल कीर्ति जी)
    - ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33. सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगति स्वामी जी)
34. सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35. समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
36. समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
37. सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)
38. विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय जी)

प्रथमानुयोग साहित्य

1. अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)
2. आराधना कथा कोष (ब्र. श्री नेमीदत्त जी) (भाग 1-2-3)
3. करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)
4. कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5. गौतम स्वामी चारित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)
6. चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)
7. चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)
8. चेलना चारित्र
9. चंद्रप्रभ चरित्र
10. चौबीसी पुराण
11. जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
12. त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13. देशभूषण कुलभूषण चरित्र
14. धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15. धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
16. नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17. नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)
18. प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19. पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)
20. पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21. पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)
22. पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23. भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)
24. भद्रबाहु चरित्र
25. मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
26. महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27. महापुराण (भाग 1-2)
28. महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29. मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)
30. यशोधर चरित्र
31. रामचरित्र (भाग 1-2) (आ. श्री सोमदेव स्वामी)
32. रोहिणी व्रत कथा
33. व्रत कथा संग्रह
34. वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35. विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)
36. वीर वर्धमान चरित्र
37. श्रेणिक चरित्र
38. श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39. श्री जम्बूस्वामी जी चरित्र (श्री वीर कवि)
40. शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41. सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)
42. सम्यक्त्व कौमुदी
43. सती मनोरमा
44. सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45. सुरसुंदरी चरित्र
46. सुलोचना चरित्र
47. सुकुमाल चरित्र
48. सुशीला उपन्यास
49. सुदर्शन चरित्र (पं. गोपालदास बैरया)
50. सुभौम चरित्र
51. हनुमान चरित्र
52. क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित हिंदी साहित्य

1. अरिष्ट निवारक त्रय विधान
   - नवग्रह विधान
   - वास्तु निवारण
   - मृत्युंजय (पं. आशाधर जी कृत)
2. श्री जिनसहस्त्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान
3. श्री जिनसहस्त्रानाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक
4. शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान
   - भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल))
   - शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी)
   - सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)
5. कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)
6. तत्त्वोपदेश (छहढ़ाला) (पुं. प्रवर दौलतराम जी)
7. दिव्य लक्ष्य (संकलन-हिंदी पाठ, स्तुति आदि)
8. धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
9. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
10. भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11. विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)
12. सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13. संसार का अंत
14. स्वास्थ्य बोधामृत

गुरु पद विनयांजली साहित्य

1. आचार्य श्री विद्यानंद जी की यम सल्लेखना (मुनि प्रज्ञानंद)
2. अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
3. पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)
4. वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
5. दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्वनंदनी, वर्चस्वनंदनी)
6. स्मृति पटल से भाग 1-2 (आ. श्री वर्धस्वनंदनी)
7. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
8. गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)
9. परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
10. स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)
11. स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
12. हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)
13. वसु सुबंध (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद्र जी जैन)
14. समझाया रविन्द न माना (सचिन जैन 'निकंज')